डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में सामाजिक परिशीलन

Dr. Radhavallabh Tripathi Ji Ke Natkon Men Samajik Parishilan

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की

पीएच.डी. संस्कृत उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

कला-संकाय

शोधार्थिनी

वन्दना प्रजापति

शोध पर्यवेक्षक

डा. (श्रीमती) अलका बागला

सह-आचार्य

संस्कृत-विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़ (राज.)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

2021

प्रमाण पत्र

मुझे प्रमाणित करते हुए प्रसन्नता हो रही है, कि शोध प्रबन्ध "डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में सामाजिक परिशीलन" शोधार्थिनी "वन्दना प्रजापति" ने कोटा विश्वविद्यालय, कोटा के कला संकाय में पीएच.डी. (संस्कृत) के नियमानुसार निम्नलिखित आवश्यकताओं के साथ मेरे पर्यवेक्षण में पूर्ण किया है।

1. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार कोर्स वर्क पूर्ण किया है।
2. शोधार्थी ने 200 दिन के आवासीय आवश्यकता नियम को पूरा किया है।
3. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार समय समय पर अपने कार्य का प्रगति प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है।
4. शोधार्थी ने विभाग व संस्था प्रधान के समक्ष अपना शोधकार्य प्रस्तुत किया है।
5. शोधार्थी द्वारा यू.जी.सी से अनुमोदित शोध-पत्रिका में शोध पत्र का प्रकाशन किया गया है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को कोटा विश्वविद्यालय, कोटा को पीएच.डी. उपाधि प्रदत्त किये जाने हेतु मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की अनुशंसा करती हूँ।

दिनांक: शोध पर्यवेक्षक

स्थान: झालावाड़ डा. (श्रीमती) अलका बागला

ANTI-PLAGIARISM CERTIFICATE

It is certified that Ph.D. thesis titled "डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में सामाजिक परिशीलन" by **Vandana Prajapati (RS/459/13)** has been examined by us with the following anti-plagiarism tools. We undertake the follows:

a. Thesis has significant new work/Knowledge as compared already published or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim for previous work unless it is placed under quotation marks and duly referenced.
b. The work presented is original and own work of the author (i.e. there is no plagiarism). No ideas, processes, results or words of other have been presented as author's own work.
c. There is no fabrication of data or result which have been compiled and analyzed.
d. There is no falsification by manipulation research materials, equipment or processes, or changing or omitting data or result such that the research is not accurately represented in the research record.
e. The thesis has been checked using **'Urkund'** software and found within limits as per HEC plagiarism policy and instructions issued from time to time.

(Vandana Prajapati)
Research Scholar
Place : Jhalawar
Date :

(Dr. Alka Bagala)
Research Supervisor
Place : Jhalawar
Date:

Curiginal

Document Information

Analyzed document	MANGAL FONT-PH.D.-SANSKRIT-VANDANA PRAJAPATI-2021.pdf (D111063918)
Submitted	8/7/2021 3:25:00 PM
Submitted by	DR ALKA BAGLA
Submitter email	alkabagla1970@gmail.com
Similarity	1%
Analysis address	alkabagla1970.uok@analysis.urkund.com

Sources included in the report

SA	**Geeta HINDI.pdf** Document Geeta HINDI.pdf (D110853101)	11
W	URL: http://du.ac.in/uploads/Revi_syll_19082019/22082019_B.A.%20%28Hons.%29%20Hindi.pdf Fetched: 8/6/2021 8:13:08 AM	3
SA	**Ph.D THESISI.pdf** Document Ph.D THESISI.pdf (D110941244)	1
W	URL: http://epgp.inflibnet.ac.in/epgpdata/uploads/epgp_content/S000018HI/P001710/M020675/ET/1498802908HND_P8_M34_AacharyaRamchandraShuklaKaKavyashastriyaChintan.pdf Fetched: 7/1/2021 1:35:34 AM	1
SA	**Jotsana Gome History.docx** Document Jotsana Gome History.docx (D108037560)	2
W	URL: http://www.nou.ac.in/Online%20Resourses/17-8/Pallavi3.pdf Fetched: 6/14/2021 8:31:56 AM	1
SA	**SutapaThesis Mangal Pdf.pdf** Document SutapaThesis Mangal Pdf.pdf (D110379360)	2
W	URL: http://assets.vmou.ac.in/MAPST03.pdf Fetched: 5/15/2021 10:45:12 AM	2
SA	**Asharam Sahu - Naresh Mehta ke Upanyason mein Varnit Loksanskritik Paridrishya - Ek Vivechnatmak Adhyayan.pdf** Document Asharam Sahu - Naresh Mehta ke Upanyason mein Varnit Loksanskritik Paridrishya - Ek Vivechnatmak Adhyayan.pdf (D110156031)	11
W	URL: https://www.msubaroda.ac.in/asset/storage/files/staff5e2ff088cbc10Biodata_Anita%20Shukla-merged%20(1).pdf Fetched: 7/1/2021 6:39:35 AM	2
W	URL: http://oldgrt.lbp.world/UploadedData/3721.pdf Fetched: 7/1/2021 6:39:38 AM	1

शोध सार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में सामाजिक परिशीलन" को निम्नलिखित अध्यायों में विभाजित किया है। जिसका सार इस प्रकार है-

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में सामाजिक परिशीलन" को निम्न अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय- कविवर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व' अध्याय में कविवर के जीवनवृत्त व कवित्व का संक्षिप्त विवेचन जैसे- जन्म, पारिवारिक व छात्र जीवन, प्राप्त शैक्षणिक उपलब्धियाँ, विभिन्न पद एवं पदाधिकार, विशेष यात्राएँ, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ, विभिन्न पद एवं पदाधिकार, विशेष यात्राएँ, सांस्कृतिक उपलब्धियाँ, अकादमिक उपलब्धियाँ, पुरुस्कार परिचय देते हुए अनेक संस्थाओं से उनके अकादमिक सम्बन्धों तथा उनकी विभिन्न कृतियों का अति संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय ''संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास" इस अध्याय में काव्य के भेदों का निरूपण करते हुए, काव्य भेदों के अति संक्षिप्त परिचय के साथ, संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति विषयक विभिन्न वाद, प्राचीन व आधुनिक नाटकारों व उनके नाटकों का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय ''सामाजिक परिदृश्य का स्वरूप एवं अर्थ" की भूमिका में समाज की अवधारणा व विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई समाज की परिभाषाओं के विवेचन के साथ समाज के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है एवं डा. राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों में निहित समाज की संरचना का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए, उनके नाटकों में प्राप्त समाज के स्वरूप की समीक्षा की गई है।

चतुर्थ अध्याय ''कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में पारिवारिक संरचना'' के अन्वेक्षण क्रम में सर्वप्रथम परिवार के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। तत्पश्चात् पुनः आचार्य राधावल्लभ जी के नाटकों में परिवार के स्वरूप का वर्णन

करते हुए पारिवारिक संबन्धों के सूक्ष्म विवेचन के साथ कविवर के नाट्य पात्रों के पारिवारिक सम्बन्धों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

पंचम अध्याय ''कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक परम्पराएँ'' अध्याय के अन्तर्गत हमारे समाज की विभिन्न परम्पराऐं जैसे संस्कार, रीति-रिवाज, वर्णाश्रम व्यवस्था, विवाह, पुरूषार्थ चतुष्ट्च, धर्म तथा ईश्वरोपासना, पर्यावरण-प्रेम आदि का अनुसंधान कविवर के नाटकों में किया गया है।

षष्ट अध्याय "कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक कुरीतियों" अध्याय में हमारे समाज में व्याप्त कुरीतियाँ पर प्रकार डालते हुए दहेज, शोषण, भ्रष्टाचार, दलित समस्याऐं, राजतांत्रिक व्यवस्थाऐं जैसी विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का अन्वेक्षण आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों को केन्द्र बनाकर किया गया है।

सप्तम अध्याय "कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में स्त्री विमर्श" अध्याय में स्त्री विमर्श को स्पष्ट करते हुए डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के स्त्री विषयक चिन्तन नारी शिक्षा, नारी स्वातंत्र्य, नारी सशक्तिकरण की गवेषणा उनके नाट्य साहित्य के अन्तर्गत की गई है। जिसमें वर्तमान परिप्रेक्ष्य नारी चिन्तन का वर्णन है।

अष्टम अध्याय ''नाटकों की समसामयिकता'' अध्याय में डा. राधावल्लभकृत नाटकों में निहित समाज के स्वरूप की वर्तमान परिप्रेक्ष्य से साम्यता का निर्धारण का समसामयिकता को प्रस्तुत किया है।

'उपसंहार' के अन्तर्गत पूर्व आठ अध्यायों में किए गए शोध के निष्कर्ष का प्रतिपादन किया गया है।

'परिशिष्ट' में कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों में आये हुए स्फुट पद्यों का संकलन किया गया है।

कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी उदार सामाजिक स्वरूप व मूल्यों का अनुसरण करने वाले समाज के स्वप्नदृष्टा हैं। जनमंगल हेतु समाज की विसंगतियों का समाधान करने का दिव्य पथ उनके नाटकों के अध्ययन से फलित होता है। नारी

चेतना व संस्कृति-संस्कार से सम्पन्न समाज की उनकी कल्पना साकार हो। इस शोध का मूल-प्रयोजन यही है।

घोषणा शोधार्थी

मैं वन्दना प्रजापति (शोधार्थी- संस्कृत विभाग) यह घोषणा करती हूँ, कि मेरा यह शोध-प्रबन्ध "डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में सामाजिक परिशीलन" जो मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया है, यह मेरा अपना शोध कार्य है। मैंने यह शोध कार्य डा. अलका बागला, शोध पर्यवेक्षक, संस्कृत, सह-आचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़ (राज.) के पर्यवेक्षण में पूरा किया है। यह मेरा अपना मौलिक कार्य है। मैंने अपने विचारों को अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है और जहाँ दूसरे विचारों व शब्दों का प्रयोग किया है, वह मेरे द्वारा मान्य स्रोतों से लिया गया है। अपरिहार्य स्थिति में ली गई ऐसी हर सामग्री का यथास्थान सन्दर्भ एवं आभार व्यक्त कर दिया गया है, जो कार्य इस शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया है।

मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि मैंने विश्वविद्यालय के सभी अकादमिक नियमों का निष्ठा एवं ईमानदारी से पालन किया है तथा किसी तथ्य को गलत प्रस्तुत नहीं किया है। मैं समझती हूँ कि मेरे द्वारा किसी भी नियम उल्लंघन पर मेरे खिलाफ प्रशासनिक कार्यवाही की जा सकती है। मेरे खिलाफ जुर्माना भी लगाया जा सकता है यदि मैंने किसी स्रोत से बिना उसका नाम दर्शाये या जिस स्रोत से अनुमति की आवश्यकता हो, बिना अनुमति के लिया हो।

दिनांक: वन्दना प्रजापति

स्थान: झालावाड़ शोधार्थिनी

(RS/459/13)

प्रमाणित किया जाता है कि शोधार्थी वन्दना प्रजापति **(RS/459/13)** द्वारा दी गई उपर्युक्त सभी सूचनाएँ मेरी जानकारी के अनुसार सही है।

दिनांक: शोध पर्यवेक्षक

स्थान : झालावाड़ डा. अलका बागला

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी

प्राक्कथन

निधाय हृदि गोविन्द श्रीबालं परमं गुरूं।
मातरं पार्वतीं च पितरं नन्दकिशोऱम्।।
लोकचैतन्यधातारं राधावल्लभसद्गुरूं।
लोकानुगं च सीतेशं वन्दनाभिवन्दते।।

वाग्देवी माँ सरस्वती एवं मेरे जीवन के वागर्थाविव मेरे माता-पिता को प्रथम प्रणाम। संस्कृत का समृद्ध साहित्य विश्व धरातल पर अतुलनीय ज्ञान निधि है। वैश्वीकरण के अशान्त माहौल में पुण्यभूमि भारत में जन्म लेकर देववाणी संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन अवश्य ही किन्ही अलौकिक पुण्यों का ही फल है। देवभाषा का अक्षय ज्ञान भण्डार युग-युगान्तरों से ज्ञान पिपासकों व जिज्ञासुओ के लिए शमन का साधक रहा है।

ईश्वर के प्रसाद स्वरूप संस्कृत के प्रति अनुराग तो संस्कृत विषय के प्रथम परिचय के साथ ही हो गया था, किन्तु उच्च माध्यमिक कक्षाओं में आदरणीया गुरू डा. अशोक कँवर शेखावत के सानिध्य में संस्कृत में उच्च शिक्षा प्राप्ति की इच्छा को अधिक दृढ़ता मिली। "संस्कृत के प्रत्येक विद्यार्थी का यह धर्म है, कि यह प्राचीन साहित्य के साथ नवीन साहित्य का भी अध्ययन करे, क्योकिं नवीन साहित्य में भावों की प्रेषणीयता और जीवन मूल्यों का फलक सर्वथा नवीन और युगानुसारी है। गुरूवर कृष्णाबिहारी भारतीय की इस उक्ति नें मेरे अन्दर आधुनिक संस्कृत में शोध कार्य हेतु बीज का कार्य किया।

मेरा यह शोध प्रबन्ध मेरी सुयोग्या विद्यानुरागिनी, तेजस्वी गुरू डा. अलका बागला के कुशल निर्देशन में पूर्ण हुआ। आपकी अहर्निश मिलने वाली प्रेरणा, उत्साह, सहायता तथा ज्ञान-ज्योति मुझे प्रत्येक पद पर प्रशस्त करती रही है। इस शोध प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण में मेरा मार्गदर्शन करके आपने अपनें विद्यानुराग का जो परिचय दिया है उसकी कृतज्ञता प्रकट करनें हेतु मुझे शब्दों का अभाव प्रतीत होता है। इस हेतु उनके प्रेरणदायी सानिध्य को मैं हृदय से स्वीकार करती हूँ।

मेरे मन में शोध की नींव डालनें वाले गुरूवर त्रय राजकीय महाविद्यालय झालावाड़ में संस्कृत के पूर्व विभागाध्यक्ष श्री के. वी. भारतीय तथा उनकी सुयोग्या शिष्या व मेरी परमगुरू डा. अशोक कॅवर शेखावत व डा. गीताराम शर्मा की में श्रद्धा से आभारी हूँ। शोध कार्य हेतु आवश्यक साहित्य सहज उपलब्ध कराने हेतु राजकीय महाविद्यालय बून्दी के

वर्तमान विभागाध्यक्ष विद्याविवेकी डा. पूर्णचन्द्र उपाध्याय के प्रति में विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

आत्मबलदायक पूज्य पिताजी श्री नन्दकिशोर प्रजापति व वात्सल्य की साक्षात् प्रतिमूर्ति मेरी प्रथम गुरू व माँ श्रीमती पार्वती प्रजापति के आर्शीवाद, प्रेरणा व सम्बल के बिना यहाँ तक पहुँचना कल्पनातीत है। माँ का त्याग व उदारता नें मुझे सदैव आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया वहीं पिताजी की कर्मठता नें मुझे मजबूत इरादे प्रदान किए। जिसके लिए मैं युगों- युगों तक इनकी ऋणी रहूँगी। जिन्होंने मुझे परिवार की प्रथम शिक्षित बेटी होनें का अवसर प्रदान किया।

इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में मेरे पति श्री प्रवीण कुमार का असीम सहयोग रहा, जिन्होंने निजी जीवन की व्यस्तताओं में से समय निकालकर मेरा सतत् सहयोग किया। उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

मैं अपने अग्रज श्री रविकान्त प्रजापति, अनुज चि. हेमन्त प्रजापति व दोनों भाभीयों श्रीमती कमलेश प्रजापति, श्रीमती कोमल प्रजापति के भी यथोचित सहयोग के लिए आभारी हूँ।

मैं अपने बड़े भाई स्वरूप मार्गदर्शक श्री वैभव उपाध्याय को भी यथोचित सहयोग के लिए आभार व्यक्त करती हूँ।

मेरे विद्यालय परिवार में कार्यरत मेरे शिक्षक मित्रों का भी समय- समय पर इस शोध सागर को पार करने में मुझे सहयोग मिलता रहा है मैं नामतः उनका उल्लेख न करके सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मेरी श्वास-प्रश्वास स्वरूप सुपुत्र चि. प्रणव के स्नेह संबल के बिना यह कार्य सम्भव नही था। उसकी बाल सुलभ चेष्टाओं व जिज्ञासाओं नें मुझमें नित नवीन उर्जा का संचार किया है, मैं इसे शुभाशीष प्रदान करती हूँ।

इस शोध प्रबन्ध के कलात्मक एवं त्रुटि रहित मुद्रण कार्य के लिए मैं कम्प्यूटर **आपरेटर**, श्री योगेश कुमार नामा, निकुंज कम्प्यूटर एण्ड **जाब** वर्क सेन्टर, केशवपुरा, कोटा (राज.) को मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ, वर्तनी सम्बन्धी **अशुद्धियों** को शुद्ध करने का मैंने यथा सम्भव प्रयास किया है फिर भी टंकण सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ रह गयी हो, तो मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

अन्त में उस परम शक्तिमान, अदृश्य ईश्वर के श्री चरणों को कोटिशः नमन करती हूँ। जिनकी अनुकम्पा से मुझे इस कार्य को करने की प्रेरणा व सामथ्र्य निरन्तर

प्राप्त होता रहा। अन्यथा सांसारिक सुखों के मध्य भी यदि ईश कृपा का अभाव हो तो किसी भी कार्य की इति श्री करना सम्भव नही है। ऐसे सर्वशक्तिमान प्रभु को अपनी कृपा दृष्टि के लिए मैं कोटि-कोटि नमन करती हूँ।

संदर्भ ग्रन्थों के विद्वान लेखकों की भी मै हृदय से आभारी हूँ। आशा है मेरा यह शोध प्रबन्ध शोधार्थियों और ज्ञानार्थियों में अमृत रूपी ज्ञान का सिंचन करेगा तथा अन्य शोधार्थियों के लिए सहायक एवं मार्गप्रशस्त करने वाला होगा।

अन्त में सुधी विद्वानों के समक्ष अपनें शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करते हुए मेरा विनयपूर्वक निवेदन है कि पर्याप्त प्रयास के पश्चात भी यदि अज्ञान, अनवधान, अनभिज्ञता, अल्पज्ञता वश अथवा संसाधनों के परिसीमन रहने के कारण इसमें कुछ त्रुटियां रह गई है हो तो उन्हें क्षमा की दृष्टि से देखने का अनुग्रह करेंगे। मेरा अन्त में यही निवेदन है कि--

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
संशोधयन्ति तत् सन्तः समाधानोत्कचेतसः।।

स्थान: झालावाड़

दिनांक:

वन्दना प्रजापति
शोधार्थिनी, संस्कृत
पंजीयन क्रमांक **(RS/459/13)**
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़ (राज.)

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विवरण	पृ.सं.
	उपक्रम (भूमिका)	i-vi
	(क) संस्कृत साहित्य का महत्व एवं वर्गीकरण	
	(ख) शोध उद्देश्य व महत्व	
	(ग) साहित्य का पुनर्वीक्षण	
	(घ) शोध प्रबन्ध की प्रविधि	
प्रथम अध्याय	कविवर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी का व्यक्तित्व एवं कवित्व	1-38
	(क) जन्म स्थान तथा काल	
	(ख) शिक्षा व शैक्षणिक उपलब्धियाँ	
	(ग) पदभार तथा कार्य क्षेत्र	
	(घ) विदेश यात्रा	
	(ड़) पुरस्कार, सम्मान एवं शोध	
	(च) नाटककार का रचना संसार	
	(छ) विविध संस्थाओं से अकादमिक संबंध	
द्वितीय अध्याय	संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास	39-59
	(क) काव्य के भेद	
	(ख) नाट्य उत्पत्ति विषयक विभिन्न वाद	
	(ग) संस्कृत नाटकों की विकास यात्रा	
	(घ) संस्कृत साहित्य में रूपक परम्परा व प्रमुख रूपककार	
	(ड़) आधुनिक रूपक साहित्य	

तृतीय अध्याय	सामाजिक परिदृश्य का स्वरूप एवं अर्थ (क) समाज की अवधारणा, परिभाषा व स्वरूप (ख) डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में निहित समाज की संरचना	60-80
चतुर्थ अध्याय	कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में पारिवारिक संरचना (क) परिवार का स्वरूप (ख) पारिवारिक संबंध	81-100
पंचम अध्याय	कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक परम्पराऐं (क) संस्कार (ख) रीति-रिवाज (ग) वर्णाश्रम व्यवस्था (घ) विवाह (ड़) पुरूषार्थ चतुष्ट्य (च) धर्म तथा ईश्वरोपासना (छ) पर्यावरण-प्रेम	101-133
षष्ट अध्याय	कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक कुरीतियाँ (क) दहेज (ख) शोषण (ग) भ्रष्टाचार (घ) दलित समस्याऐं (ड़) राजतांत्रिक व्यवस्थाऐं	134-166

सप्तम अध्याय	कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में स्त्री विमर्श	**167-190**
	(क) नारी शिक्ष	
	(ख) नारी स्वातंत्र्य	
	(ग) नारी सशक्तीकरण	
अष्टम अध्याय	नाटकों की समसामयिकता	191-200
उपसंहार	शोध निष्कर्ष का प्रतिपादन	201-204
	शोध सारांश	205-218
	संदर्भ ग्रन्थ सूची	219-234
	प्रकाशित शोध पत्र	i-xii
परिशिष्ट	(क) कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों के सुभाषितों का संग्रह	i-xxi

उपक्रम

(भूमिका)

उपक्रम

(भूमिका)

नाटकों का प्रभाव वर्तमान विश्रंखलित जीवन में भी कम नहीं हुआ है। संस्कृत नाटकों की समूह परम्परा का परिशीलन किया जाए तो सेवा, सद्भाव, सत्य, सहिष्णुता, अहिंसा, विश्वप्रेम आदि नैतिक आदेशों के सभी पक्षों की संसृष्टि इनमें स्पष्ट दिखाई देती है, यही नाटकों में अन्त-निर्हित उनकी असीम शक्ति है। संस्कृत साहित्य हमेशा में मानव मात्र के निःश्रेयस की भावना बलवती रही है। यद्यपि निःश्रेयस के मापदण्ड़ों में देश-काल व परिस्थितियों के सापेक्ष परिवर्तन देखा गया है। वर्तमान संस्कृत साहित्य में उद्देश्य और विषय के युगानुरूप आवश्यक परिवर्तन देखे गये हैं जिनका गवेषणात्मक अनुशीलन आवश्यक है। संस्कृत साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाले तो संस्कृत नाटकों में ऐतिहासिक चरित्रों का नाटक के पात्र बनानें तथा उनके जीवन चरित्र को नाट्य की कथावस्तु बनाने का जो आग्रह है वह निरन्तर गति को प्राप्त हो रहा है, किन्तु समय की आवश्यकतानुसार इस व्यूहबंध को तोड़ने का स्तुल्य प्रयास डा. त्रिपाठी जी ने किया है। समाज के सत्य प्रकाशन के साथ सामाजिक सरोकार का जो समन्वय अपने नाट्यों में किया है वह समाज को सुदृढ़ तथा प्रगति के मार्ग को प्रशस्त कर सकेगा। इसी से समता व एकता से परिपूर्ण समाज की रचना करना संभव है, इस प्रकार प्रस्तुत शोध -

(1) समाज की सामूहिक आवश्यकताओं और व्यवस्थाओं को परखने तथा उनमें आई विसंगतियों के उद्घाटन में महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

(2) इस शोध के माध्यम से संस्कृत को कर्मकाण्ड़ों की भाषा मानने वालों के दुराग्रह का निराकरण हो सकेगा व उनकी सोच को विस्तार मिलेगा।

(3) साहित्य के क्षेत्र में हो रहे कथ्य और शिल्प के परिवर्तन की गवेषणा, इस शोध के माध्यम से हो सकेगी।

(4) इतिहास, संस्कृति व व्यवस्थाओं का सामूहिक परीक्षण इस शोध के माध्यम से हो सकेगा।

(5) साहित्य, भाषा व संस्कृति के प्रवाह में बाधक वैचारिक और क्रियात्मक शक्तियों का विश्लेषणात्मक इस शोध के माध्यम से हो सकेगा।

(6) संस्कृत नाट्य साहित्य में राजनैतिक चेतना, सांस्कृतिक चेतना, आर्थिक चेतना, दलित चेतना, राष्ट्रीय चेतना व नारी चेतना का मूल्यांकन होने से संस्कृत साहित्य की प्रासंगिकता सिद्ध हो सकेगी।

(क) संस्कृत साहित्य का महत्व एवं वर्गीकरण -

संस्कृत का समृद्ध साहित्य विश्वधरा का प्राचीनतम साहित्य है। संस्कृत साहित्य की अक्षय ज्ञान निधि ने युग-युगान्तर से अखिल विश्व में होने वाली काल सापेक्ष घटनाओं का मार्ग प्रशस्त करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ऋग्वेद से लेकर अद्यतन ज्ञान-विज्ञान, कला, संस्कृति, इतिहास आदि क्षेत्रों में मानव की ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने की सार्थकता संस्कृत साहित्य निभा रहा है।

अतः साहित्य लोकपरक होता है। 'हितेन सह वर्तमानः सहितः तस्य भावः साहित्यम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार सह भाव अर्थ में सह-इतच् से 'ष्य'' प्रत्यय होने पर साहित्य पद सिद्ध होता है। ऋग्वेद से लेकर अद्यतन संस्कृत साहित्य में ज्ञान-विज्ञान के साथ संस्कृति कला आदि का भी अभ्युदय देखा जा सकता है।

यद्यपि पुरातन ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों के कारण संस्कृत पर जड़ता का आरोप भी लगाते हैं, तथापि संस्कृत का आर्ष साहित्य जनाकांक्षाओं से प्रेरणा लेकर आमजन की अभिलाषाओं का ही समर्थन करता है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोकचेतना का साहित्य यात्रा करता हुआ आज 21वीं शताब्दी में सामाजिकता के नवीन आयाम स्थापित कर रहा है किन्तु वर्तमान साहित्य में आदर्शवाद, मानव कल्याण व मूल्यों का समावेश बहुतायत से देखा जाता है। संस्कृत की समृद्ध साहित्य परम्परा का परिशीलन किया जाए तो सेवा, सद्भाव, सत्य सहिष्णुता अहिंसा, विश्वप्रेम आदि नैतिक आदर्शों के सभी पक्षों की संसृष्टि इसमें स्पष्ट दिखाई देती है, यही संस्कृत साहित्य में अन्तर्निहित उनकी असीम शक्ति है। यही शक्ति समाज को युगानुसारी दिशा में गति देती है। संस्कृत साहित्य का महत्त्व डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के शब्दों में -

साहित्यस्य निधिं च जीवनविधिं या विभ्रती शेवधिम्
प्राचीनां च परम्परां प्रतिनवां या कुर्वती प्रज्ञया।।
स्त्रोतोभ्यश्च सहस्रशो बहु सृता पुण्यप्रवाहन्विता,
सैषा संस्कृत वाङ्मयार्णवमहाधारा सदा पातु नः।।
मूलं वेदमयं पवित्रचरितं स्कन्धोऽस्य रामायणम्
नाना दर्शनधर्मशास्त्रनिचयाः शाखास्तथा विस्तृताः।।
काव्यानां स्तबकैः सदर्थ कुसुमैर्युक्तो रसादयैः फलैः,
सोऽयं संस्कृतकल्पवृक्षमहिमा भूयात् प्ररोहान्वितः।।
श्री गंगाधरभट्टकीर्तिमहसा विद्वत्सभेयं शुभा
यत्रश्रीश्च सरस्वती च युगपद् राजेश्वरी राजते।।
आहूतः सदसो विचारकुसुमैरर्चां विधातुं स्वकैः
राधावल्लभ एष वो वितनुते कार्यज्ञयपुष्पांजलिम्।।"

संस्कृत साहित्य का वर्गीकरण -

आचार्य डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने काव्य की दशा को सीमित परिवेश से परे वैश्विक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। इन्होंने 'अभिनव काव्यालंकार सूत्र' के प्रथम अधिकरण में पाँच अध्यायों में काव्य के स्वरूप का वर्णन किया है। आचार्य त्रिपाठी के अनुसार काव्य का लक्षण है-

"लोकानुकीर्तनम् काव्यम्"। (अभिनव काव्यालंकार सूत्र 1/1/1)

लोक से उनका आशय केवल आधिभौतिक जगत् से ही नहीं बल्कि आधिदैविक व आध्यात्मिक लोक से भी है। 'अनुकीर्तनम्:' शब्द का विषय है अतः शब्द की परिधि में निर्दुष्ट, सगुण, सालंकार, रसाभिव्यंजक शब्दार्थ को गृहण किया है। कविवर के अनुसार काव्य का प्रयोजन मुक्ति है-

"मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम्"। (अभिनव काव्यालंकार सूत्र 1/2/6)

प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार संस्कृत वाङ्मय के दो शास्त्रीय भेद किये गये है-

(1) दृश्य काव्य

(2) श्रव्य काव्य

महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, आख्यान एवं ऐतिहासिक काव्य श्रव्य काव्य कहलाते हैं। वहीं दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक और उपरूपकों की गणना होती है।

प्राचीन विद्वानों की भाँति अभिराज राजेन्द्र मिश्र श्रव्य काव्य के 3 प्रकार बताते हैं- गद्य, पद्य, चम्पू अथवा मित्र

पद्यगद्यमयं श्रव्य मिश्रंचेति त्रिधास्तिम्।

पदैर्नियामितं पद्यं गद्यं यद्धि निगद्यते।। (अभिराज यशोभूषणम् 4/51)

नियताक्षरमाख्यातं नाट्यशस्त्रकृता पुनः।

पद्यं गद्यं तथैवेदं घुष्टमनियताक्षरम्।। (अभिराजयशोभूषणम् 4/53)

श्रव्य काव्य के समान दृश्य काव्य का प्रयोजन भी सहृदयों को आनन्द की अनुभूति कराना ही है। किन्तु दृश्य काव्य में अभिनय का संयोग होने के कारण यह अधिक रमणीय विधा है। आचार्य भरतमुनि ने 'कलाओं के विश्वकोश (नाट्य शास्त्र) में लिखा है कि -

न तत् ज्ञानं न तत् शिल्पं

न सा विद्या न सा कला।

न स भोगो न तत्कर्मः

नाट्येस्मिन् य न दृश्यते।। (नाट्य शास्त्र-भरतमुनि, 1/116)

न कोई ज्ञान है, न कोई ऐसा शिल्प न विद्या, न कोई कला, न ही कोई योग, न ही ऐसा कर्म है, जो नाटक में नहीं दिखाई देता हो।

वर्तमान समय जिस काव्य का आश्रय लेकर नाट्य का प्रयोग किया जाता है वह रूपक है। किन्तु प्रचलन में नाटक शब्द की अधिकता ही दिखाई देती है।

अभिनव गुप्त ने रूपक का निर्वचन करते हुए कहा है-

"रूप्यते प्रत्यक्षी क्रियते योऽर्थः।

तद्वाचाकत्वात् काव्याणि रूपाणि।।" (नाट्य शास्त्र-अभिनव भारती)

संस्कृत में रूपक के 10 भेद माने गये हैं, जैसा कि दशरूपकार ने कहा है-

नाटकं सप्रकरण भाषः प्रहसन डिमः।

व्यायोग समवकारौ वीत्यङ्केहामृगा इति।। (दशरूपक-धनंजय, 1/8)

(ख) शोध उद्देश्य व महत्व -

शोध अथवा अनुसंधान का उद्देश्य है- ''ज्ञान का प्रसार'' यह कार्य अज्ञात एवं अनुपलब्ध प्रकाशन अथवा उपलब्ध तथ्यों में नवीन उद्भावनाओं के रूप में हो सकता है। इसी दृष्टिकोण को आधार मानकर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाट्य साहित्य में सामाजिक परिशीलन के माध्यम से निम्न तथ्यों को उद्देश्य बनाया गया है-

1. महाकवि के जीवन परिचय तथा उपलब्धियों का निरूपण।
2. संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति व विकास यात्रा की परम्परा पर प्रकाश डालना तथा संस्कृत के प्रमुख नाटककारों के दृष्टिकोण का विवरण प्रस्तुत करना।
3. आधुनिक काल के लिए संस्कृत शोध की उपयोगिता स्थापित करना तथा प्राचीन और आधुनिक साहित्य के मध्य सेतु स्थापित करना।
4. नाटक के पात्रों के वैचारिक स्तर का मूल्यांकन करना।
5. डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी प्रतिभायुक्त युग पुरूष हैं उनकी रचनाओं में आधुनिक समाज के बदलते परिवेश में संस्कृति एवं साहित्यिक मूल्यों के प्रश्नों के उत्तर प्राप्त हो सकेंगे।
6. संस्कृत साहित्य की सजीवता, सरसता, सहजता एवं जनोपयोगिता को प्रमाणित करना।
7. इन नाटकों के सामाजिक परिशीलन के माध्यम से वर्तमान परिवेश में भ्रष्टाचार पर्यावरण प्रदूषण, सामाजिक मूल्यों के ह्रास, समाज रक्षा, जन जागरण, विवेकशील समाज की शोध संदेश प्रेक्षण व शिल्प की प्रवृत्ति के अनुशीलन का समीचीन निर्धारण कर सकेगा।
8. 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रतिज्ञा को आधुनिक से जोड़कर समाज को नवीन दिशा की ओर अग्रसर करने वाला हो सकेगा।

(ग) साहित्य का पुनर्वीक्षण -

संस्कृत साहित्य में नाट्य रचना का आधार लोकानुरंजन तथा मानव को चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति करवाना रहा है। समीक्ष्य कवि भी लोकानुकीर्तन को ही

काव्य का लक्षण मानते हैं। कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी जी के साहित्य पर अनेक शोध कार्य हो चुके हैं तथा हो रहे हैं, यद्यपि कवि द्वारा रचित नाटकों का अध्ययन विविध रूपों में किया जा चुका है तथा हो रहा है, किन्तु उनके द्वारा रचित नाटक साहित्य का सामाजिक अध्ययन स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ है, यद्यपि कविवर के चिन्तन पैमाने की असीमता को मापने का यह प्रयत्न मेरी बुद्धि के लिए लघु नौका से समुद्र मापने जैसा ही होगा।

(घ) शोध प्रबन्ध की प्रविधि

मेरे शोध कार्य का उद्देश्य लोकानुकीर्तन के राष्ट्रीय कवि डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाट्य साहित्य का युग चेतना के संदर्भ में आद्यान्त विवेचन व विश्लेषण करना है। साथ ही प्राचीन नाटकों की झलक की कविवर के साहित्य में समीक्षा करना है। राष्ट्रीय चिन्तन के कवि की समसामयित्व समाज के साथ संवेदनात्मक स्तर पर एकाकार होने की समरसता पूर्ण भाव-भूमि को सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा।

इस प्रकार कवि की नाट्य कृतियों के व्यापक संदेशों में चिंतन, तत्सम्बन्धी सामग्री का अन्वेषण, निरीक्षण, परीक्षण उपयोगी तथ्यों का संकलन संकलित तथ्यों का वर्गीकरण, निरीक्षण तथा उसके आधार पर निष्कर्षों की तर्क संगत स्थापना करते हुए कवि के नाट्य साहित्य का सामाजिक स्वरूप प्रस्तुत किया जावेगा।

प्रथम अध्याय

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रथम अध्याय

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

(क) व्यक्तित्व

सतरंगी इंद्रधनुष से सम्मोहक उदात्त व्यक्तित्व के धनी अनेक संस्कृत कवियों नें वैदिक काल से लेकर अब तक अपने अप्रतिम कालजयी काव्यकृतित्व से जीवन्त संस्कृत साहित्य को पल्लवित, पुष्पित तथा सुसमृद्ध बनाकर विश्ववाङ्मय में प्रतिष्ठापित किया है। महापुरूष जगत में आकर अपने प्रशंसनीय कार्यों द्वारा साधारण प्राणियों से पृथक् अपनी पहचान बनाते हैं, तथा श्रमसाध्य गौरवमय व लोकोत्तर कृत्यों से जगत् को आनन्दित करते हुए कीर्ति प्राप्त करते हैं। अपने इस यश रूपी शरीर द्वारा वे मरणोपरान्त भी युगों-युगों तक जीवित बने रहते हैं अथवा कहा जाता है कि वे विश्रुत पुरूष अमर हो जाते हैं, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं। कहा भी गया है -

"Fame is the food that dead man eat."

इतिहास के पन्ने उलट कर देखा जाये जो ऐसे कई उदाहरण विदित होते हैं, जहाँ अनेक पुरोधाओं ने पंचतत्व से युक्त इस नश्वर शरीर की तुलना में यश शरीर को उत्तम माना है। यथा -

किमप्यहिंसस्यतवचेन्महताऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकानविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकषु।।

वस्तुतः संस्कृत एवं संस्कृति के अनन्य उपासक, यशस्वी सुकवि एवं विद्वान डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने वर्तमान में संस्कृत विद्वत् परम्परा में आधुनिक व समसामयिक विषयों पर सृजन को नूतन आयाम प्रदान किया है। संस्कृत साहित्य के सुधी समीक्षक, शोध कार्य विशेषज्ञ एवं सुपरिचित कवि डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी को न केवल संस्कृत पर अपितु आंग्ल भाषा व हिन्दी पर भी समानाधिकार प्राप्त है। काव्य की सभी विधाओं का नवीन मानदण्डों के अनुसार मौलिक सृजन करने के साथ ही नीरक्षीर विवेकी समीक्षक के रूप में भी ये प्रसिद्ध हैं। अतः आधुनिक संस्कृत जगत के मौलिक लेखक व निष्पक्ष समीक्षक

के रूप में उन्हे आचार्य क्षेमेन्द्र के समकक्ष रखा जा सकता है।"[1] अभिराज "राजेन्द्र मिश्र" नें कहा है कि-

1. ''सागरीय राधावल्लभ यायावरीय राजशेखर के समान आजकल के साहित्य जगत के सार्वभौम कवि है।

2. काव्य मर्मज्ञ डा. त्रिपाठी काव्य तत्व के मधु बिन्दु के पान में लीन वह मधुप है जिन्होंने आधुनिक व पौराणिक शस्त्रों का गाढ़ अनुशीलन किया है।[2]

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी ने संस्कृत रूपी गगन मण्डल को नई विच्छित्ति और आधुनिकता के साथ सजाकर आधुनिक संस्कृत साहित्य की कविता के साथ पंक्ति में बैठाने का प्रयास किया है। परम्पराबद्ध संस्कृत कविता को आधुनिक वैश्विक सन्दर्भो से जोड़ने का कवि का काव्य पुरूषार्थ निश्चय ही सार्थक है। मानवीय संवेदनाओं को अपने साहित्य में यर्थाथता से प्रस्तुत करने वाले त्रिपाठी जी जनचेतना व संवेदना के ऐसे कवि हैं, जो जीवन के सभी पक्षों के गंभीर चिंतन के उपरान्त निकाले गये तथ्यों को विद्वत्समाज के समक्ष उपस्थित करते हैं। आधुनिक संस्कृत साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर डा. त्रिपाठी कतिपय संस्कृत कवियों में से एक है। जिन्होंने अपनी सशक्त और पैनी लेखनी से अनेक काव्य आलोचना ग्रन्थ लिखकर संस्कृत जगत में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। डा. त्रिपाठी का कहना है- ''मैं विगलित वैद्यान्तर आनन्द के लिये नही लिखता, तन्मय भवन के लिये नही लिखता, मेरी बहुत रचनायें लोगो को कष्ट पहुँचाती है, बल्कि कष्ट देने के लिये ही वे लिखी गई है।"[3] गम्भीर व्यक्तित्व के धनी डा. त्रिपाठी की विद्वता, यथार्थ वर्णन और दार्शनिक चिंतनयुक्त कवित्व के कारण विशिष्ट पहचान है। मितभाषी प्रिय, स्पष्टवादी किन्तु बहुलेखी, युगानुरूप शैली, भाव शबलता, नवीन वाक्य विन्यास आदि इनके आधुनिक कवि होने के पर्याय है। जिसकी पुष्टि अभिराज राजेन्द्र मिश्र की वह स्वीकारोक्ति है- ''गहन समीक्षा शास्त्र में, ललित काव्य सर्जन में और विपुल अध्याय में उनकी प्रतिभा समान रूप से प्रसारित है। अर्वाचीन संस्कृत काव्य में जनवादी कविता प्रस्थान के गौरव-स्थान राधावल्लभ इस प्रकार में निर्विकल्प स्वीकार करता हूँ।"[4]

1.कवि का जन्म -

संस्कृत साहित्य के सुधी समीक्षक, शोधकार्य विशेषज्ञ एवं सुपरिचित राधावल्लभ त्रिपाठी का जन्म 15 फरवरी सन् 1949 (फाल्गुन कृष्ण, तृतीया संवत् 2005 विक्रमी) को मध्य प्रदेश के राजगढ़ जिले में पण्डित गोकुल प्रसाद त्रिपाठी तथा श्रीमति गोकुल बाई के घर हुआ। जो पूर्व में मध्य भारत प्रान्त में था प्राचीन अवध देश या मालव प्रदेश भी यही है।

किन्तु इस स्थान का पारिवारिक परिवेश व वातावरण, इन्हें प्रभावित नहीं कर पाया। जो उनके ही शब्दो में स्पष्ट है -

"इस मालव प्रदेश या कालिदास की धरती के संस्कार जन्म के साथ मुझमें आये होंगे। पर ये संस्कार प्रारूढ़ नहीं हुए क्योंकि जन्म के दो-चार साल बाद से ही विस्थापित का जीवन ही अधिक जिया।"[5]

इनके पिता डा. गोकुल प्रसाद द्विवेदी भी बहुमुखी प्रतिभा के धनी संस्कृत व हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान, कवि व समीक्षक थे। जिन्होंने विद्यालय में अध्यापक तदन्तर प्राचार्य व महाविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में कार्य किया तथा सन् 1978 में शासकीय महाविद्यालय छतरपुर से सेवा निवृत्त हुए। देश के भविष्य निर्माता शिक्षक पिता के संस्कारों का आगमन डा. त्रिपाठी के चरित्र में होना सहज ही था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता की देखरेख में ही सम्पन्न हुई। डा. त्रिपाठी बचपन से ही कुशाग्र व जिझासु प्रवृत्ति के थे। शिशु राधावल्लभ की माँ का देहान्त तभी हो गया जब ये मात्र तीन वर्ष के थे। माँ के असामयिक निधन व पिता के बार-बार स्थानान्तरण से उनका प्रारम्भिक जीवन कष्टकर ही रहा। पिता के सानिध्य में महज 6-7 वर्ष की आयु से ही बालक राधावल्लभ ने लेखन व अध्ययन को अपना अवलम्ब बनाया। इनकी यही साहित्य साधना एक विशाल कल्पवृक्ष के समान हमारे सामने है।

2. शिक्षा-दीक्षा -

अभूतपूर्व प्रतिभा के धनी डा. राधावल्लभ त्रिपाठी की शिक्षा-दीक्षा अलग-अलग स्थानों पर हुई। प्रारम्भ में सुठालिया ग्राम में स्थित विद्यालय में प्रवेश लिया। फिर वहां से निकलकर उन्होनें बुन्देलखण्ड के छतरपुर जिले की संस्कृत

पाठशाला में प्रवेश लिया। छतरपुर जिले में ही इन्होंने कक्षा पांचवी से लेकर स्नातक की शिक्षा प्राप्त की। बाद में सागर विश्वविद्यालय से संस्कृत विषय में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। किन्तु इनके व्यक्तित्व की उज्जवलता का श्रेय उनके पुस्तक पढ़ने की प्रवृति और पुस्तकालयों को जाता है। उन्ही की शब्दों में- ''इन सब शिक्षण संस्थाओं की औपाचारिक पढ़ाई की वजह मुझे बनाने में पुस्तकालयो का हाथ अधिक रहा। ये पुस्तकालय न होते तो शायद दो कोड़ी का आदमी बनकर रह जाता।"[6]

"प्रो. त्रिपाठी पर शरीरधारी गुरूजनों की अपेक्षा पुस्तकों में अदृश्य रूप में विद्यमान शिक्षकों का योगदान अधिक द्रष्टव्य है।

उनके अनुसार- ''यह मेरी उन सब कथित गुरूजनों के प्रति अकृतज्ञता, अशिष्टता और कृतघ्नता भी कही जा सकती है, और अपनी सच्चाई का बयान भी।"[7]

संस्कृत विषय में इनकी रूचि प्रारम्भ से ही रही। प्रारम्भिक कक्षाओं में संस्कृत न होने पर भी संस्कृत वाक्यों को बनाने का प्रयास ये करते थे। जिसका अन्तिम परिणाम संस्कृत विषय में उच्चतर उपाधि डी. लिट् की प्राप्ति रहा। कालेज में आने के पश्चात् भौतिकता की चकाचौंध और खुलापन हमेशा से युवा के लिये भटकाव पैदा करता रहा है। किन्तु युवावस्था के इस पायदान पर डा. त्रिपाठी ने पण्डित 'क्षमाराव' पर लेख लिखा जो महाविद्यालय की पत्रिका के संस्कृत-खण्ड में प्रकाशित हुआ। लेखन का यह क्रम उत्तरोत्तर प्रगति को प्राप्त होता रहा और आधुनिक संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियों पर लेख से लेकर अनेक शोध कार्यो में परिणत हो गया। लेखन की पराकाष्ठा उन्ही के इस कथन से प्रतीत होती है कि-''नही लिखता, यदि मेरे बस की बात होती। सांस लेना तो नही रोका जा सकता, जीना बंद नहीं किया जा सकता। यद्यपि जीवन- जीना कष्टप्रद्र है, उसी तरह लिखना भी नहीं रोका गया, अतः लिखता रहा।"[8] गद्य विधा से अपने लेखन क्षेत्र का श्री गणेश करने वाले डा. त्रिपाठी ने किशोरावस्था के बाद से ही कविता, कथा नाटक के साथ समीक्षा व इतिहास लेखन की दिशा में अनोखा कार्य कर अपनी विलक्षणता का परिचय प्रस्तुत किया। नाट्य रचना करना उनका रूचिकर विषय रहा। यही कारण है कि वे स्कूल के नाटकों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया करते थे, और उन्होंने अपने शोध का क्षेत्र भी नाट्य शास्त्र व नाट्य पर ही

आधारित रखा, साथ ही उन्होंने परम्परागत विषयों के अलावा आधुनिक शिक्षा प्राप्त की। माक्र्स के चितंन से वे इतने प्रभावित हुए कि यह माक्र्सवादी छाप उनकी रचनाओं में निरन्तर परिलक्षित होती है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी को 'जनवादी कवि'कहने के पीछे यही भावना प्रतीत होती है।

भारतीय विचारधारा में विद्या को पूर्व जन्म का अर्जित संस्कार माना गया है। आचार्य जी इसके साक्षात् उदाहरण स्वरूप है। उनका विज्ञान व गणित का ज्ञान उन्हे अभियन्ता या चिकित्सक भी बना सकता था। किन्तु उन्होनें छोटी उम्र में ही शाकुन्तलम् और कादम्बरी जैसे ग्रन्थों का अध्ययन कर साहित्य रस का पान कर लिया था। अतः स्नातक कक्षा में संस्कृत लेकर अध्ययन प्रारम्भ किया। इतना ही नही 67.80 प्रतिशत के साथ विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। तत्पश्चात् उच्चतम शिक्षा की लालसा का आकर्षण उन्हें सागर खींच लाया। सागर विश्वविद्यालय उस समय मध्यप्रदेश में शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। प्रो. रामजी उपाध्याय, डा. विश्वनाथ भट्टाचार्य, वनमाला भवालकर जैस तात्कालीन विद्वानों के अध्ययन व अनुसंधान की स्थली सागर विश्वविद्यालय विद्यार्थियों का प्रथम आकर्षण था। यहीं पर राधावल्लभ जी ने सन् 1970 में संस्कृत विषय से स्नातकोत्तर में 82 प्रतिशत अंक प्राप्त कर संस्कृत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण कला संकाय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। सागर विश्व विद्यालय से ही योगविज्ञान में डिप्लोमा (1970) जर्मन भाषा में प्रमाणपत्रोपाधि (1971) तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से (1971) में प्रमाणपत्रोपाधि प्राप्त की। उनकी शैक्षणिक यात्रा का विवरण निम्नवत् है -

1. माध्यमिक शिक्षा- मध्यप्रदेश बोर्ड, 1965, 82.70 प्रतिशत अंकों से गणित, भौतिक शास्त्र व रसायन शास्त्र विषय के साथ वरीयता सूची में प्रथम स्थान।
2. उच्चमाध्यमिक (बी. ए. पूर्वार्द्ध) महाराजा महाविद्यालय, छतरपुर (सागर विश्वविद्यालय) 1966 में 67.80 प्रतिशत अंकों से विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान।
3. स्नातक (बी.ए.) - महाराजा महाविद्यालय, छतरपुर (सागर विश्वविद्यालय) 1967 में 67.80 प्रतिशत अंकों के साथ विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान।
4. स्नातकोत्तर (एम. ए.) - संस्कृत विषय से सागर विश्वविद्यालय, 1970 में 82 प्रतिशत अंकों के साथ कला संकाय की वरियता में प्रथम स्थान।

5. डिप्लोमा- योगविज्ञान में सागर विश्वविद्यालय से 1970 में प्रथम स्थान ।
6. प्रमाण पत्रोपाधि- (1) जर्मन भाषा, सागर विश्वविद्यालय, 1971 में प्रथम स्थान। (2) भाषा विज्ञान, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणासी से 1971
7. पीएच.डी.- **'संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास'** विषय पर प्रो. राम जी उपाध्याय के निर्देशन में सागर विश्वविद्यालय से 1972 में । शोधप्रबंध प्रकाशित एवं पुरस्कृत।
8. डी. लिट्.- **ORIGIN AND DEVELOPMENT OF THEATRE IN ANEIENT IND** सागर विश्वविद्यालय सागर।
9. उन्होंने संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणासी की प्रथमा तथा पूर्व मध्यमा (प्रथमखण्ड) की परीक्षाऐं भी उत्तीर्ण की।

प्रशासकीय अनुभव -

सागर विश्वविद्यालय मध्यप्रदेश से संस्कृत विषय में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त करनें के कुछ समय पश्चात् ही डा. राधावल्लभ त्रिपाठी की नियुक्ति मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर के संस्कृत विभाग में प्रवक्ता पद पर हो गई। यहाँ से उन्होंने अपने अध्यापक जीवन का शुभारम्भ 18 अगस्त 1971 को किया। कुछ समय पश्चात् सागरविश्वविद्यालय में नियुक्ति होने के कारण 3 जनवरी 1973 को इन्हें उदयपुर छोड़कर सागर जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के संस्कृत विभाग मे व्याख्यता के पद पर रहकर 31 दिसम्बर 1978 तक कार्य किया। तत्पश्चात् उनकी नियुक्ति 1 जनवरी 1979 को इसी विभाग में प्रवाचक पर हो गई । और पुनः प्रतिष्ठित हुए। इसी दौरान बीच-बीच में उन्होंने विश्वविद्यालय में दो बार 1985-86 तथा 1996-98 कला संकाय के अधिष्ठाता पद को सुशोभित किया।

उनकी सक्रियता व वैदुष्य के कारण उन्हें विभिन्न शैक्षणिक व प्रशासनिक दायित्वपूर्ण कार्य सौपें गये जिसके कारण विश्वविद्यालय निरन्तर लाभान्वित हुआ। उनके कतिपय अन्य महत्वपूर्ण शैक्षणिक व प्रशानिक दायित्वों का विवरण निम्न है -

अध्यक्ष-

डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर में 01/07/1980 से 15/01/2002 तथा जनवरी 2005 से जुलाई 2008 तक संस्कृत विभागाध्यक्ष रहे। इसके साथ ही पत्रकारिता विभाग, भाषा विज्ञान विभाग, दृश्य-श्रव्य एवं प्रदर्शनकारी कला विभाग आदि में भी समय समय पर अध्यक्ष पद पर सुशोभित रहे।

कार्यपरिषद् की सदस्यता -

1985-1987 तथा 1995-1998 तक डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय की कार्यपरिषद् के सदस्य रहे।

मध्य प्रदेश केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड की अध्यक्षता- लगभग 20 वर्षों तक मध्य प्रदेश विश्वविद्यालय केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड के अध्यक्ष।

कुलपति -

(1) विभिन्न अवसरों पर डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के कुलपति पद का प्रभार (लगभग 6 माह)

(2) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के कुलपति, 14/08/2008 से 07/01/2013

अन्य- (1) डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के आन्तरिक गुणवत्ता एवं प्रत्यायन प्रकोष्ठ के अध्यक्ष। इनके नेतृत्व में विश्वविद्यालय नें राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद् बैंगलोर द्वारा सफल मूल्यांकन एवं प्रत्यायन तथा उच्च ग्रेड प्राप्त की।

(2) श्री लाल बहादुर शास्त्री, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली के कुलपति का अतिरिक्त प्राभार, 08/08/2012 से 07/01/2013 तक।

डा. त्रिपाठी ने केवल भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी सेवाऐं प्रदान की। तीन वर्ष तक बैंकाक के भारतीय दूतावास में सलाहकार रहे डा. त्रिपाठी ने जनवरी 2002 से शिल्पाकोर्न विश्वविद्यालय में संस्कृत के अतिथि आचार्य के रूप में संस्कृत तथा हिन्दी का अध्यापन कार्य भी किया है। उन्हें छत्तीस वर्षों से

भी अधिक का बी.ए.तथा एम.ए. की कक्षाओं को पढ़ाने का अनुभव है। डा. त्रिपाठी सैंतीस से अधिक शोध छात्रों को पीएच.डी. के लिए निर्देशित कर चुके हैं।

विदेशी यात्राएँ -

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी की रचनाओं में विश्व संस्कृति की झलक दिखाई देने के पीछे मूल कारण इनकी विदेशी यात्राएँ हैं जो एक समीक्षक के रूप में की गई।

- इन्होंने भारत सरकार के इंडो-जर्मन सांस्कृतिक विनियम (1989) के अन्तर्गत जर्मनी में हुबोल्त विश्वविद्यालय में नाट्यशास्त्र पर ढाई माह तक सफल व्याख्यान दिये।
- हालैण्ड में आयोजित सप्तम् विश्व सम्मेलन (1989) में डा. त्रिपाठी जी नें डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया व शोध-पत्रों का वाचन किया।
- वियना में आयोजित अष्टम् विश्व संस्कृत सम्मेलन (1980) में एक सत्र के अध्यक्ष रहे तथा शोध-पत्र का वाचन किया। संस्कृत विश्व सम्मेलन के इसी क्रम में तेरहवें संस्कृत सम्मेलन (2006) के लिए एडिनबरा जाकर उन्होंने शोधपत्र वाचन किया तथा संस्कृत कवि सम्मेलन के अध्यक्ष रहे।
- डा. राधावल्लभ त्रिपाठी ने इसके अतिरिक्त अनेक यात्राएँ की है। उन्होनें यूरोप के भी देशों का भ्रमण किया। वे जर्मनी में दो माह तक रहे तथा थाईलैण्ड में तो उन्होने दो वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत किया।

पुरस्कार व सम्मान -

डा. त्रिपाठी ने लगभग 18 राष्ट्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठित पुरस्कारों को प्राप्त किया, जो संस्कृत साहित्य के लिए उनके द्वारा किये गए उत्कृष्ट कार्यों का प्रतिबिम्ब है। इनमें से कतिपय प्रमुख पुरस्कार इस प्रकार हैं-

1. 'संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास' नामक ग्रंथ पर उ.प्र. संस्कृत अकादमी पुरस्कार (1976)
2. अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन द्वारा उत्कृष्ट शोध पत्र लेखन हेतु पुरस्कार (1978)

3. 'वाल्मीकि विमर्श' पर संस्कृत अकादमी पुरस्कार (1976)
4. संस्कृत नाटक 'कुन्दमाला' के अनुवाद पर म. प्र. साहित्य परिषद् का 'राजशेखर पुरस्कार' (1982)
5. 'भाटकद्वात्रिंशिका' पर म.प्र. संस्कृत अकादमी का व्यास पुरस्कार (1987)
6. 'दमयन्ती' हिन्दी नाटक पर साहित्य कला परिषद्, दिल्ली का पुरस्कार (1989)
7. एशियाटिक सोसाइटी बम्बई का म. म. पी. व्ही. काणे स्वर्णपदक (1989)
8. कालिदास की समीक्षा परम्परा पर अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् पूना द्वारा सर्वश्रेष्ठ शोधकृति का पुरस्कार, 1988-89 (हरिद्वार सन में 1990 में प्रदत्त)
9. 'दमयन्ती' हिन्दी नाटक के लिए मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'वागीश्वरी' पुरस्कार, (1990)
10. 'कालिदास की समीक्षा परम्परा' पुस्तक के लिए म.प्र. संस्कृत अकादमी का भोज पुरस्कार (1992)
11. 'लहरी दशकम् 'के लिए उ.प्र. संस्कृत अकादमी का कालिदास पुरस्कार (1993)
12. 'सन्धानम्' संस्कृत काव्य संग्रह के लिए साहित्य अकादमी नई दिल्ली का पुरस्कार (1994)
13. हिन्दी अकादमी कलकत्ता का राष्ट्रीय हिन्दी रत्न सम्मान (1994)
14. 'गीतधीवरम्' के लिए म. प्र. संस्कृत अकादमी का कालिदास पुरस्कार (1996)
15. अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन का पुरस्कार (1972 तथा 1998)
16. कनाडा का रामकृष्ण संस्कृत पुरस्कार (1998)
17. मध्य प्रदेश कालिदास पुरस्कार (1999)
18. नाट्य शास्त्र विश्व कोश पर के. के. बिड़ला फाउण्डेशन का शंकर पुरस्कार (2000)
19. 'सम्प्लवः' के लिए म. प्र. संस्कृति परिषद् का पुरस्कार, (2000)
20. मध्य प्रदेश कालिदास पुरस्कार, (2002)
21. हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा संस्कृत महामहोपाध्याय का सम्मान (2006)

22. भवभूति सम्मान (नाट्यायन ग्वालियर) - (2006)
23. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का 'वेदव्यास' सम्मान, 2006 सम्मान पत्र 2009 में प्रदत्त ।
24. 'नारायण शास्त्री कांकर' सम्मान, जयपुर, 2007।
25. मध्य प्रदेश संस्कृत बोर्ड का 'संस्कृत गौरव' सम्मान 2007।
26. दिल्ली शिक्षा ग्राम खेल विकास संघ एवं हेल्थ युनिवर्स फाउण्डेशन द्वारा 'राधाकृष्ण स्मृति' सम्मान 2008।
27. पूर्वांचल संस्कृत प्रचार परिषद् कलकत्ता का विद्यालंकार सम्मान।
28. लोकसभा प्रचार समिति का 'जयदेव सरस्वती' सम्मान (2009)
29. हेल्पफुल सोसाइटी का 'राजीव गाँधी सद्भावना' सम्मान, (2009)
30. स्वामी जयेन्द्र सरस्वती द्वारा 'विशेष अवतार महोत्सव' सम्मान।
31. डेक्कन कालेज, पूजा द्वारा मानद 'डी. लिट्' उपाधि, (2010)।
32. महाराष्ट्र सरकार का 'जीवनव्रती' संस्कृत सम्मान (2010)।
33. कुज्जनी राजा ट्रस्ट द्वारा 'राजप्रथा' पुरस्कार (2010)।
34. देववाणी परिषद्, नई दिल्ली द्वारा 'पण्डितराज जगन्नाथ' सम्मान, (2011)।
35. सुत संवर्धन समिति द्वारा आचार्य श्री सुमति सुत संवर्धन पुरस्कार, 2011।
36. 'मीरा फाउण्डेशन, इलाहबाद द्वारा 'मीरा' सम्मान, (2012)।
37. कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली द्वारा 'कुन्दकुंद्' सम्मान, (2012)।

अन्य सम्मान-

1. अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन (पुरी अधिवेशन) के लिए 'काव्यशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र खण्ड के अध्यक्ष निर्वाचित।
2. वाराणसी अधिवेशन (2004) के लिए आधुनिक संस्कृत साहित्य खण्ड के अध्यक्ष निर्वाचित।
3. 'कम्बन सम्मान' हिन्दी अकादमी, कलकत्ता ।
4. हिन्दी में कुछ कहानियाँ अखिल भारतीय प्रतियोगिताओं में पुरस्कृत।

अन्य उपलब्धियाँ -

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी ने अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलनों सहित अन्य सम्मेलनों की अध्यक्षता की। अनेक व्याख्यान मालाओं में प्रमुख व्याख्याता के रूप में अपना वक्तव्य दिया। उनके निर्देशन में अनेक शोध-योजनाओं पर कार्य चल रहा है उन्होंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली की अनेक शोध योजनाओं को पूर्ण करने में अपना सहयोग प्रदान किया। यही नहीं इनके नेतृत्व में 25 से अधिक भारतीय संगोष्ठियों का आयोजन किया गया।

इनके ही अथक प्रयासों के परिणाम स्वरूप डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के संस्कृत विभाग में पी.एच.डी. हेतु शोधकार्य हुआ तथा विभिन्न रचनाओं पर शोध कार्य जारी है।

(ख) कृतित्व -

नीरक्षीर विवेकी समीक्षक व साहित्यकार डा. राधावल्लभ त्रिपाठी की काव्यधारा सतत प्रवाहमान है। साहित्य जगत उत्थान हेतु निरन्तर साधनारत, युग सर्जक आचार्य त्रिपाठी जी का संस्कृत साहित्य को अप्रतिम योगदान है। आज अपने इसी कृतित्व के बल पर वह परिचय की अपेक्षा नहीं रखते है। उन्होंने अपने अनूठे साहित्यिक अनुदान को माँ भारती के श्री चरणो में अर्पित कर भारतवर्ष को विश्व में गौरवान्वित किया है। बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्पन्न कविवर राधावल्लभ जी अनेक भाषाओं में निपुण और सृजन के प्रति समर्पित है। इनकी रचनाओं को पढ़नें से सहृदय पाठक के मन में श्रद्धा भाव स्वभाविक रूप से जागृत हो जाता है तथा पाठक को असीम आनंद अनुभूति होती है। उन्होंने जहां संस्कृत के नव काव्य संवर्धन में उल्लेखनीय योगदान दिया, वही अनेक प्राचीन छन्दों में काव्य का प्रणयन कर संस्कृत काव्य को एक नया आयाम प्रदान किया। साहित्य साधना में अनवरत लगे हुए उन्होंने अपनी उर्वरा लेखनी से विपुल साहित्य का सृजन किया है।

आचार्य त्रिपाठी ने अपने साहित्य आधुनिकता तथा परम्परा का समन्वय स्थापित करते हुए सृजनात्मक लेखन किया है। इनकी रचनाओं में सौष्ठवता, वाणी में मेघ गाम्भीर्य, गीतों में चैतन्य का अविष्कार, नृत्य करती हुई शब्दावली,

हंसती हुई लय-लतावली, उन्मीलित होती कल्पना अपनी छटा इस प्रकार बिखेरती चलती है, मानों मतवाले हाथी के नूपुरो की ध्वनि हो। कविता हो या गद्य, कथा साहित्य हो या नाटक, काव्यशास्त्र हो या नाट्य शास्त्र सभी क्षेत्रों में नवीन मापदण्ड़ों व वर्तमान की आवश्यकता को ध्यान में रखकर इन्होंने व्यापक मौलिक सृजन किया है।

उनके अनुसार -

"रचना मुक्ति देती है, योग-साधना, ईश्वर आराधना से मुक्ति होती है या नहीं, यह मुझे विदित नही पर रचना से होती है। मुक्ति वस्तुतः यही है, यही वास्तविकता है।" यशलाभ व प्रचार की लिप्सा से दूर रहकर डा. त्रिपाठी जी की लेखनी से अब तक उच्च कोटि के ग्रन्थों तथा शताधिक शोध पत्रों का प्रणयन हो चुका है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने किशारोवस्था से ही लेखन के क्षेत्र में कदम बढ़ाने प्रारम्भ कर दिये थे। उनके लिखे हुए लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में यत्र-तत्र छपना प्रारंभ होने लगे। इनमें प्रमुख रूप से सातवलेकर जी की 'अमृतलता' एवं वी. राघवन की 'संस्कृत प्रतिभा' में इनकी 'कादम्बरी' और 'अभिस्मरणीया स्मृति' जैसी प्रारम्भिक रचनायें प्रकाशित हुई।

सागर विश्वविद्यालय की पत्रिका में ही उन्होंने 'अभिप्सा' नामक पारम्परिक छन्द में 'अयिग्रावन्' शीर्षक की मुक्त छन्द कविता तथा 'महाकवि कण्टकः' के नाम से एक लम्बी हास्य कथा छपवाई थी। संस्कृत साहित्य में इन्होनें खण्ड काव्य, महाकाव्य, नाटक, निंबध गीत आदि विविध विधाओं पर कलम चलाकर उसे सम्पन्नता प्रदान की।

आचार्य राधावल्लभ जी का कथन है कि - ''जिन चीजों को मैं संस्कृत में लिख सकता था, उन्हे संस्कृत में लिखा, जिन्हे हिन्दी में लिख सकता था, उन्हें हिन्दी में लिखा, जिनका अनुवाद कर सकता था, उनका अनुवाद किया।"[10] अपनी रचनाओं के दूसरी भाषाओं में अनुवाद पर त्रिपाठी जी कहते है - ''किसी भाषा में हम जो रचना करते हैं, उनका एक संसार होता है, दूसरी भाषा में अनुवाद करने पर वह संसार भी बदल जाता है।'[11] इन्होंने मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी का अनुवाद किया है। हिन्दी में इनकी पहली कहानी 1981 में 'इलाहाबाद की नर्क कहानियां' पत्रिका में छपी। अपनी संस्कृत प्रहसन की परम्परा नामक पुस्तक में

इन्होंने अनेक प्रहसनों का हिन्दी अनुवाद किया है। प्रेक्षणसप्तकम् के सात एंकाकी, सुशीला एवं तण्डुलप्रस्थीयम् नाटकों का अनुवाद कर उन्हें प्रकाशित करवाया है। साथ ही विक्रमचरितम् व उपाख्यानमालिका नाटक गद्य रचना का भी हिन्दी अनुवाद किया है। इन्होंने समसामयिक भारतीय साहित्य की रचनाओं का भी संस्कृत अनुवाद किया और नवीन युग के समानान्तर संस्कृत में नये गद्य की सृष्टि की। उन्होंने मिल्टन और भवभूति पर तुलनात्मक लेख लिखकर किशोरावस्था में ही अपनी समीक्षात्मक बुद्धि का परिचय प्रस्तुत कर दिया था। इसी प्रसंग में उनकी ''संस्कृत साहित्यः बीसवीं शताब्दी" एक महत्वपूर्ण कृति है। केवल अध्ययन अध्यापन की दृष्टि से ही नहीं अपितु रंगमंच की दृष्टि से भी इनके अनेक नाटक महत्त्वपूर्ण है। इनके कई प्रेक्षणक व नाटक मंच पर खेले गये जैसे- धीवरशाकुन्तलम् और मेघ संदेशम् आदि।

इसी प्रकार सुशीला नामक प्रेक्षणक राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के भारतरंग महोत्सव में खेला गया तथा प्रथम स्थान प्राप्त किया। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी इनकी रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित हुये। मराठी की 'किर्लोस्कर' और तेलगु की 'विपुला' ने त्रिपाठी जी की कई रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित किये है। डा. त्रिपाठी की काव्य संसार को जो अतिव्यापक देन है, उस बहुमुखी साहित्य के प्रति रसज्ञ नतमस्तक हैं। ''हर्षदेवमाधव" नें कहा है-

"कदाचित् आधुनिक साहित्ये 'सन्धानम्' कृत्वा सहृनदयानां मनांसि धूर्णयति व शिरांसि साधुवादैः नामयति।"[12] ''लहरी दशकम् रचयित्वा प्रवाहयति नूतनान भावान्, प्रवाहयति 'गीतनौका' धीवरा भूत्वा कविरयं राधावल्लभः।"[13]

आधुनिक संस्कृत रचनाओं के निर्माता व उपासक आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा निर्मित साहित्यमाल के काव्य पुष्पों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

प्रो-राधावल्लभ त्रिपाठी की संस्कृत रचनाओं का परिचय -

गद्य साहित्य -

गद्य साहित्य के अन्तर्गत डा. त्रिपाठी जी ने उपन्यास व कथा साहित्य के अन्तर्गत कथा व आख्यायिका दोनों ही विधाओं पर अपनी समान लेखनी चलाई है तथा एक उपन्यास की रचना भी की है। उनकी गद्य रचनायें निम्न प्रकार है-

(1) अभिनव शुकसारिका[14] -

त्रिपाठी जी ने अपनी इस रचना में अनेक कहानियों का सृजन किया है। इसमें शुक व सारिका की कथा को नवीन परिष्कृति के साथ प्रस्तुत करते हुए कहानियों को कथा प्रत्याख्यान, कथान्तर, पुनः कथारम्भ ओर कथासंहार तथा कथाप्रतिवाद इस प्रकार पाँच कथाखण्ड़ों में विभक्त किया गया है। कथा के प्रारम्भ में इन्द्रमौलि प्रोफेसर व धूरामल जो कई कम्पनियों का मालिक है दोनों पड़ोसी है, शशिधर इन्द्रमौलि का पुत्र है तथा जीवरसायन में शोध कर रहा है। वह शोधवृत्ति मिलने पर शिकागो जाने को तैयार है। शम्पा धूरामल की पुत्री है तथा समाजशास्त्र में शोध कर रही है। जाते समय शशिधर को शम्पा एक परफ्यूम की शीशी देती है कि इसकी सुगन्ध जब तक रहेगी तब तक इसे रखने वाला चरित्रवान रहेगा। शशिधर शम्पा को एक पिंजरे में शीलभद्र तोता व मेघाविनी नाम की मैना देते हैं, जो बुरे वक्त में सलाह देकर उलझन से बचायेंगे। यही से तोता मैना का किस्सा प्रारम्भ होता है।

प्रथम कथा में मोटी नायिका का शत्रुघ्न प्रसाद से बेमेल विवाह कर दिया जाता है। सर्वत्र उनका उपहास होता है, किन्तु गुणों के आधार पर वह सभी को जीत लेते है। कथा का उद्देश्य है कि गुण व बुद्धि के सहारे प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाया जा सकता है।

दूसरी व तीसरी कथा अमेरिका परिवेश पर लिखी गई है। यघपि बाहरी चमक- दमक प्रभावित जरूर करती है तथापि भारतीय संस्कृति के प्रति आज भी विश्व की संस्कृति नत है।

चतुर्थ कथा में स्त्री-पुरूष की मित्रता का विरोध किया गया है। सरला की विवाह से पूर्व मुस्लिम युवक से अन्तरंगता होती है तथा वह उसे धर्म परिवर्तन पर बाध्य करता है। इस्लाम ग्रहण न करने पर वह उसे छोड़कर चला जाता है। इसमें नायिका के साथ हुए विश्वासघात व एकाकीपन को दर्शाया गया है।

पंचम कथा स्त्री शिक्षा का महत्व स्पष्ट करती है। इस कथा की नायिका मोहिनी है। मोहिनी चर्मकार समाज में पैदा होने पर भी स्वंय को हेय नही मानती। अपने पति के प्रशासनिक अधिकारी होने पर अशिक्षित मोहिनी स्वंय को अपमानित महसूस करती है। तथा प्रौढ़ावस्था में शिक्षा ग्रहण करती है। यह कथा

समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों, अशिक्षा, बालविवाह, जातिप्रथा आदि की ओर संकेत करती है।

अन्तिम कथा में पत्नि-पत्नि के अहम के कारण टकराव की स्थिति बताई गई है। यघपि उन में अंत में समझौता हो जाता है। किन्तु दाम्पत्य में प्रेम का वह स्फुरण नहीं होता जो होना चाहिए।

इन कथाओं में प्रवाह तथा गतिशीलता हेतु स्थान-स्थान पर मुहावरें व लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा में किया जाता है। रोचकता युक्त यह कथायें त्रिपाठी जी का नवीन व वैचित्रपूर्ण प्रयोग है।

(2) विक्रमचरितम् (2002)[15]

प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इसमें आख्यान हास्य व व्यंग्य का अद्भूत मिश्रण है। यह आधुनिक राजनीति की झलक प्रस्तुत करता है। जिसका नायक राखपुर गाँव का घूकर नाम का सूकर है। यह तिलक सिंह की हवेली के पीछे दुर्गन्ध युक्त गलियारे में अपनी सोलह शूकरियों के साथ रहता है। शूकर एक दिन उन्मादित होकर तिलक सिहं के घर में घुस जाता है। वहाँ उसकी बहुत पिटाई होती है। पिटाई से आहत शूकर जंगल में चला जाता है तथा घुणाक्षर न्याय से वहाँ का राजा बन जाता है। अपने विश्वासघाती मित्रों द्वारा वह मृत्यु के मुहँ में पहुँचा दिया जाता है, किन्तु विक्रम सिंह नामक सिंह में याचना करने पर अभयदान प्राप्त करता है। फिर भी उसके मन में राज्य प्राप्ति की अदम्य लालसा रहती है। इस आख्यान का प्रमुख उद्देश्य राजनीति की विविध विकृतियों का वर्णन है। आख्यान की भाषा सरल सुबोध व पात्रानुकूल है। डा. त्रिपाठी का यह आख्यान उनकें बहुआयामी चिन्तन और राजनीति व परिवेश में आये युगान्तकारी परिवर्तन को प्रस्तुत करता है।

(3) करूणा (2005)[16]-

वह एक लघु उपन्यास है। इसका सम्पादन 'नारायणदास' ने किया है। नारायणदास कहते हैं कि यह उपन्यास के नाम से प्रकाशित है, परन्तु इसमें उपन्यास की धाराओं - उपधाराओं का अभाव है, पात्र भी अत्यन्त सीमित है।

इस उपन्यास में थाई संस्कृति से प्रभावित किंतिफोम के जीवन का संघर्ष है। किंतिफोम की माता तोड़ली पालवोट की नृसंशता का शिकार होकर थाईदेश में प्रवेश करती है। तोड़ली दूसरों के घरों में काम करके किंतिफोम का पालन-पोषण करती है परन्तु वह भी दिवंगत हो जाती है। भूख से पीड़ित किंतिफोम को एक बौद्ध भिक्षु सिरिकत अपनें साथ ले जाते हैं। वहाँ बालक किंतिफोम पर चोरी का आरोप लगाकर बाल कारागार भेज दिया जाता है। इसमें बौद्ध मठों की अराजकता व पतनशीलता का भी वर्णन है।

जेलर अराइसी को किंतिफोम की निर्दोषता पर विश्वास है वह उसे अपने मित्र सथित के वहाँ रखता है। किंतिफोम सथित के वस्त्र व्यवसाय में भी सहयोग करता है। सथित की संस्कार विहीना पुत्री विपदा का विवाह किंतिफोम के साथ हो जाता है। किंतिफोम अपनी पत्नि की इच्छायें पूरा करनें में असमर्थ रहता है अतः विपदा देह व्यापार में संलग्न हो जाती है। दुःखी किंतिफोम बैंकोक छोड़कर च्याङ्गभाई चला जाता है। अंत में नाटकीय स्थिति में उसका अपनी पुत्री चित्रिता से मिलन होता है तथा विपदा की मृत्यु का पता चलता है। वर्णनात्मक शैली में लिखित इस उपन्यास की भाषा सरल, शिल्प की सहज श्रेष्ठता व सम्प्रेषणीयता प्रस्तुत कथा को प्रशस्य स्थान प्रदान करती है।

(4) उपाख्यानमालिका[17] -

यह मिथक, इतिहास व पुराकथा सभी का मिश्रित एक पौराणिक उपाख्यान है। इसमें शौनकादि ऋषियों के आग्रह पर सूत जी एक विचित्र उपाख्यान सुनाते हैं। इसमें अंधविश्वासों के खण्डन, मत मतान्तरों के खण्डन - विखण्डन नामक भालू का रोचक शैली में वर्णन है। जरद्गव के अस्तित्व पर खण्डन नामक पुस्तक का प्रकाशन और जरद्गव का प्रत्यक्ष दर्शन, जरद्गव वार्ता तथा उसकी अनेक प्रेमिकाओं का वर्णन आदि द्वारा लेखक नें अफवाहों का खण्डन किया है। फ्रांस से मिनी जरद्गव के अध्ययन के लिए भारत आयी है।

द्वितीय अध्याय में मिनी का जीवन परिचय वर्णित है। मिनी के माता - पिता लुइस व शीला का मन मुटाव और असाध्य रोग से पीड़ित होने के कारण शीला का मिनी को लुइस का सौपना तथा अंत में क्षय रोग से लुईस की मृत्यु का वर्णन है।

चोथे अध्याय में मिनी द्वारा जरद्गव की दो बार रक्षा तथा पुरातन भारतीय जीवन शैली तथा नवीन पाश्चात्य जीवन पद्धति आदि का वर्णन है। भाषा शैली का अद्भुत प्रवाह व कथा की रोचकता व वैचित्र्य पाठक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट किये रहता है।

द्वितीय उपाख्यान में प्रकृति व मानव के संवेदनशील विषयों को बिन्दु बनाकर मालिनी नदी का मानवीकरण किया गया है। उपाख्यान अभिनव शाकुन्तलम् में साहित्य व जीवन का अद्भुत समन्वय है। रघुवीर तथा शकुन्तला के सफल दाम्पत्य का संकेत लेखक ने दिया है। यह सभी उपाख्यान अपनें समय व समाज की समस्याओं, परिस्थितियों व यथार्थ को प्रस्तुत करनें में सफल रहे हैं। शिव व उमा के उपाख्यान में कुमार सम्भवम् की संस्कृति और वर्तमान में आधुनिक नारी की परिवर्तित मनः स्थिति तथा उमा द्वारा शिव का अस्वीकार है। पौराणिक धरातल पर खड़े होकर त्रिपाठी जी ने वर्तमान की समस्याओं विडम्बनाओं और मनोदशाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है।

इस प्रकार प्रथम उपाख्यान में भारत की सनातन संस्कृति, द्वितीय उपाख्यान में आधुनिक समाज की अभिव्यञजना व ज्ञान विज्ञान की अंधी दौड़ में प्राकृतिक शक्तियों का विघटन, तृतीय उपाख्यान में प्रेम, समर्पण, त्याग, चतुर्थ उपाख्यान में परिवर्तित परिवेश व यांत्रिक होते मनुष्य का वर्णन है। समाज के साथ साहित्य का समन्वय स्तुल्य है। कवि की यह गद्य कृति अपने सम्प्रेषण रोचकता व भावबोध के कारण आधुनिक संस्कृत गद्य की अनुपम कृति है।

नाट्य साहित्य -

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें नाट्य सृजन उसी प्रकार किया जिस प्रकार एक साधारण व्यक्ति बाँस से डण्डा बनाता है, किन्तु एक कुशल उससे वेणु बनाता है। विद्वत समाज को वेणु के स्वरों की भांति रमणीय लगनें वाले उनके संस्कृत नाटक इस प्रकार है-

(1) प्रेमपीयूषम्[18] -

1970 में संस्कृत परिषद् सागर से प्रकाशित यह नाटक भवभूति के जीवन पर आधारित है। नाम से ही स्पष्ट है कि यह नाटक प्रेम पर आधारित है यद्यपि

इसमें ऐतिहासिकता भी है तथा काल्पनिकता के साथ नवीनता का भी सम्मिश्रण है।

(2) तण्डलु- प्रस्थीयम् [19] -

लोक कथा पर आधारित यह दस अंको का नाटक है तथा हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित है। यह नाटक की "प्रकरण" विधा के अन्तर्गत आता है। इसमें एक बालक के जीवन का संघर्ष चित्रित है। नाटक का निम्नवर्गीय नायक जब जन्म लेता है तब उसके पिता जमींदार के घर के कुएँ से पानी लाने के जुर्म में बंदी बना लिये जाते है, नायक विद्यार्जन करके कुछ वर्षो के पश्चात् अपने पिता को ढूँढने निकलता है तथा पानी की समस्या से मुक्ति दिलानें के लिए गाँव में नहर लानें में सफल हो जाता है, निरंजन को स्थान-स्थान पर दुःख व संघर्ष झेलना पड़ता है। राजकुमारी शारदा निरंजन के निष्कलंक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसके जीवन के संघर्षो को सुगम बना देती है।

इस नाटक में वर्तमान समाज की अनेक समस्याओं की ओर ध्यान इंगित किया गया है। इसमें जमीदारों के शोषण से लेकर जनतांत्रिक व्यवस्था आदि जन समस्याओं की ओर उनके हितार्थ बनायी विविध योजनाओं का उल्लेख किया गया है। नाटक की भाषा सरल, सहज, प्रवाहमयी है। हिन्दी मुहावरों का संस्कृत में प्रयोग भाषा को नई गति प्रदान करते हैं । यथा -

'गुरूर्गुडायितः शर्करायितश्च शिष्यः। (तण्डलु. पृ.-40)

'इत्थं च सर्पोऽपि भूतो यष्टिकाऽपि न भग्ना। (तण्डलु. पृ.-83)

'इयमुत्खनति पर्वते मुषकस्थोपलब्धिः। (तण्डुल. पृ.-82)

इस रचना को कवि स्वयं की श्रेष्ठ रचना मानते है।[20]

(3) प्रेक्षणसप्तकम्[21] -

सात प्रेक्षणकों के संग्रह इस नाटक में वर्तमान की अनेक समस्याओं की ओर संकेत किया गया है। सात प्रेक्षणक इस प्रकार हैं - सोमप्रभम्, मेघसन्देशः, धीवरशाकुन्तलम्ः, मुक्तिः, मशकघानी, गणेशपूजनम् तथा प्रतीक्षा।

यह नुक्कड़ नाटक से प्रभावित रचना है। सातों एंकाकियों में वर्तमान समाज में व्याप्त सामाजिक समस्याओं का चित्रण है।

सोमप्रभम् - प्रथम एकांकी 'सोमप्रभः' में वर्तमान समाज के लोभी सास-ससुर द्वारा दहेज के कारण बहु को जला देने की कथा है।

मेघसन्देशः - द्वितीया एंकाकी 'मेघसन्देशः' पर्यावरण पर आधारित है। एक बालक के सरल विश्वास को जीवित रखने के लिए नाटककार को वर्षा का आयोजन करना पड़ता है।

धीवर शाकुन्तलम् - कलिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् पर आधारित इस नाटक का नायक धीवर है। शकुन्तला की अँगूठी मछली का पेट चीरने पर एक मछुआरे को मिली है। जिसे वह सुनार के पास बेच देता है। राजपुरूष उसे पकड़कर राजा दुष्यन्त के पास ले जाता है। दुष्यन्त को अँगूठी देखकर शकुन्तला का स्मरण हो आता है। अतः वह अँगूठी रखकर धीवर अपनी प्रेमिका का नाम शकुन्तला बताता है तो राजपुरूष उसे पीटता है तथा उसका धन छीनकर उसे मदिरालय से बाहर फैंक देता है। उसकी प्रेमिका उसे ढूँढती हुई वहाँ आती है तथा दोनों घर बसाने का निश्चय कर वहाँ से चल देते है। यह नाटक मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी की नाट्य स्पर्धा में पुरस्कृत हुआ है तथा रेडियो रूपक के रूप में आकाशवाणी से इसका प्रस्तुतीकरण हो चुका है।

मुक्ति - 'मुक्ति' एक प्रतीकात्मक प्रहसन और हास्य पूर्ण प्रेक्षणक है और मनोरंजक ढंग से यह संदेश देता है कि अपने घर परिवार और समाज के प्रति दायित्व पूरा करनें में ही मनुष्य की मुक्ति है।

मशकधानी - 'मशकधानी' (मच्छरदानी) भी एक हास्य व्यंग्य पूर्ण प्रतीकात्मक प्रेक्षणक है। सूत्रधार, जब नाटक की प्रस्तावना करनें लगता है उसी समय से मच्छर काटते है। तब चार पुरूष मंच पर मच्छरदानी लेकर आते है।

सूत्रदार मच्छरदानी देखकर प्रसन्न होता है। किन्तु वह उसे झिड़कते हुए कहते हैं यह मच्छरदानी अपनें स्वामी श्रेष्ठी के लिए लाए हो। श्रेष्ठी द्वारा गलत संस्कृत प्रयोग तथा सूत्रदार पर क्रोधित होना इस एंकाकी में व्यंग्य है।

गणेश पूजनम् - समाज के कुछ स्वार्थी तत्वों द्वारा अनुचित चंदा वसूला जाने पर आधारित है।

प्रतीक्षा - मध्यम वर्गीय परिवार की झलक है। कल्पना नौकरी करती है। उसकी छोटी बहन अभी पढ़ रही है तथा भाई बेरोजगार है। उसके पिता सेवानिवृत हो

चुके हैं। कल्पना अपने कार्यलय से नही लौटती। नगर में व्याप्त हिंसा व अत्याचारों के भय तथा बिजली गुल होने से तथा आँधी व वर्षा के कारण आतंक का अनुभव होने लगता है। अन्ततः कल्पना घर लौट आती है। बेटी पर अविश्वास के कारण पिता को पश्चाताप होता है।

(4) सुशीला[22] -

2002 में प्रकाशित इस नाटक में सुशीला के संघर्ष की कहानी है। समाज की अन्य महिलायें पुरूष की सत्ता को स्वीकार कर चुकी है किन्तु सुशीला स्त्री पुरूष को बराबर मानती है।

इस नाटक का विभाजन कई दृश्यों में किया गया है। इसमें सुशीला के पति देव शर्मा व उसके पुत्र किशन की कथा है जो उसमें बिछुड़ जाते है। नाटक के छः दृश्यों में सुशीला नाटक की अभिनेयता व सरलता दृश्य संयोजन सभी दृष्टियों से एक श्रेष्ठ नाटक है। इस नाटक में जीवन की व्यथा, विसंगति, संघर्ष, जिजीविषा और नियति के विधान की सांकेतिक व्यंजना है। इस नाटक के संवाद सरल, सहज व स्वाभाविक है -

स्त्री 5 - न इदानी भेतत्यम्। यवता विभेम तावत्वैव भावयन्ति पुरूषा अस्मान्।
यदि साहस कुर्यस्तर्हि न किमपि कुर्यात् पुरूषः।

स्त्री 1 - सत्यम्, सत्यम्। स्त्री आत्मनैवात्मानमुद्वरेत्। आत्मनैव तथा
जीवितत्यम्।

सुशीला - जीविष्यति स्त्री, मरिष्यति पुरूषः। (सुशीला पृ. 8)

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ -

"अभिनव काव्यालंकार सूत्र"[23] - इस काव्यशास्त्रीय कृति में डा. त्रिपाठी ने काव्य को सीमित परिवेश में न बाँधकर वैश्विक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। प्रथम अधिकरण के पाँच अध्यायों में काव्य के स्वरूप का वर्णन है। आ. त्रिपाठी के अनुसार काव्य लक्षण है -

"लोकानुकीर्तनम् काव्यम्"। (1-1-1)

लोक से उनका आशय है आधिभौतिक, आधिवैदिक व आध्यत्मिक तीनों प्रकार के लोकों से है। अनुकीर्तन शब्द का विषय है अतः शब्द की परिधि में

निर्दुष्ट, सगुण, सालंकार, रसाभिव्यंजक शब्दार्थ को ग्रहण किया जाता है। काव्य का प्रयोजन मुक्ति है-

"मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम्"(1-2-6)

''मुक्ति से अभिप्राय आवरण भंग है, आवरण से अभिप्राय है कवि व सहृदय दोनों का संकुचित प्रमातृत्व समाप्त हो। काव्य प्रतिभा के दो भेद स्वीकार किये गये है -

(1) संस्कार रूपा

(2) जागरिता

रसगंगाधार के समान इन्होंने भी काव्य के चार भेद उत्तमोत्तमा, उत्तम, मध्यम व अवर स्वीकार किये हैं । उन्होंने मम्मट के उत्तम काव्य उदाहरण का खण्डन किया है। वृत्तियों के निरूपण में त्रिपाठी जी ने शब्द का एक मात्र व्यापार संकेत माना है तथा अभिधा व व्यंजना उस संकेत व्यापार के भेद स्वीकार किये है।

द्वितीय अधिकरण में अलंकारो के वर्णन में उन्होने आभ्यान्तर व बाहनय अलंकारो के दो भेद मानें है।

अभ्यान्तर अलंकारों में प्रेम, आहलाद, विषादन, विभीषिका, व्यंग्य, कौतुक, जिजीविषा, अहंकार, स्मृति, साक्ष्य और उदात्त ग्यारह भेद मानें गये हैं। जिसके चार भागों में संघटनाश्रित, विरोधमूलक, औषम्यमूलक तथा वृत्तिमूलक है।

तृतीय अधिकरण में काव्य भेदों का निरूपण है। इसमें गीतिकाव्य, रागकाव्य, मुक्तक, मुक्तच्छन्दकाव्य, गजलगीति, समस्या, निबन्ध, कथा, उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनचरित्र, यात्रावृतान्त, नाटक, आदि अर्वाचीन प्राचीन सभी काव्यों के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। इस ग्रन्थ में प्राचीन व नवीन का मणिकांचन संयोग है। सूत्र वृत्ति कारिका तथा परिकर श्लोकों का आश्रय लेकर काव्य के मौलिक तत्वों की समीक्षा करनें वाला आधुनिक काव्यशास्त्र का यह अनूठा व अद्भुत ग्रन्थ है।

काव्य -

(1) सन्धानम्[24]

1986 में सागर से प्रकाशित यह उनके मौलिक संस्कृत काव्य का संग्रह है। इसमें 53 काव्यरचनाओं कथ्य एवं काव्य स्वरूप के आधार पर 5 गुच्छों में विभाजित किया गया है। काव्यगुच्छों का योजना क्रम इस प्रकार है -

(1) अन्तर्यवनिका

(2) बहिर्यवनिका

(3) लहरीलीलायितम्

(4) गीत वल्लरी

(5) नमोवाक्

अन्तर्यवनिका की कविताओं में आन्तरिक भावों व्यापारों का बाह्य पदार्थों के साथ सादृश्य के आधार पर चित्रण हुआ है। इसमें अपने एकाकीपन की अभिव्यक्ति कवि ने इस प्रकार की है -

स्थास्याम्यहमेकाकी स्याणुः प्रेमवचनं यथा।

नरमो निष्प्रभशाखश्च भस्मीभूतमनोरथः।(संधानम् पृ.-10)

द्वितीय काव्यगुच्छबहिर्जवनिका में सरोवर जलप्रपात, मेघच्छाया, इन्द्रधनुष, काव्य गोष्ठी जैसे प्रंसग और अन्योक्ति समस्या पूर्ति तथा बाह्य पदार्थों एवं प्रसंगों के स्वाभाविक चित्र है। शुष्क सर में जलाशय का सजीव चित्रण किया है। वहीं धूमाधार प्रपातः में ‘‘घूमाधारकप्रतापोऽयं विहसन्निव दृश्यते’’ कल्पनाओं के सुन्दर प्रयोगों के द्वारा घूमाधार प्रपात के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत किया है।

लहरीलीलायितम् में लहरियों का निबन्धन हुआ है। गीतवल्लरी में विक्रमगीतम्, प्रेमगीतम्, लोरीगीतम्, ध्रुवागीतम् आदि व गीतधीरवम् संग्रहित हुई।

(2) गीतधीवरम्[25]

1995 में संस्कृत साहित्य परिषद् सागर से ’गीतधीवरम्’ का प्रकाशन हुआ। इसे डा. धर्मेन्द्र कुमार सिंहदेव ने रागकाव्य का प्रतीक कहना अधिक युक्तिसंगत कहा है।

इस काव्य का नायक तथा नौकाचालक धीवर प्रतीक मात्र है। इसमें 9 सर्ग हैं तथा 36 गीत हैं, कवि ने प्राचीन में अभिनव का सृजन किया है। सागर की लहरें तथा झंझावत उसे विचलित कर अद्वैत परम्परा के आधार पर रज्जु में सर्प का भम्र खत्म होने पर उसे विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार जीवन संघर्ष करता हुआ धीवर वेदान्त के जीव का प्रतीक है।

(3) सम्पलव[26]

(2000) संस्कृत काव्य संग्रह है। तथा प्रति प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। यह काव्य संग्रह सात आर्वतों में विभाजित है। प्रथम आवर्त अवगाहनम् में 7 कविताओं का संकलन है। द्वितीय आवर्त प्रश्नविवार्ताः में 8 से 24 कविताओ में विविध विषयों को विषय बनाया गया है। तृतीय आवर्त गजंजलम् में 25 से 35 कुछ गजलों का संकलन है। चतुर्थ आवर्त में 'सुषमा संवलनम्' में भोपाल, केरल, उत्तरांचल आदि स्थानों के सौंदर्य का वर्णन व अन्य विषयों पर आधारित है। पंचम आवर्त 'दण्डकारण्यम्' है। इसमें विन्ध्याचलदण्डकम्, हरिद्वारम् व मसूरी का वर्णन है। षष्ठ आवर्त में गद्य विधि है। इसमें उपशारदाविवाहम् व अनुशारदाविवाहम् है। सप्तम् आवर्त में लहरी पंचकम् में ग्रहलहरी, राधावल्लभलहरी, हिमालयलहरी, वाणीलहरी एवं काललहरी पाँच लहरीयों का संकलन है।

(4) लहरी दशकम्[27] -

लहरी दशकम् में 10 लहरीयों का संकलन है। जिनका क्रम इस प्रकार है -

(1) बसन्त लहरी (2) निदाधलहरी (3) प्रावृड लहरी (4) धरित्रीदर्शनलहरी
(5) जनता लहरी (6) रोटिका लहरी (7) नर्मदा लहरी (8) मृतिकालहरी
(9) अद्यापिलहरी (10) प्रस्थान लहरी।

बसन्तलहरी में कवि नें वर्तमान के यथार्थ का वर्णन किया है। वर्तमान में बसन्त विलुप्त हो गया है। जिस प्रकार शब्द स्मृति में आकर विलुप्त हो जाते है। 'निदाद्यलहरी' में ग्रीष्म की दाहकता की तुलना कवि नें आतकंवाद से की है। इसमें कवि ने ग्रीष्म की दाहकता राजस्थान में अकाल पशुओं के लिए चारें व

पानी का अभाव तथा प्रशासन के प्रयासों का आग लगने पर कुँआ खोदने वाली स्थितियों का वर्णन किया है।

"प्रावृड लहरी" में वर्षा ऋतु का वर्णन है। 'धरित्रीदर्शनलहरी' जर्मनी की विमान यात्रा तथा उससे होने वाले पृथ्वी के मनोरम दर्शन का आलौकिक चित्रण किया गया है।"

"जनता लहरी" में कवि ने दीन-दुःखी जनता की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण किया है। उच्च व अधिकारी वर्ग द्वारा गरीब व भोली-भाली जनता का शोषण हो रहा है, सारी व्यवस्था में भ्रष्टाचार व्याप्त है। इसके लिए चाहिए कि जनता जागरूक हो। नेताओं पर कवि ने व्यंग्य किये हैं तथा जनता की वेदना को सही अर्थों में महसूस किया है।

"नर्मदा लहरी" में नर्मदा नदी का वर्णन देवी रूप में किया गया है तथा इसे सिद्धीदात्री माना गया है। नर्मदा मध्यप्रदेश से प्रकट हुई है, किन्तु इससे गुजरात व महाराष्ट्र भी समृद्ध है।

"मृतिकालहारी'' में मिट्टी की महिमा का वर्णन किया गया है। मिट्टी से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना होती है। जीवन के विकास में मिट्टी का महत्वपूर्ण योगदान होता है। ''अद्यापिलहरी'' में संसार की सभी विसंगतियों और निराशाओं के बीच जीवन की आस्था की खोज है। वृक्ष की भाँति काटा जाता है जीवन, पुनः विकसीत हो जाता है।

"प्रस्थान लहरी'' में रोटी की आवश्यकता रोटी का उपार्जन बताया गया है तथा रोटी के स्वरूप दर्शनों में रोटी की उपयोगिता, जीवन की आद्याशक्ति के रूप में रोटी का वर्णन किया गया है।

परिसंवाद एवं सम्मेलन -

आचार्य राधावल्लभ जी के द्वारा सागर एवं दिल्ली में रहते हुए अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन भी करवाया गया। कुछ प्रमुख निम्न है-

1. न्याय दर्शन पर अखिल भारतीय कार्यशाला, संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर 24/09/1982 से 24/10/1982 (पुस्तक के रूप में

परिसंवाद प्रकाशित)

2. संस्कृत साहित्य के विकास में इस्लाम परम्परा का योगदान (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर 20/09/1984 से 22/09/1984 (पुस्तक के रूप में शोध पत्र प्रकाशित) ।
3. कोटिल्य अर्थशास्त्र पर अखिल भारतीय संगोष्ठी, संस्कृत विभाग डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, 16/09/1986 से 19/09/1986 (पुस्तक के रूप में शोध - पत्र प्रकाशित)।
4. पुनश्चर्या पाठ्यक्रम (महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के संस्कृत शिक्षकों हेतु) 11/07/1987 से 31/07/1987।
5. राष्ट्रीय एकता मे संस्कृत का अवदान (अखिल भारतीय संगोष्ठी)। संस्कृत विभाग, डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर 18/01/1988 से 21/01/1988 (पुस्तक के रूप में शोध पत्र प्रकाशित)।
6. आधुनिक संस्कृत साहित्य पर राष्ट्रीय संगोष्ठी ,संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर 05/12/1981/ से 07 /12/1981।
7. संस्कृत में भाषा विज्ञान परम्परा, अखिल भारतीय संगोष्ठी, संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 08/10/1990/ से 10/10/1990 (पुस्तक के रूप में शोध पत्र प्रकाशित)
8. संस्कृत शास्त्र परम्परा का पुनर्व्यवस्थापन, अखिल भारतीय संगोष्ठी, संस्कृत विभाग डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 09/01/1994 से 11/01/1994 (पुस्तक के रूप में शोध प्रकाशित)
9. बीसवीं शताब्दी का संस्कृत रंगमंच (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 23/03/1996 से 24/02/1996 (पुस्तक के रूप में शोध पत्र प्रकाशित)
10. संस्कृत काव्यशास्त्र में अभिनव चिन्तन, (अखिल भारतीय संगोष्ठी) संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर 25/03/1996 से 27/03/1996।
11. भारतीय शास्त्र परम्परा के वैदिक मूलाधार (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 06/09/1996 से 08/09/1996 (पुस्तक के रूप में शोध - पत्र प्रकाशित।

12. भारतीय शास्त्र परम्परा में पथ परिवर्तन, (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, 19/03/1997 से 21/03/1997 (पुस्तक के रूप में शोध-पत्र प्रकाशित।
13. संस्कृत साहित्य में वैदिक प्रभाव (अखिल भारतीय संगोष्ठी, संस्कृत विभाग), डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर दिसम्बर, 1997।
14. वेद एवं इतिहास पुराण का अन्तः सम्बन्ध (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, 1991।
15. नाट्यशास्त्र, संस्कृत नाटक और विश्व रंगमंच (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 05/01/2000 से 06/01/2000 (पुस्तक के रूप में शोध पत्र प्रकाशित)।
16. आत्मतत्व विवेक सत्र (कार्यशाला), संस्कृत विभाग डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 06/01/2000 से 06/01/2000 (पुस्तक के रूप में शोध पत्र प्रकाशित)।
17. आधुनिक संस्कृत साहित्य (अखिल भारतीय संगोष्ठी) संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 25/07/2000 से 27/07/2000 (पुस्तक के रूप में शोध-पत्र प्रकाशित।
18. वैदिक विश्व और आधुनिक विज्ञान, (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 17/10/2000 से 18/10/2000।
19. बीसवीं शताब्दी की शास्त्र परम्परा, (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 01/03/2001 से 02/03/2001।
20. भारतीय रंगमंच की संस्कृत नाटक और नाट्य परम्पराएँ, (अखिल भारतीय संगोष्ठी), संस्कृत विभाग, डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, 02/01/2005 से 03/01/2005।
21. भारतीय परम्परा में निगम और आगम का अन्तः सम्बन्ध , (अखिल भारतीय संगोष्ठी) संस्कृत विभाग. डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, 01/02/2007 से 03/02/2007 (पुस्तक के रूप मे शोध पत्र प्रकाशित)।
22. पालि साहित्य मे प्रतिबिम्बत बौद्ध परम्परा के वैश्विक संदेश, (अन्तर्राष्ट्रीय

संगोष्ठी) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2008।

23. भारतीय परम्परा में बहुलता और विविधता-प्राकृत साहित्य के संदर्भ में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 2009।

विश्वसंस्कृतसम्मेलन -

जनवरी 2012 में पन्द्रहवें विश्वसंस्कृत सम्मेलन का आयोजन आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा किया गया। जिसका उद्घाटन भारत के तात्कालीन प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने किया। इसमें भारत देश के अलावा विश्व के 32 देशों के संस्कृत विद्वानों नें भाग लिया।

आचार्य त्रिपाठी जी को देश-विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देने हेतु आमंत्रित किया जाता रहा है। विभिन्न राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों का उद्घाटन इन्हीं के उद्घाटन भाषण के साथ हुआ है। उनके द्वारा पूना विश्वविद्यालय में दिए गये व्याख्यान का संग्रह 'लेक्चर्स आन नाट्यशास्त्र (1991)' प्रकाशित है। शिल्पकोर्न विश्वविद्यालय तथा बैंकाक में तीन वर्षों तक अतिथि प्राध्यापक के रूप में कार्य किया तथा विभिन्न विषयों पर व्याख्यान दिए। कोलम्बिया विश्वविद्यालय तथा जर्मनी के हुम्बोलस विश्वविद्यालय में भी उन्हें अतिथि प्राध्यापक के रूप में आमंत्रित किया गया। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, पाण्डुलिपि मिशन तथा प्रमुख संस्थाओं में समय समय पर उनके व्याख्यान आयोजित होते रहे हैं।

प्रवर्तित महोत्सव एवं सम्मेलन -

1. युवमहोत्सव - राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के कुलपति बननें के पश्चात् संस्कृत - छात्रों के सर्वतोमुखी विकास हेतु 'युवमहोत्सव' का प्रारम्भ किया गया। प्रतिवर्ष इसका आयोजन राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के किसी भी परिसर में अनिवार्यतः किया जाता है।

2. अखिल भारतीय नाट्यमहोत्सव - त्रिपाठी जी द्वारा अखिल भारतीय नाट्यमहोत्सव के आयोजन की भी शुरूआत कि गयी। जिसके अन्तर्गत

नाट्यशास्त्र पर अधिकारी विद्वानों के व्याख्यान तथा सुप्रसिद्व निर्देशकों एवं अभिनेताओं की नाट्य प्रस्तुतियाँ करायी जाती हैं।

3. परिष्कृत कौमुदी महोत्सव - त्रिपाठी जी के आनें के पूर्व से ही राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान में वसन्तोत्सव या कौमुदीमहोत्सव के नाम से अन्तः परिसरीय नाट्यस्पर्धा का आयोजन किया जाता था। आचार्य जी नें अपनें कार्यकाल में इस उत्सव को परिष्कृत करते हुए नाटकों की विभिन्न श्रृंखलाओं में प्रस्तुति का निर्देश दिया जिसके परिणाम स्वरूप भास के समग्र नाटकों की श्रृंखला भी प्रस्तुत हो सकी। इसी क्रम में रामकथाश्रितनाटक तथा सामाजिक नाटकों की श्रृंखला भी प्रस्तुत की गयी। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान में विक्रय केन्द्र पर इन नाटकों की सी.डी. भी विक्रय हेतु उपलब्ध है।

4. पूर्वोतर राज्यों में संस्कृत सम्मेलन - डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने देश की एकता और अखण्डता में संस्कृत की भूमिका को प्रकाश में लानें हेतु पूर्वोत्तर राज्यों में संस्कृत सम्मेलनों के आयाजनों का प्रारम्भ करवाया। गंगटोक (सिक्किम), सिलचर (आसाम), दीमापुर (नागालैड), शिलांग (मेघालय) तथा गुवाहटी (आसाम) आदि में इन सम्मेलनों का सफल आयोजन हो गया है। इन पूर्वोत्तर राज्यों में आयोजित सम्मेलनों में प्रस्तुत शोधपत्रों का एक संग्रह भी संस्थान द्वारा प्रकाशित हुआ है।

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान को राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद् द्वारा 'ए' ग्रेड प्रो. त्रिपाठी जी के नेतृत्व में ही प्रदान किया गया।

विभिन्न व्याख्यान मालाएँ- प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के द्वारा राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान में विभिन्न व्याख्यान मालाओं का शुभारम्भ किया गया है -

1. डा. राधाकृष्णन् स्मृति व्याख्यान ।
2. पं. मण्डन मिश्र स्मृति व्याख्यान ।
3. म. प्र. पं. गोपीनाथ कविराज स्मृति व्याख्यान।
4. प. गौरी नाथ शास्त्री स्मृति व्याख्यान।
5. प्रो. वी. राघवन् स्मृति व्याख्यान।
6. पं. कुरियाक्कोस् स्मृति व्याख्यान्।
7. डा. भीमराव अम्बेडकर स्मृति व्याख्यान।
8. पं हीरालाल जैन स्मृति व्याख्यान।

9. श्री राजीव गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय स्मृति व्याख्यान।

इन व्याख्यान मालाओं का आयोजन प्रतिवर्ष संस्थान के किसी परिसर अथवा अन्य संस्था में किया जाता है। तथा श्री राजीव गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय स्मृति व्याख्यान का आयोजन राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के श्री राजीव गाँधी परिसर श्रृंगरी में किया जाता है।

नवीन संस्थाओं की स्थापना -

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी शैक्षणिक गतिविधियों के ही नहीं अपितु सहशैक्षिणक गतिविधियों के भी पक्षधर रहे है। इन गतिविधियों के विकास हेतु उन्होंने विभिन्न अध्ययन केन्द्रों, संस्थाओं एवं परिषद की नींव रखी। उनके द्वारा स्थापित प्रमुख संस्थाओ का परिचय निम्न प्रकार है -

1. नाट्यपरिषद् - डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागान्तर्गत 1982 में 'नाट्य परिषद्' की स्थापना की गयी जिसका प्रमुख उद्देश्य पारम्परिक संस्कृत रंगमंच का विकास करना है। इस परिषद् से त्रैमासिक पत्रिका 'नाट्यम' का प्रकाशन हो रहा है , जिसके सम्पादक प्रो. त्रिपाठी जी ही है।

2. नाट्यशास्त्र अध्ययनकेन्द्र - डा. राधावल्लभ जी ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग विभागीय सहायता योजना (**DRS**) तथा विशेष सहायता योजना **(SAP)** के माध्यम से डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर में नाट्यशास्त्र अध्ययन केन्द्र की स्थापना कर केन्द्र के लिए पृथक् भवन का निर्माण भी करवाया गया। जिसमें एक स्वतंत्र पुस्तकालय की स्थापना अलग से की गई।

3. पाण्डुलिपि संग्रहालय - डा. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर में संस्कृत विभाग के तत्वाधान में दुर्लभ पाण्डुलिपियों का संग्रह करा के पाण्डुलिपि संग्रहालय की स्थापना की।

4. इलेक्ट्रानिक पुस्तकालय - प्रो. त्रिपाठी जी की दूरगामी विचारधारा डा. हरीसिंह गौर संस्कृत पुस्तकालय की स्थापना के रूप में द्रष्टव्य है। पुस्तकालय में शताधिक ग्रन्थ सन्निविष्ट किये गये हैं।

5. मुक्त स्वाध्याय पीठ - संस्कृत के दूरस्थ शिक्षा के द्वारा प्रचार-प्रसार हेतु राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली मुख्यालय में मुक्तस्वाध्यायपीठ की स्थापना की

गई। इसमें व्याकरण साहित्य एवं ज्योतिष् के प्राक्शास्त्री से आचार्य तक के पाठ्यक्रम संचालित होतें है। समस्त कक्षाओं में सेतु पाठ्यक्रमों के संचालन की भी व्यवस्था है जिसकी सहायता से चिकित्सा, अभियान्त्रिकी तथा वाणिज्य आदि का अध्ययन करनें वाले विधार्थी भी संस्कृत अध्ययन का लाभ ले रहें हैं।

6. पालि-प्राकृत अनुसंधान केन्द्र - पालि व प्राकृत भाषा साहित्य के अनुशीलन और अनुसंधान के लिए राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली मुख्यालय पर पालि - प्राकृत अनुसंधान केन्द्र की स्थापना आचार्य त्रिपाठी जी के द्वारा की गई है। विभिन्न राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विद्वतसंगोष्ठियों के साथ ही अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन भी इस केन्द्र के द्वारा किया जाता है।

7. नाट्यशास्त्रनुसंधान केन्द्र - राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर मे नाट्य परम्परा व नाट्यशास्त्र के शास्त्रीय सिद्वान्तों के अनुसन्धानार्थ नाट्यशास्त्रानुसंधान केन्द्र की स्थापना की गई। इस केन्द्र द्वारा उत्तररामचरितादि नाटकों की प्रस्तुति राष्ट्रीय स्तर पर की जा चुकी है।

8. व्यावसायिक अध्ययन केन्द्र - राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, मुम्बई परिसर में डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी द्वारा व्यावसायिक अध्ययन केन्द्र की स्थापना भी की गई है।

9. शास्त्रानुशीलन केन्द्र - श्रृंगेरी स्थित राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के राजीव गाँधी परिसर मे शास्त्रानुशीलन केन्द्र की स्थापना की गयी है।

पूर्ण की गयी शोधयोजनाएं -

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की विभिन्न शोध योजनाऐं प्रो. त्रिपाठी जी के द्वारा पूर्ण की गई हैं। आचार्य जी द्वारा लिखित एवं सम्पादित नाट्यशास्त्र विश्वकोश चार भागों में प्रकाशित है। वैश्विक परिप्रेक्ष्य में नाट्यशास्त्र की जानकारी देनें वाला यह एकमात्र कोश है। इस कोश में आचार्य त्रिपाठी जी नें विभिन्न देशों की नाट्यपरम्पराओं, नाट्य सिद्धान्तों और रंगमंचों का विस्तार से विवेचन किया है। भारतीय व पाश्चात्य नाट्यसिद्धान्तों का तुलनात्मक परिशीलन इस कोश को अलग बनाते है। आ. भरत व उनके परवर्ती आचार्यो के विभिन्न विषयों में मतमतान्तर इसमें प्रस्तुत किए गये है। वर्णमालानुसार अकारादि क्रम

से नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों से सम्बन्धित शोध-योजना को पूर्ण कर प्रकाशन का कार्य भी डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें करवाया है। 'संस्कृत नाटक और लोकरंगमचं' शोध योजना भी प्रकाशित की जा चुकी है। प्रो. त्रिपाठी जी नें बैकाक में लगभग 3000 थाई शब्दो का थाई लिपि में अर्थ देने वाले संस्कृत शब्दों के थाई - संस्कृत कोश योजना का श्री गणेश किया है। इससे न केवल संस्कृत विद्वानों को थाई समझनें में सहायता मिलेगी अपितु भाषा वैज्ञानिक एवं संास्कृतिक अन्तः सम्बन्ध समझने में भी सहयोग प्राप्त होगा।

अध्ययन/अनुसंधान -

1. भारतीय धर्म और संस्कृति (1972) लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहबाद।
2. संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास (पुरस्कृत) - 1976 संस्कृत परिषद् सागर।
3. आदिकविवाल्मीकि - (1980) संस्कृत परिषद्, सागर।
4. काव्यशास्त्र और काव्य (1982) मैकमिलन् इण्डिया द्वारा राष्ट्रीय हिन्दी कार्यक्रम में प्रकाशित।
5. न्यायसूत्रम् - (1984) न्यायदर्शन पर परिसंवाद (सम्पादन) संस्कृत परिषद् सागर।
6. संस्कृत साहित्य के इस्लाम परम्परा का योगदान - (सम्पादन) संस्कृत परिषद् सागर।
7. संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा (1986) संस्कृत परिषद् सागर।
8. नाट्यशास्त्र के बीज शब्द, भाग - 1 (1986) संस्कृत परिषद् सागर।
9. अप्राप्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ - (1987) संस्कृत परिषद् सागर।
10. महाकवि भवभूति और नाटकलोक (1986) भास्करचार्य त्रिपाठी के सहसंपादन में। संस्कृत परिषद् सागर।
11. कालिदास परिशीलन - (1987), संस्कृत परिषद् सागर।
12. नाट्यशास्त्र सन्दर्भ सूची (1987) संस्कृत परिषद् सागर।
13. कालिदास की समीक्षा परम्परा - (1987), संस्कृत परिषद् सागर।
14. भारतीय नाट्य स्वरूप और परम्परा - (1987), संस्कृत परिषद् सागर।

15. नाट्यशास्त्र के बीज शब्द, भाग - 2 (1986) संस्कृत परिषद् सागर।
16. नाट्यशास्त्र और विश्व रंगमंच (1998) संस्कृत परिषद् सागर।
17. सूत्रधारवृत्ति (सहलेखन) 1989, संस्कृत परिषद् सागर।
18. संस्कृत रूपकों में प्रहसन (1989) अक्षयवट, प्रकाशन, इलाहबाद।
19. दूसरी परम्परा के नाटककार भवभूति- (1995) साम्यपुस्तिका- 11, प्रगतिशील लेखक संघ अम्बिकापुर।
20. नाट्यशास्त्र विश्वकोष (चार खण्ड, 1999) प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।
21. संस्कृत साहित्य परिचय - (1998) प्रतिभा प्रकाशन , नई दिल्ली।
22. संस्कृत साहित्य - बीसवीं शताब्दी (1999) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।
23. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास - (2001) विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
24. संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास (काव्यखण्ड), (1997) सम्पादित। उ. प्र. संस्कृत अकादमी, लखनऊ।
25. Lectures on Natyasastra - (1981) poona university, poona
26. Artha sastra and modern world (Ed. 1996) pratibha, Delhi.
27. Indian traditions in linguistics (Ed. 1992) pratibha, Delhi.
28. Re –organizing Indian Sanskrit traditions (Ed. 1998) - do –
29. Turning points in Indian Sanskrit traditions (Ed. 2001).
30. Vedic foundations of Indian Sanskrit traditions (Ed. 2001) .
31. A new Bibliography of Sanskrit Drama (Ed. 1998) – do –
32. A Bibliography of Alankarasastra (Jt. Ed. 2000) – do -
33. Vangmay 1 – (prof . k.k. chaturvedi fel. Vol. 1998) sharda, Delhi.
34. राष्ट्र की एकता में संस्कृत का योगदान (1989) अक्षयवट, प्रकाशन, इलाहबाद।
35. आखार अरथ असंस्कृति नाना- (सं) तुलसीदास पर परिसंवाद- डा. हरी सिंह गौर वि.वि.।
36. हजारी प्रसाद द्रिवेदी संचयिता- म. गां. अ. हिन्दी विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित 2002।
37. आधुनिक संस्कृत साहित्य सन्दर्भ सूची - राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2002 ।

38. साहित्य शास्त्र परिचय (2003) राष्ट्रीय शैक्षिक अनु. परिषद् दिल्ली।
39. संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्य परम्परा (2004) प्रतिभा, दिल्ली।
40. मध्यप्रदेश का रंगमंच- जनसम्पर्क निदेशालय, भोपाल, 2005।
41. **Vedic world view and modern science (Ed. 2006) pratibha. Prakashan. New Dehli.**
42. श्रुतिमहती - **& R. k. Sharma fel. Vol. (2006) pratibha prakashan, New Delhi.**

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों/आधुनिक संस्कृत काव्यों का सम्पादन -

43. मुकुन्द विलास महाकाव्यम् (1980) महाकवि नीलकण्ठ दीक्षित ¬प्रणीत।
44. नवस्पन्दन (1988)- आधुनिक संस्कृत काव्य संग्रह।
45. आयातिः (1989) आधुनिक संस्कृत कवियों के काव्यों का संकलन।
46. प्रख्या (भाग-1)- आधुनिक संस्कृत कवियों के काव्यों का संकलन , साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
47. षोडशी (1992) आधुनिक संस्कृत कवियों के काव्यों का संकलन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
48. प्रेम सम्पुटम् (1995) विश्वनाथकृत प्रख्या (भाग- 2) में सम्पादित।
49. घटकर्परकाव्य कुल कवि वृति तथा तारानाथ कृत टीका सहित सं. प्रख्या (भाग-2), 1995।
50. निरङ्कुशतानिराकृतिः- म. प्र. राजेश्वर शास्त्री द्राविडकृत प्रख्या (भाग-3), 2000।
51. शास्त्रार्थ विचार पद्धति - राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ प्रख्या (सं. भाग-3), 2000।
52. शुकसारिका- अज्ञात कर्तृक, प्रख्या (सं. भाग-3), 2000।
53. इतिहास पुराणाख्यान संग्रह - (सं. -1999) साहित्य अकादमी , नई दिल्ली।
54. संस्कृतमहासूक्ति संग्रह- काव्यखण्ड (सं. 2004) हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद सहित संस्कृत अकादमी, दिल्ली।
55. कवि द्वादशी - (सं. - 2006) बारह कवियों की कवितायें अंग्रेजी अनुवाद सहित संस्कृत परिषद् सागर।
56. थाई देशस्य इतिहासः संस्कृतिश्च - (2005) प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली संस्कृत ग्रन्थों के हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद।

अनुदित रचनाएँ -

57. भरटकद्वात्रिंशिका - प्राचीन कथा संग्रह सानुवाद मूल व भूमिका - 1987
58. वेदान्तसार (1977, 2003) प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।
59. कुमारसम्भव (1983)- कालिदास प्रकाशन, उज्जैन।
60. मेघदूत (1986, 2001)- सोनेट व रोला छन्द में अनुदित।
61. अभिज्ञान शाकुन्तल (1986) - कालिदास प्रकाशन, उज्जैन।
62. कुन्दमाला (1982)- दिङ्नाग संस्कृत परिषद् सागर।
63. प्रबुद्ध रोहिणेय - (1983) मुनि रामभद्र, संस्कृत परिषद् सागर।
64. संक्षिप्त नाट्यशास्त्र - (1988) अक्षयवट प्रकाशन, इलाहबाद।
65. वेणीसंहार (2000) - भट्टनारायण, सागर 2000।
66. स्वप्नवासवदत्तम् (2000)- म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल।
67. रघुवंशम् (2001)- म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल।
68. उत्तरामचरितम् - (2003) रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा।
69. ईशोपनिषद् (2003) - रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा।
70. कामसूत्र (2005) - अंग्रेजी अनुवाद तथा टीका।
71. चतुरस्त्र - स्वरचित संस्कृत कविताओं के अनुवाद का संकलन साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
72. सदुक्तिकर्णामृती (2006) - श्रीधर के सुभाषित संग्रह का अनुवाद साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
73. अथर्वेद का काव्य (2007) - चुने हुए सूक्तों का हिन्दी अनुवाद विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी।

लोकप्रिय रूपान्तर -

74. संस्कृत कथा की लोकधर्मी परम्परा-साम्य पुस्तिका प्रगतिशील, लेखक संघ अम्बिकापुर।
75. श्रेष्ठ पौराणिक कहानियाँ, सन्मार्ग प्रकाशन, नई दिल्ली1986
76. किस्सा डाकू रोहिणेय का- नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
77. किरात और अर्जुन की लड़ाई - नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।

78. कथा सरित्सागर -(1995) नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
79. कादम्बरी (2000) राधाकृष्णा प्रकाशन, नई दिल्ली।

सम्पादित पाठ्य पुस्तकें -

80. त्रयी - म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
81. चतुष्टयी म. प्र हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
82. अर्थगौरवम् म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
83. दमयन्ती - (1991) नाटक, नाट्य परिषद् सागर।
84. भुवनमदीप - (1992) नाटक, नाट्य परिषद् सागर।
85. पूर्वरंग - (कहानी संग्रह 1978) चित्रलेखा प्र. इलाहबाद।
86. सत्रान्त - (उपन्यास 1979) इलाहबाद।
87. पागल हाथी - (कहानी संग्रह 1986) अलंकार प्र. दिल्ली।
88. जो मिटती नही है (कहानी सं.) जनप्रिय प्र. दिल्ली।
89. विक्रमादित्य कथा - (उपन्यास) ज्ञानपीठ, 2004।

सम्पादित पत्रिकाएँ -

गम्भीर व्यक्तित्व के धनी कविवर 'राधावल्लभ त्रिपाठी' अनेक साहित्यक एवं शोध पत्रिकाओं के सफल सम्पादक भी रहे हैं। वे विगत 25 वर्षों से 'सागरिका' नामक संस्कृत त्रैमासिक तथा 'नाट्य' नामक हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं। साथ ही सागर विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका 'मध्यभारती' के द्वारा भी उन्होंने आधुनिक संस्कृत साहित्य के लिये काम किया है तथा मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी के संस्कृत त्रैमासिक 'दूर्वा' का भी कुछ वर्ष सम्पादन किया। इस प्रकार से स्पष्ट है कि वण्र्य वस्तु को सूक्ष्म से विशेषताओं की स्थापना में वे अद्वितिय है। उनकी रचनाओं की प्रमुख विशेषतायें उनकी सहजता, संप्रेक्षणीयता एवं यथार्थता है। उन्होंने बहुसंख्यक काव्यों तथा प्रतिकात्मक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत गद्य को युगानुरूप सरस प्रांजल स्वरूप देकर अनेक कहानियों व निबन्धों की रचना की है। संस्कृत रचना में नई प्रवृतियों के आधान नई विधाओं के सूत्रपात तथा नई शैलियों के प्रयोग की दृष्टि से उनका

कृतित्व बहुत सम्पन्न है। वे स्वयं कहते है ''मैने लिखा भी बहुत अधिक है, जितना लिखकर छपा है उससे कई गुना अधिक तो अपना लिखा फाड़-फूड़ कर नष्ट भी कर दिया।''

निष्कर्ष -

संस्कृत साहित्य के निष्णात् विद्वान साहित्य वारिधि डा. राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा विरचित इन काव्य कृतियों के समुचित अवलोकन उपरान्त निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि त्रिपाठी जी के काव्य की परिधि विस्तीर्ण है। डा. त्रिपाठी ने अपने अधिकाशं ग्रन्थों का प्रणयन तत्कालीन सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखकर किया है। आधुनिक भावबोध तथा पारम्परिक रचना दोनों का मंजुल सामन्जस्य उनके काव्य में हुआ है। उनकी कृतियों में कहीं भी कृत्रिमता नही झलकती है। भावपक्ष व कलापक्ष के सुन्दर समन्वय से युक्त काव्य रचना में विश्रुत उनके कीर्ति-स्तम्भ से आधुनिक संस्कृत साहित्य का क्षितिज विस्तार को प्राप्त होता रहेगा।

संदर्भ सूची -

1. युगबोध के कवि, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, डा. सुदेश आहूजा (ज्ञानयनी, वर्ष 5, संयुक्तांक 2-3, 207)
2. गीतधीवरानुशीलनम्, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ.सं. 5
3. मृत्युरियं कस्तूरी मृगोऽस्ति, डा. हर्षदेव माधव, पृ.सं. 71
4. दृक् पत्रिका, इलाहबाद (जनवरी-जून 2004), पृ.सं. 12
5. गीतधीवरानुशीलनम्, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, पृ.सं. 5
6. दृक् पत्रिका, इलाहाबाद (जनवरी-जून 2004), पृ.सं. 2
7. दृक् पत्रिका, इलाहाबाद, पृ.सं. 3
8. तत्रैव, पृ.सं. 4
9. दृक् पत्रिका, इलाहाबाद, पृ.सं. 13
10. दृक् पत्रिका, इलाहाबाद, पृ.सं. 10
11. दृक् पत्रिका, इलाहाबाद, पृ.सं. 11
12. तत्रैव, पृ.सं. 20
13. मृत्युरयं कस्तूरी मृगोऽस्ति, डा. हर्षदेव माधव, पृ.सं. 54
14. अभिनववशुकसारिका, सम्पूर्णानन्द सं. वि.वि. वाराणसी
15. विक्रमचरितम्, (2000), प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली
16. दृक् अर्चना तिवारी, पृ. 113
17. उपाख्यानमालिका (1998), प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली
18. प्रेमपीयूषम् (1970), संस्कृत परिषद्, सागर
19. तण्डुलप्रस्थीयम् (1988) प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली
20. दृक् भारती, (जनवरी-जून, 2004)
21. प्रेक्षण सप्तकम् (1997), प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली
22. सुशीला, संस्कृत परिषद्, सागर
23. अभिनवकाव्यालंकारसूत्र, सम्पूर्णानन्द सं. वि.वि. वाराणसी
24. सन्धानम् (काव्य संग्रह), संस्कृत परिषद्, सागर
25. गीतधीवरम्, संस्कृत परिषद्, सागर
26. सम्प्लवः (2000), प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली

27. लहरीदशकम्, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली

द्वितीय अध्याय

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास

द्वितीय अध्याय

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास

(क) काव्य के भेद

ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर भारतीय वाङ्मय में काव्य के दो शास्त्रीय भेद किये गये हैं।

1. दृश्य काव्य।
2. श्रव्य काव्य।

श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, आख्यान एवं ऐतिहासिक काव्य आदि की परिगणना की जाती है। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक और उपरूपकों की गणना की गणना होती है।

"'काव्येषु नाटकं रम्यम्"

श्रव्य काव्य के समान दृश्य काव्य का प्रयोजन भी सहृदयों की रसानुभूति कराना है। दृश्य काव्य में श्रव्य के साथ-साथ अभिनय का भी संयोग रहता है। अतः दृश्य काव्य अतिरमणीय विधा है।

दृश्य काव्य को दृश्य काव्य कहे जाने का कारण यह है कि वह नायक की अवस्था की अनुकृति को दृश्य रूप में मचं पर प्रस्तुत करने हेतु होता है। साहित्य दर्पणकार का तो कथन ही है।

''दृश्य तत्राभिनेयम्''[1]

दृश्य काव्य को रूपक नाटक तथा दृश्य भी कहा जाता है।

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् .....रूपकं तत्समारोपात्।'[2]

नाटक में नायकों का आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक इन प्रकार के अभिनयों द्वारा अवस्था की अनुकृति की जाती है। दशरूपककार धनंजय की अवस्थानुकृति का भी यही तात्पर्य है इसमें चाल-ढाल, वेशभूषा, आलाप-प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है, कि नटों में पात्रों की तादात्म्यापत्ति हो जाती है।

नाट्य शब्द जो रूपकवाची है सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में शीर्ष स्थान प्राप्त करता है। भरत नाट्यशास्त्र को कलाओं का विश्वकोश कहा जाता है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कहा है कि-

"न तत् ज्ञानं न तत् शिल्पं
न सा विद्या न सा कला।
न स भोगो न तत्कर्मः
नाट्योस्मिन् य न दृश्यते।।"[3]

न कोइे ज्ञान है, न कोई ऐसा शिल्प, न विद्या, न कोई कला, न ही कोई योग, न ही ऐसा कर्म है, जो नाटक में न दिखाई दे।

जिस काव्य का आश्रय लेकर नाट्य प्रयोग किया जाता है उसे रूपक या उपरूपक कहते हैं। आजकल इसके लिए नाटक शब्द अधिक प्रचलन में है यद्यपि संस्कृत साहित्य की धारा में 'नाटक' रूपक का एक भेद मात्र माना है।

अभिनव गुप्त नें रूपक का निवर्चन करते हुए कहा है-

"रूप्यते प्रत्यक्षी क्रियते योऽर्थः।
तद्वाचाकत्वात् काव्याणि रूपाणि।।[4]

संस्कृत में रूपक के 10 भेद स्वीकार किये है।

(1) नाटक
(2) भाण
(3) प्रकरण
(4) प्रहसन
(5) डिम
(6) व्यायोग
(7) समवकार
(8) वीथी
(9) अंक और
(10) ईहामृग।

जैसा कि दशरूपकार ने कहा है-

नाटकं सप्रकरण भाणः प्रहसन डिमः ।

व्यायोग समवकारौ वीत्यङ्केहामृगा इति ।।[5]

भरतमुनि के पश्चात्वर्ती धनंजय, शारदातनय, शिंगभूपाल व विश्वनाथ रूपकों के भेद निरूपण में उनका ही अनुगमन करते देखे जाते है।[6] किन्तु हेमचन्द्र व गुणचन्द्र ने नाटिका और प्रकरणी नाम के दो स्वतन्त्र भेद स्वीकार कर रूपकों की संख्या 12 बतायी है।[7] दस प्रकार के रूपकों के अतिरिक्त 18 उपरूपक भी बताये गये हैं।

उपरूपक नृत्य और नाट्य के मध्यवर्ती है। इनमें नाच-गान की विशेषता है। नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, जल्लाप्य, काव्य, पे्रखण, रासक, संलापक, श्री गदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणीका, हल्लीश और भाणिका आदि उपरूपक कहलाते है।

(ख) नाट्य उत्पत्ति विषयक विभिन्न वाद -

नाट्य उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न वाद का प्रचलन प्रारम्भ से चला आ रहा है। जिनका समर्थन कई भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों ने किया है।

(1) दैववाद -

इस मत के अनुसार त्रेता युग में सभी देवताओ ने ब्रह्मा के पास जाकर एक विशेष क्रिडनीयक के निर्माण की प्रार्थना की ब्रह्मा जी ने देव प्रार्थना को स्वीकार कर सभी से सार लेकर पंचम वेद 'नाट्यवेद' की रचना की।

"जग्राह पाठमृग्वेदात्साम्भ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयातरसानाथर्वणादापि।।"[8]

इस नाट्यवेद में ऋग्वेद से कथानक सामवेद से गीत यजुर्वेद से अभिनय कला और अथर्वेद से विभिन्न रसों को ग्रहण किया ।

ब्रह्मा की आज्ञा से विश्वकर्मा ने रंगमंच का निर्माण किया व इन्द्रध्वज पर्वत के अवसर पर प्रशिक्षित नटों द्वारा 'त्रपुर दाह' व 'समुद्र मंथन' नामक नाटकों का मंचन किया गया, यहीं से नाटकों का उद्भव हुआ।

समीक्षा -

नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति की यह कल्पना अप्रासंगिक प्रकट होती है, क्योंकि विद्वानों को इस तर्क से संतुष्ट नहीं किया जा सकता कि नाट्यशास्त्र जैसे विस्तृत एवं अत्यन्त सूक्ष्म व सर्वांगीण सिद्धान्तों वाले शास्त्र की रचना इतनें कम समय में और वह भी ब्रह्मा की इच्छा मात्र से हो गई होगी ।

(2) सूक्तवाद -

सभी विद्यायाओं का मूल वेद है और ऋग्वेद में अनेक संवाद सूत्र हैं। जैसे- इन्द्र- मरूत संवाद सूक्त, पुरूरवा-उर्वशी संवाद सूक्त, यम-यमी संवाद सूक्त, अगस्त्य लोपामुद्रा संवाद सूक्त, विश्वामित्र-नदी संवाद सूक्त आदि। इन संवाद सूक्तों के बाद में नाटकों का विकास हुआ होगा।

समीक्षा -

मेक्समूलर, लेवी, श्रोऐडर जैसे प्रसिद्व विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया है कि यह धारणा गलत है क्योंकि संवाद ही नाटक नहीं होते हैं।

(3) नृत्यवाद -

प्रो. मेक्डोनल ने सामूहिक नृत्यों या लोक नृत्यों से नाट्य की उत्पत्ति मानी है। उनका मानना है कि संस्कृत की नट् धातु का ही देशी रूप नृत (नृत्य) है। नट् से बनने वाले नाटक में भी हाव-भाव अंग संचालन और गीत आदि होते हैं। अतः नृत्यों से ही नाटक का विकास होता है।

समीक्षा -

प्रो. सतीराम चतुर्वेदी व अन्य अनेकों विद्वानों ने इस मत को अस्वीकार कर दिया। उनका मत है कि केवल नाच और संवाद ही नाटक नहीं है। नाटक में सात्विक, वाचिक आंगीक और आहार्य 4 प्रकार के अभिनय होते हैं। दूसरा तर्क यह है कि नट् व नृत्य दोनों धातु के अर्थ भिन्न है।

(4) पुतलिका नृत्यवाद -

पिशेल नामक पाश्चात्य विद्वान पुतलियों के खेल व नाच से नाटकों कि उत्पत्ति मानते हैं। सूत्रधार शब्द को मुख्य आधार बनाकर- "सूत्रं धारयति इति सूत्रधारः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूत्रधार का सम्बन्ध कठपुतलियों को डोरे से पकड़कर नचाने वाले सूत्रधार से है दोनों ही जगह सूत्रधार महत्वपूर्ण होता है।

पुतली का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है यह पुतली ही नाटक की उत्पत्ति में प्रमुख है।

समीक्षा -

पुतलियों के नाच से नाटक प्राचीनतर है अतः पुतलियाँ नाटकों का आधार नहीं हो सकती हैं। डा. रिजवे जैसे विद्वान नें इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि संस्कृत नाटक के सूत्रधार का सम्बन्ध डोरी पकड़ कर चलाने वाले सूत्रधार से नहीं है, अपितु वह पूरे नाटक की कथावस्तु को संक्षिप्त में प्रस्तुत करता है। इसलिए यह सूत्रधार कहलाता है। अत: यह मत ठीक नहीं है।

(5) छायानाटक वाद -

प्रो. लूडर्स और कोनो के अनुसार छाया नृत्यों की अनुकृति से नाटकों का उद्गम हुआ है। उनके अनुसार महाभारत में शौनिक नृत्यों का वर्णन है। वहीं से नाटक साहित्य की उत्पत्ति हुई है। डा. पिशेल इस मत के प्रबल समर्थक है।

समीक्षा

यद्यपि प्रो. लूडर्स इस मत का समर्थन करते है, किन्तु प्रो. कीथ इस विचार से सहमत नहीं है। क्योंकि संस्कृत नाटकों का अस्तित्व छाया नाटकों से भी पहले था।

(6) वीरपूजा वाद -

ग्रीक देश के समान भारत में वीरों के सम्मान में अनेक कार्यों को समीप रूप में लोक में दिखाए जाने की परम्परा रही हैं। रासलीला व कृष्ण-लीला जैसी परम्पराऐं वीर पूजा का ही परिणाम है। संस्कृत नाटक भी वीर पूजा के अनुकरण पर ही उत्पन्न हुआ है।

समीक्षा -

यह मत भी मान्य नहीं है, क्योंकि वीर पूजा का उद्देश्य मनोरंजन अथवा अनुकरण मात्र न होकर सुख-शान्ति की प्राप्ति है।

(7) जवनिकावाद -

इस मत के अनुसार संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् ग्रीक प्रभाव से हुई। इसका प्रमुख प्रमाण यह है कि नाटकों में यवनिका

(जवनिका) शब्द का प्रयोग मिलता है जो कि पर्दे के लिए प्रयुक्त है। यवनिका शब्द का विकास यवन शब्द से हुआ है।

समीक्षा -

यह मत भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि जिस यूनान से पर्दे का सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है वहाँ पर्दे का प्रयोग होता ही नहीं।

(8) शक प्रभाव -

संस्कृत के नाटकों में संस्कृत के स्थान पर प्राकृतों का प्रयोग और शकार आदि पात्रों का समावेश शक प्रभावों घोतक है।

समीक्षा -

'अवस्थानुकूतिनाट्यम्' के अनुसार अवस्थाओं का अनुकरण नाटक कहा जाता है। भाषा का ग्रहण अथवा किसी भाषा का प्रयोग समय के सापेक्ष होता है जिसका नाटक साहित्य की उत्पत्ति से सम्बन्ध बताना निराधार हैं, क्यांेकि भाषा एक सामाजिक प्रक्रिया है।

(9) लोक स्वांगवाद -

भारत में स्वांग कला बहुत प्रसिद्ध थी, बाद में इसी कला से संस्कृत नाटकों का उदय हुआ।

समीक्षा -

डा. कीथ आदि विद्वान यह कहते हुए इस मत का विरोध करते हैं कि नाटक व स्वांग का उद्देश्य भिन्न-भिन्न है।

(10) वैदिक अनुष्ठानवाद -

इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान वैदिक अनुष्ठानों में नाटकों की उत्पत्ति के बीज देखते हैं । वैदिक अनुष्ठानों में नाटक के सभी उपादान तत्व मिल जाते हैं। वैदिक काल में महाव्रत अनुष्ठान अधिक प्रचलित था । यह अनुष्ठान एक प्रकार का नाटक सा ही था।

सीताराम चतुर्वेदी जी ने अपने अभिनव नाट्यशास्त्र में बताया है कि नाटक स्वतः एक प्रश्न है।

इस तरह संस्कृत नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में कोई भी मत न तो एकदम पूर्ण है और न एकदम निराधार संभवतः इसके उद्भव में उपर्युक्त सभी

तत्व सहयोगी रहें होंगे तभी निर्विवाद रूप से स्वतंत्र आधार पर संस्कृत नाटकों का उद्भव हुआ।

डा. वचन देव कुमार के अनुसार -

''प्राचीन काल से ही भारत वर्ष में नृत्य गीतों का प्रचलन रहा उनमें कथा, संवाद और अभिनय के उल्लेख से यह धारणा पुष्ट होती है, कि नाटकों की उत्पति सर्वप्रथम भारत में ही हुई। इसमें नृत्य गीत पुराकथा एवं संवादों का सहयोग है।''

इस तरह यह तय है कि संस्कृत नाटक के उद्भव में इन सभी तत्वों का न्यूनाधिक योगदान है।

(ग) संस्कृत नाटकों की विकास यात्रा -

संस्कृत नाटकों की उत्पति में कोई एक कारण प्रमाण न होने पर भी इसमें कोई संदेह नहीं है कि संस्कृत नाटकों का उद्भव एक प्राचीनता को परिलिक्षित करती है। संस्कृत साहित्य की जो धारा वेदों से प्रवाहयमान है। वहीं से नाटक के प्रधान अगों संवाद संगीत नृत्य व अभिनय का प्रस्फुटन प्रारम्भ हो गया था।

इसी धारा का नाद वैदिकोत्तर काल में हम रामायण व महाभारत में देख सकते हैं।

जहाँ हमें नट, नाटक, नर्तक, रंग तथा कुशीलव व आदि नाटक के तकनीकी शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसी समय आचार्य भरत मुनि ने अपनें 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ के प्रणयन में अमृतग्रन्थ त्रिपुरदाह और प्रलम्भ वध नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु उनके अनुयायियों ने नाटक को एक सशक्त माध्यम बनाया। नाट्य परम्परा कि यह धारा पाणिनी काल तक आते-आते अपने पूर्ण कलेवर के साथ दिखाई देने लगी। पाणिनी ने अपनी अन्तिम अष्टाध्यायी मे 'शिलालि' और 'कृशाश्व' नामक दो नटसूत्र प्रणेताओं का वर्णन किया है।

"पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटयों:।।"[9]

अतः उनके समय तक संस्कृत नाटकों का विकास हो गया होगा, किन्तु उस युग के नाटकों की आज उपलब्धता नहीं हैं, परन्तु इस में संदेह भी नहीं है

कि उस युग में नाट्य परम्परा विकास कि और अग्रसर थी। महाभाष्यकार ने पतंजली और 'बलीवध' नामक दो नाटकों का उल्लेख किया है। ईसा पूर्व 200 में नाटक रंगमंच पर अभिनीत होने लगे थे, इस प्रमाण स्वरूप नागपुर कि पहाड़ियों में प्राप्त नाट्यशास्त्र है।

यद्यपि संस्कृत नाटकों का उद्भव वैदिककाल से स्वीकार्य है, तथापि तात्कालीन नाटक अनुपलब्ध हैं, किन्तु महाकवि भास के नाटकों के प्रणयन से लेकर अद्यतन संस्कृत नाटकों कि धारा अविच्छिन्न गति से प्रवाहित हो रही है। इस नाट्य धारा को हम पाँच युगों में बांट सकते हैं।

1. विकास का युग
2. पूर्ण विकास
3. ह्रासोन्मुखता
4. ह्रास का युग
5. पुनर्जागरण

1. विकास का युग-

संस्कृत के जो प्राचीन नाटक उपलब्ध हैं। उनके रचियता भास हैं। इनके नाटकों की खोज करने का श्रेय टी. गणपति शास्त्री को जाता है। 1801 ई. में इन्होंने त्रावणकोर के पद्मनाभपुरम् के समीप मनालिक्करमाथम नामक स्थान से इन पाडुलिपियों को प्राप्त किया था भास कि ये कृतियों पाँचवी- चोथी शताब्दी ई. पू. की निर्धारित कि गई है। इनके 13 नाटक हैं-

(1) प्रतिज्ञायौगन्धरायण
(2) स्वप्न वासवदन्तम्
(3) उरूभंग
(4) दूवाक्य
(5) पंचरात्र
(6) बालचरित्र
(7) दुतघटोत्कच
(8) कर्णभार
(9) मध्यम व्यायोग

(10) प्रतिमानाटक

(11) अभिषेक नाटक

(12) अविमारक

(13) चारूदत्त।

'मृच्छकटिकम्' नामक प्रकरण के रचियता शुद्रक को विकास युग के नाटककार कहा जाता है। इनके रूपक विकसित नाट्यकला को प्रदर्शित करते हैं। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे महाकवि बाणभट्ट ने भी भास की लोकप्रियता की चर्चा हर्षचरित्र में की है -

''सूत्राधार कृतारम्भ्मैर्नातकैर्बहु भूमिकैः।
सपताकैयशो लेभे भासो देवकुलैरिव ।।"[10]

अर्थात् भास ने सूत्राचार से प्रारम्भ किए गये भूमिका वाले तथा पताका से सुशोभित मन्दिरों के समान अपने नाटकों से बहुत यश प्राप्त किया।

2. पूर्ण विकास -

संस्कृत नाट्य परम्परा में कालिदास की रचनायें नाट्य कला के परिपूर्ण विकास को परिलक्षित करती है। भाषा, कला और भावों की दृष्टि से ये रचनायें अद्वितीय है। इनके तीन नाटक है। 'मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' सबसे श्रेष्ठ हैं।

कालिदास के पश्चात् सबसे अधिक उल्लेखनीय नाटककार अश्वधोष है। ये बौद्ध थे और ईसा की प्रथम शताब्दी के राजकवि थे सन् 1810 में प्रो. लुडर्स ने मध्य एशिया के तूरफान नामक स्थान से इनके तीन रूपकों की खोज की है। इसमें एक तो 9 अंकों का 'शारिपुत्रप्रकरण' है तथा अन्य दो अपूर्ण है। इनके नाम विदित नहीं भी हो सके।

अश्वघोष के पश्चात् शताब्दियों तक या तो नाटकों की रचना हुई ही नहीं या उस समय के नाटक उपलब्ध नहीं है। 7 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सम्राट हर्षवर्धन (606-647) ने तीन रूपकों की रचना की थी। इनमें 'नागानन्द' एक नाटक है, जिस पर बौद्ध प्रभाव परिलक्षित होता है। 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' नाम की दो नाटिकायें है। इनकी रचना पर कालिदास का स्पष्ट प्रभाव है। हर्ष के

पश्चात् विशाखदत्त अपने ही प्रकार के विशिष्ट कवि हैं। इनका 'मुद्राराक्षस' नाटक संस्कृत के अन्य नाटकों की परम्परा से सर्वथा भिन्न है। किसी प्रणय कथा को अपनी कथावस्तु का आधार न बना कर विशाखदत्त ने चाणक्य चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित राजनीतिक घटना को आधार बना कर नाटक की रचना की।

इस युग के नाटककारों में अन्तिम नाटककार भवभूति है। इनकी तीन रचनायें -''मालतीमाधव' महावीर चरित्र'' और 'उत्तररामचरित्र' है। संस्कृत नाटककारों में भवभूति को कालिदास के पश्चात् द्वितीय स्थान दिया जाता है। कई समालोचक तो इनको कालिदास से भी श्रेष्ठ नाटककार मानते हैं। भवभूति के नाटकों में भावप्रवणता का अतिशय है। अतः नाटकीय संविधान और अभिनेयता की द्वष्टि से कमजोर होते हुये भी भवभूति को भाव प्रवणता के कारण संस्कृत नाटककारों की प्रथम पंक्ति में स्थान दिया गया। भवभूति नें 'रामायण की दुखान्त घटना को 'उत्तररामचरित्र' में सुखान्त में परिणत कर दिया। इन्हीं का अनुकरण दिड्नाग नें 'कुन्दमाला नाटक में किया है।

3. ह्रासोन्मुखता -

भवभूति के पश्चात संस्कृत में जिन नाटकों की रचना हुई, उनमें न तो शूद्रक और न ही विशाखदत्त के समान मौलिकता और जनाभिव्यक्ति रही। इनमें नाटकीय तत्व और अभिनेयत्व की अपेक्षा पाण्डित्य की प्रविृत्त अधिक रही तथापि गुणों की दृष्टि से ये नाटक पूर्णतः अग्राह्य भी नहीं हंै। इस युग का आरम्भ भवभूति के पश्चात् भट्टनायारण से हो गया था तथा मुरारि और राजेश्वर तक यह ह्रास की प्रकिया पूर्ण हो गई।

भट्टनारायण का 'वेणीसंहार' गौंड़ी शैली मे रचित है। यद्यपि नाटक का कथानक सुन्दर है और पदों के चयन में काव्य प्रतिभा व्यंजित होती है तथापि अभिनेयता की दृष्टि से यह अधिक सफल नहीं है। कवि की कृत्रिम शैली नें और नाटकीय सिद्धान्तों के अक्षरशः पालन की प्रवृत्ति ने नाटकीय प्रभाव को उत्पन्न करने में बाधा उपस्थित की है।

मुरारि का 'अनर्घराघव' ह्रासोन्मुखता की प्रवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है। यह नाटक एक प्रकार से श्रव्यकाव्य की रचना है। सात अंकों का यह विशाल कलेवर

का नाटक लम्बे वर्णनों और श्लोकों की विशाल संख्या (580) के कारण पग-पग नाटकीय गति को अवरोध करता है।

राजशेखर नें मुरारि का अनुकरण करके इस ह्रासोन्मुखता को और भी पूर्ण कर दिया। इनके चार नाटक प्रसिद्ध है-'बालरामायण', 'बालभार', 'कर्पूरमंजरी और विद्वसालभंजिका। 'बालरामायण' और 'बालभारत' विशालता की दृष्टि से विशाल भारत' कहना अधिक उपयुक्त होगा। राजशेखर ने लम्ब शार्दूलविक्रीडित और स्त्रग्धरा जैसे बडे छन्दों की विशाल संख्या नें सहृदयों के धैर्य की परीक्षा लेने का संकल्प कर लिया था।

'बालरामायण' की रचना से अप्रसन्न कुछ समालोचकों ने तो 'बालभारत' की अपूर्णता प्रकट की है।

11वीं शताब्दी ई. में कृष्णामिश्र ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' की रचना करके इस ह्रासोन्मुखता को परिपूर्ण किया। इसमें इन्होंने अद्वैत वेदान्त के सिद्वान्तों का प्रतिपादन करके सदस्यों को नाटक के प्रमुख उद्देश्य मनोंरजन से वंचित किया। कृष्णमिश्र की रूपात्मक नाट्यशैली का अनुकरण यशपाल नें 'मोहपराजय' में और कर्णपूर नें 'चैतन्यद्रोदय' में किया।

4. ह्रास का युग -

इस युग के पश्चात् संस्कृत में बहुत कम नाटकों की रचना हुई। इस युग में जो नाटक लिखे गये वे गणना की दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय नहीं है। 12वीं शताब्दी ई. से लेकर ब्रिटिश साम्राज्य की भारत में स्थापना तक के समय को नाट्य रचना की दृष्टि सें बंजर काल कहा जा सकता है। इस युग में संस्कृत में ही नहीं, अपितु अन्य भारतीय भाषाओं में भी बहुत कम नाटकों की रचना हुई। कीथ, इन्दुशेखर आदि विद्वानों ने इस युग में नाटक रचनाओं के न होने के कारणों का विशद विवेचन किया है।

5. पुनर्जागरण -

इस युग में भी नाटकों की रचना होती रही 16वीं और 19वीं शताब्दी ई. तक संस्कृत में जो नाटक लिखे गये, उन पर प्राचीन रूढ़ियों का अधिक प्रभाव

रहा। 13वीं शताब्दी ई. में हिन्दू जन मे राष्ट्रीय भावनाओं की जागृति ने साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिसका प्रभाव नाटक रचना पर भी पड़ा। इस युग में भारतीय भाषाओं में सामाजिक आलोचना, ऐतिहासिक, पुनर्जागरण और धार्मिक पुनरूत्थान को अभिव्यक्त करने वाले नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई थी। परन्तु इस समय तक संस्कृत सामान्य जन से बहुत दूर हो गई थी। इसमें या तो नाटक लिखे ही नहीं गये, अपितु जो लिखे भी गये, वे प्राचीन रूढ़ियों से ग्रस्त थे।

पं. अम्बिकादत्त व्यास का नाटकीय अभिनेता से युक्त नाटक 'सामवतम्', इसका एक उदाहरण है। इस युग में नवीन चेतना को भरने वाले नाटकीय अभिनेयता से युक्त नाटकों की श्रृंखला प्रारम्भ हो गई।

मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक (जन्म 1776 ई.) का 'छत्रपतिसाम्राज्य', 'प्रतापविजय', और 'संयोगितास्वंयवर' नाटक तथा 'हरिदास सिद्धान्तवागीश के 'मेवाड़ प्रताप', बंगीय प्रताप', 'विराजसरोजनी', 'कंसवध', 'जानकीविक्रम' और 'शिवाजीचरित' इस वर्ग के नाटक है। डा. राधवन के 'रासलीला' और 'कामशुद्धि' नामक प्रसहन सामाजिक महत्व की दृष्टि से श्रेष्ठ है।

संस्कृत रूपकों की शेक्सपियर के रूपकों के साथ प्रमुख सादृश्यता -

1. विदुषक जो शेक्सपियर के मूर्ख से मिलता है।
2. गद्य-पद्य का सम्मिश्रण।
3. पात्रों के नाना नमूनों की तरह एक-एक व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करना।
4. काल्पनिक व भयंकर अंशों का समावेश।
5. श्लेषालंकार का प्रयोग तथा शब्दों का हास्योत्पादक तोड़-मरोड़।

(घ) संस्कृत साहित्य में रूपक परम्परा व प्रमुख रूपककार -

संस्कृत नाटक साहित्य में प्रथम नाटककार भास हैं परन्तु वे अप्राप्य है। पतंजलि के महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बालिवध' नामक नाटकों का उल्लेख है परन्तु वें अप्राप्य है। अतः संस्कृत नाटकों कि परम्परा इस प्रकार है-भास बहुत समय तक अज्ञात ही रहे। 1906 में महामहिम गणपति शास्त्री ने त्रावणकोर में 13 नाटक खोज निकाले। उनके अनुसार इन नाटकों के लेखक भास है। यद्यपि

इस विषय में बहुत विवाद है। भास का समय चोथी या पांचवी सदी ई. पूर्व है उनके नाटक है-

(1) प्रतिज्ञायौगन्धरायण

(2) स्वप्न वासवदत्तम्

(3) उरूभंग

(4) अदूतवाक्य

(5) पंचरात्र

(6) बालचरित

(7) दुतघटोत्कच

(8) कर्णभार

(9) मध्यम व्यायोग

(10) प्रतिमानाटक

(11) अभिषेक नाटक

(12) अविमारक

(13) चारूदत्त।

शूद्रक -

ये प्रसिद्ध प्रकरण 'मृच्छकटिकम्' के रचियता एक अत्यन्त प्रखर रचनाकार है। इनका समय तीसरी सदी ई.पू. है। मृच्छकटिक में 10 अंक है। यह भास के दरिद्रचारूदत्त पर आधारित है। इसमें 9 प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है।

अश्वघोष -

संस्कृत के प्रथम बौद्ध नाटककार हैं। इनका समय ईसा की प्रथम सदी है। ये कनिष्क की सभा में थे। 1910 ई. में बुरफाना में डा. लूडर्स को उनके तीन नाटक मिले हैं- शरि-पुत्र प्रकरण और दो अधूरे नाटक जिसमें एक कथात्मक है। शारि पुत्र में 9 अंक है।

कालिदास -

ये संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार माने जाते हैं। इनके नाटक हैं। मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्, और अभिज्ञानशाकुन्तलम्। कालिदास विश्वविख्यात महाकवि हैं।

सम्राट हर्षवर्धन -

इनका समय 6वीं सदी ई. है। इनकी कृतियाँ है रत्नावली नाटिका, प्रियदर्शिका नाटिका और नागानन्द नाटक। रत्नावली नाटयशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक श्रेष्ठकृति है।

भवभूति -

संस्कृत के नाटककारों में कालिदास के बाद भवभूति ही श्रेष्ठ माने जाते हैं। इनका समय 7वीं सदी का अन्त तथा 8वीं सदी का प्रारम्भ है। कन्नौज नरेश यशोवर्मा की सभा में ये थे। इनकी कृतियाँ है।

1. महावीरचरित नाटक
2. उत्तररामचरित नाटक
3. मालती माधव प्रकरण

विशाखादत -

विशाखादत्त संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' के लेखक है। इनका समय लगभग 7वीं सदी है। मुद्राराक्षस एक ऐतिहासिक और राजनैतिक नाटक है।

भट्टनाराय -

वेणीसंहार नामक नाटक के रचियता भट्टनारायण है। वेणीसंहार में 6 अंक है। इसके नायक के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई इसका नायक दुर्योधन, कोई भीम और कोई युधिष्ठिर को मानते हैं। यह नाटक भास के उरूभंग पर आधारित है।

मुरारी -

मुरारी अनर्घराघव के रचियता है। इनका समय 800 ई. है। इस नाटक में 7 अंक है। इस नाटक पर भवभूति का प्रभाव है।

शक्तिभद्र आचार्य -

चूढ़ामणि नाटक के रचियता है। इनका समय 9 वीं शती ई. है। नाटक अद्भुत रस प्रधान है।

दामोदर -

इनके द्वारा रचित एकमात्र कृति 'हनुमान्नाटक' 8वीं सदी ई. की रचना है। इसमें 14 अंक हैं।

राजशेखर -राजशेखर का समय 10वीं सदी ई. है। इनकी रचनाऐं है -

(1) कर्पूरमंजरी

(2) विद्वशालभंजिका

(3) बालरामाण

(4) बालभारत।

दिङ्नाग -

इन्हें 'कुन्दमाला' नामक नाटक के रचियता माना गया है। कुछ विद्वान इनका समय 5 वीं सदी ई. का मानते है। यह नाटक 1923 ई. में मद्रास से प्रकाशित हुआ है किन्तु लेखक भवभूति का परवर्ती है। कुन्दमाला में 6 अंक है।

कृष्णमिश्र -

'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटक के रचियता कृष्णमित्र है। ये कालिजंर नरेश कीर्ति वर्मा की सभा में (11वीं सदी ई.) थे। यह नाटक शान्त रस प्रधान है।

जयदेव -

जयदेव का समय 1200 ई. है। इनका नाटक प्रसन्नराघव है। जिसमें 9 अंक है।

(ड़) आधुनिक रूपक साहित्य -

महाकाव्य, कथा साहित्य, गीतिकाव्य आदि के समान नाट्य लेखन की प्रवृति विद्वानों में समय के सापेक्ष प्रवाहित है। बीसवीं शताब्दी में जो रूपक लिखे गये, उनके विषय में तथा उनके लेखकों के विषय में विवेचन निम्न प्रकार है -

(1) गोविन्द प्रसाद शास्त्री -

रूपक परम्परा में इनका नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने समय-समय पर विविध रूपकों की रचना की है, जो संस्कृत की विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। इनके द्वारा लिखित प्रमुख नाटक इस प्रकार है-

(1) बाल शाकुन्तलम्

(2) श्रेष्ठ शिष्योदाहरणम्

(3) भारत विजयनाटकम्

(4) पाकगर्वमंजनम्

(5) कृष्णसुदामा नाटकम्

(6) हरिश्चन्द्र नाटकम्।

ये अपने कविता लेखन के लिए 'मीरा' पुरस्कार से सम्मानित हो चुके है।

(2) विद्याधर शास्त्री -

श्री शास्त्री का लेखन महाकाव्य, खण्डकाव्य एवं कथा लेखन व रूपक के रूप में प्रशंसनीय है। इनके द्वारा लिखे गये अनेक रूपकों का संग्रह 'विद्याधर ग्रन्थावली' के रूप में सुरक्षित है। उनके द्वारा विरचित प्रमुख रूपक है-

(1) दुर्बलबलम्

(2) पूर्णानन्दम्

(3) कलिपलायनम्।

(3) डा. हरिराम आचार्य -

राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रोफेसर के पद पर आसीन रहे। डा. हरिराम आचार्य आकाशवाणी व दूरदर्शन के माध्यम से समय- समय पर लोगों के समक्ष आते रहते हैं। दूरदर्शन पर 'दायरे' सीरियल के पश्चात् से अधिक चर्चित हो गये। इनकी लेखनी से कई रूपकों की रचना हुई, इनके प्रमुख रूपक है-

(1) पूर्व शाकुन्तलम्।

(2) गंगालहरी।

(3) नहिभोज समो नृपः।

(4) आषाढस्य प्रथम दिवसे।

(5) सत्यमेव जयते।

(6) बेताल कथा नेत्रदानम्।

(7) कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः।

ये अपने कविता लेखन के लिए 'मीरा' पुरस्कार से सम्मानित हो चुके हैं।

(4) डा. देव शर्मा 'वेदालंकार'-

श्री शर्मा डी. ए. वी. कालेज अजमेर में संस्कृत व्याख्याता के रूप में कार्यरत है। इन्होंने भी संस्कृत में रूपकों की रचना की है। जो वर्तमान में अप्रकाशित है। इनके द्वारा लिखे गये नाटक हैं।

(1) अभिमन्यु शोर्यम्।

(2) शरण्यः शिवि।

(3) दूतवाक्यम्।

(4) राज्याभिषेकः।

(5) सुरक्षा परिषदः अधिवेशनम्।

(6) वेनिसनगरे धर्माधिकरणम्।

(5) कलानाथ शास्त्री -

कलानाथ शास्त्री नें संस्कृत मे लेख, कविता, कहानी एवं उपन्यास के अलावा रूपक में भी पर्याप्त रूचि ली है। इनके द्वारा लिखित प्रमुख रूपक निम्नलिखित हैं-

(1) महाभिनिष्क्रमण।

(2) कर्मक्षत्रे।

(3) चित्तोड़सिंहीयम्।

(4) प्रतापसिंहीयम्।

(5) डा. प्रभाकर शास्त्री -

राजस्थान के संस्कृत विद्वानों में डि.लिट् की सर्वोच्च उपाधि से विभूषित प्रथम विद्वान डा. प्रभाकर शास्त्री की कलम से साहित्य का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा। संस्कृत रूपक लेखन प्रशंसनीय रहा है तथा रेडियों, रूपक, आकाशवाणी द्वारा प्रसारित हुए है। उनके द्वारा लिखित प्रमुख रूपक हैं -

(1) जगद्गुरू: श्री शंकराचार्यः।

(2) महाकविर्माधः।

(3) बिल्हणचरितम।

गौरवस्य महाकवेर्माध स्यौदार्यम् ''शीर्षक पाठ से उच्च माध्यमिक की पाठ्यपुस्तक 'संस्कृत नवीनतम्' में सकंलित किया गया था।

(6) डा. नारायण शास्त्री कांकर -

महामहोपाध्याय पं. नवलकिशोर जी कांकर के सुपुत्र डा. नारायण शास्त्री नें संस्कृत भाषाओं की अन्य विधाओं के साथ-साथ रूपक लेखन में विशेष रूचि ली है। इनके द्वारा लिखित प्रमुख रूपक निम्न प्रकार है -

1. कर्तव्यपरायणता।
2. स्वातंत्र्य यज्ञाहुतिः।
3. कुणालस्य कुलिनता।
4. धनिक धूर्तता।
5. सुहृत्समागमः।
6. स्वामिभक्ता पन्ना धात्री।
7. प्रतिभाचमत्कारः।
8. उदारमना भामाशाहः।
9. गुरू दक्षिणा।
10. स्वदेश-प्रेम।
11. प्रेम परीक्षा।
12. नन्ददीक्षा।
13. भक्तराज चन्द्रहासः।
14. अशोकस्य पराजयः।
15. बन्दी चन्द्रगुप्तः।
16. ताडनभयम्।
17. पशुकल्याणम् आदि।

अभी भी इनका लेखन कार्य अनवरत प्रगति पर है। इनके द्वारा लिखित 'एकांकी संस्कृत नवरत्नमंजूषा' ग्रन्थ में सुरक्षित है।

अन्य रूपककार -

राजस्थान व अन्य प्रदेशों के अन्य प्रमुख रूपककारों में डा. शिवसागर त्रिपाठी (प्राणाहूतिः -राजस्थान), श्री पद्मशास्त्री (बंगालदेशविजयः, लोकतन्त्रविजय, राजस्थान), श्री मेवाराव कटारा (समर्पणम, पथिकः, निष्क्रयः-राजस्थान) डा. बैकुण्ठनाथ शास्त्री (हमीरोत्सर्ग नाटकम् राजस्थान) आदि के नाम उल्लेखनीय है।

राजस्थान से इतर नाटककार -

हरीदास सिद्धान्त वागीश -

बीसवीं शताब्दी के संस्कृत कवियों में सर्वप्रथम नाटककार हैं। इनका जन्म 1876 ई. में फरीदपुर जिले के कोटालिपाड़ा में अनाशिया ग्राम में हुआ। इनके प्रमुख नाटक है।

(1) मिवार प्रताप

(2) शिवाजी चरित

(3) वंगीय-प्रताप

(4) विराजसरोजिनी।

परशुराम नारायण पाटणकर-

पाटणकर नें 1905 ई. के लगभग 'वीरधर्मदपर्ण' नामक नाटक की रचना की।

लक्ष्मण सूरि अवर्गल -

सूरि ने तीन रूपकों का प्रणयन किया- दिल्ली सम्राज्य, पौलत्स्यवध तथा घोषयात्रा। इनका जन्म मद्रास के तिन्नेवल्ली जनपद में पुरुनाल में 1859 ई. में हुआ था। लक्ष्मण ने रूपकों के अतिरिक्त भीष्म-विजय, भारत संग्रह और नलोपाख्यान-संग्रह नामक तीन गद्य काव्य, जार्जशतक- काव्य तथा कृष्णलीलामृत नामक महाकाव्य और अनर्घराघव, उत्तररामचरित तथा वेणीसंहार की टीकायें लिखी।

पंचानन तर्करत्न -

रूपक परम्परा में बंगाल में चैबीस परगना जिले मे भटवाड़ा में 1866 ई. में जन्में चैबीस पंचानन का नाट्य साहित्य भी उल्लेखनीय है। उन्होनें अमरमंगल, कलंकमोचन आदि प्रमुख नाटकों का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने

रामायण, महाभारत पंचदशी, वैशेषिक दर्शन, सांख्यतत्वकौमुदी आदि की टीकायें लिखी। 'ब्रह्मसूत्र' पर उन्होंने 'शक्तिभाष्य' लिखा।

कालिपद -

बंगला के कालिपद का संस्कृत नाट्य साहित्य प्रमुख नाट्य है।

(1) माणवक गौरव।

(2) प्रशान्तरत्नाकर।

(3) नलदमयन्तीय।

(4) स्यमन्तद्वार।

इनकी अन्य रचनायें ईश्वर सिद्धि ऋतु-चित्रम्, संवाद-कल्पलता आदि प्रसिद्ध है।

इसी तरह बीसवीं शती के प्रमुख नाटककारों की जीवन्यायतीर्थ, मूलशंकरमाणिकलाल (प्रतापविजय, संयोगिता- स्वयंवर, छत्रपति-साम्राज्य), महालिंग शास्त्री जग्गू बकुल भूषण, रामनाथ मिश्र, मथुरा प्रसाद दीक्षित, व्यासराज शास्त्री, वेंकटराम राधवन, सुन्दरार्य, विश्वनाथ सत्यनारायण, विष्णुपद भट्टाचार्य, लीलाराव, विश्वेश्वर, यतीन्द्र्र-विमल चैधरी, सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, नित्यानन्द, श्री राम वेलणकर, अभियनाथ चक्रवर्ती के नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपनी अद्भुत नाट्य रचनाओं से संस्कृत साहित्य को मण्डित किया है।

सन्दर्भ सूची -

1. साहित्य दर्पण - पं. विश्वनाथ
2. नाट्य शास्त्र - भरतमुनि
3. नाट्य शास्त्र - भरतमुनि
4. नाट्य शास्त्र - अभिनव भारती
5. दशरूपक, 1/8 (धनंजय)
6. दशरूपक 1/8, भा.प्र.-7 पृ. 180, रस सूत्र-3/3, सा.द.-6/3
7. काव्यानुशासन- 8/3, नाट्य दर्पण -1/3, 4
8. नाट्य शास्त्र - भरतमुनि - 1/16,17
9. अष्टाध्यायी (पाणिनी) - 4/3/110, महाभाष्य (पतंजलि) -3/2/111
10. हर्षचरितम् - बाणभट्ट

तृतीय अध्याय

सामाजिक परिदृश्य का स्वरूप एवं अर्थ

तृतीय अध्याय
सामाजिक परिदृश्य का स्वरूप एवं अर्थ

(क) समाज की अवधारणा परिभाषा व स्वरूप

समाज एक से अधिक लोगों का समुदाय है जिससें सभी व्यक्ति मानवीय क्रियाकलाप करते हैं। मानवीय क्रियाकलाप में आचरण, सामाजिक सुरक्षा और निर्वाह आदि की क्रियाऐं सम्मिलित होती हैं। समाज लोगों का ऐसा समूह होता है, जो अपने अन्दर के लोगों के मुकाबले अन्य समूहों से काफी कम मेलजोल रखता है। किसी समाज के अंतर्गत आने वाले व्यक्ति एक दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह तथा सहृदयता का भाव रखते हैं।

दुनिया के सभी समाज अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए अलग-अलग रस्मों-रिवाजो का पालन करते हैं। समाज मानवीय अंतः क्रियाओं के प्रक्रम की एक प्रणाली है। समाज में मानवीय क्रियायें चेतन और अचेतन दोनों स्थितियों में साभिप्राय होती है। व्यक्ति का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति है। उसकी कुछ नैसर्गिक तथा आर्जित आवश्यकताएँ होती हैं- काम, क्षुधा सुरक्षा आदि। इनकी पूर्ति के अभाव में व्यक्ति में कुण्ठा और मानसिक तनाव व्याप्त हो जाता है। वह इनकी पूर्ति स्वयं करने में सक्षम नहीं होता अतः इन आवश्यकताओं की सम्यक् संतुष्टि के लिए अपने दीर्घ विकासक्रम में मनुष्य में एक समष्टिगत व्यवस्था को विकसित किया है। इस व्यवस्था को ही हम समाज के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह व्यक्तियों का ऐसा संकलन है, जिसमें वे निश्चित संबंध और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूसरे से बँधे होते हैं। व्यक्तियों की वह संगठित व्यवस्था विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न मापदंडो को विकसित करती है, जिनके कुछ व्यवहार अनुमत और कुछ निषिद्ध होते हैं।

मैकाइवर के अनुसार समाज की अवधारणा-

समाजशास्त्र में मैकाइवर एवं पेज की अवधारणा बहुत प्रचलित है इनके अनुसार ''समाज रीतियों एवं कार्य प्रणालियों की, अधिकार, सत्ता एवं पारस्परिक

सहायता की, अनेक समूहों तथा श्रेणीयों की मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है।

इसमें सदैव परिवर्तनशील, जटिल व्यवस्था को हम 'समाज' कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा परिवर्तित होता रहता है।''

इन्होनें समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल अवश्य कहा है, लेकिन साथ ही उन आधारों अथवा महत्वपूर्ण तत्वों का उल्लेख भी किया है जिनकी सहायता से सामाजिक सम्बन्ध एक जटिल व्यवस्था का रूप ग्रहण करते हैं एक सामाजिक संरचना को निर्मित करते हैं। इस परिभाषा के आधार पर मेकाइवर एवं पेज द्वारा समाज के आधार के निम्न तत्व प्रत्यक्ष होते हैं-

1. रीतियाँ'-

रीतियाँ या प्रथाएं सामाजिक प्रतिमान का एक प्रमुख प्रकार है। ये समाज के निर्माण के आधार के रूप में कार्य करती हैं। समाज में व्यवस्था बनाये रखनें में ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबधित अनेक रीतियाँ पायी जाती हैं जैसे खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा, विवाह, धर्म-जाति, शिक्षा आदि से सम्बन्धित रीतियाँ। ये रीतियाँ व्यक्ति को विशेष तरीके से व्यवहार करनें को प्रेरित करती हैं । इसके विपरित आचरण या व्यवहार करनें पर व्यक्ति को लोगों की आलोचना एवं कभी-कभी दण्ड का पात्र भी बनना पढ़ता है।

2. कार्य प्रणालियाँ -

मैकाइवर एवं पेज नें सामूहिक रूप से कार्य करनें की प्रणालियों को संस्थाओं के नाम सें पुकारा हैं। इन्ही के माध्यम से एक समाज विशेष के लोग अपनी विभिन्न आवश्यकताओ या उद्देश्य की पूर्ति करतें है। एक समाज में व्यक्तियों की सभी क्रियाऐं सामान्यतः इन कार्य प्रणालियों के अनुरूप ही होती है एवं इन्ही से नियन्त्रित होती है। प्रत्येक समाज की अपनी विशेष कार्य-प्रणालियों से होती है जो अन्य समाजों की कार्य -प्रणालियों से भिन्न होती है।

3. अधिकार -

अधिकार को सत्ता व प्रभुत्व के नाम से भी जाना जाता है यह भी समाज का एक प्रमुख आधार है। कोई भी ऐसा समाज दिखायी नही पड़ता जिसमें प्रभुत्व

एवं अधीनता के सम्बन्ध नहीं पाये जाते हो। समाज में अनेक संगठन, समूह, समितियाँ आदि होते हैं। जिनके कार्य-संचालन और सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण बनाये रखने के लिए व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के पास अधिकार, शक्ति या सत्ता का होना आवश्यक है। इसके अभाव में व्यवस्था और शक्ति बनाये रखना सम्भव नही है।

4. पारस्परिक सहयोग -

यह समाज का एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण आधार है। जब तब कुछ व्यक्ति अपने-अपने उद्देश्यों या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग नहीं करते, तब तक समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। समाज के लिए सहयोगी सम्बन्धों का होना आवश्यक है।

5. समूह एवं उपसमूह -

समाज अनेक समूहों एवं विभागों या उपसमूहों से मिलकर बना होता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते है कि प्रत्येक समाज में अनेक समूह, समितियाँ, संगठन आदि पाये जाते हैं, जिनकी सहायता से व्यक्तियों की विभिन्न ¬प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परिवार, क्रीडा-समूह, पडौस, जाति, गाँव, कस्बा, नगर, समुदाय, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक संगठन स्कूल, महाविद्यालय आदि अनेक समूह एवं विभाग ही हैं, जिनसे समाज बनता है और ये व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देते हैं।

6. मानव व्यवहार पर नियन्त्रण -

समाज सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है और इस व्यवस्था को ठीक से संचलित करने के लिए आवश्यक है कि मानव व्यवहार पर नियन्त्रण रखा जाए। यदि व्यक्ति की इच्छाओं को नियन्त्रित नहीं किया जाए और व्यक्ति को उन्हें मनमाने ढंग से पूरा करनें की छूट दे दी जाए तो समाज में व्यवस्था का बना रहना सम्भव नहीं होगा। ऐसी दशा में व्यक्ति स्वच्छंद या मनमानें तरीके से व्यवहार करने लगेंगे तथा आदर्श-शून्यता या विचलन की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। जिससे समाज विघटित होनें लगेगा। अतः मनाव व्यवहार के नियन्त्रण हेतु समाज में सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों को अपनाया जाना आवश्यक है।

7. स्वतन्त्रता -

समाज के एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वतन्त्रता का विशेष महत्व है। जहाँ समाज में व्यक्ति के व्यवहार को औपचारिक और अनौपचारिक साधनों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, वहाँ उसे कुछ क्षेत्रों में स्वतन्त्रता प्रदान करना भी आवश्यक है। स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्ति अपनें व्यक्तित्व का समुचित विकास करके समाज की प्रगति में योगदान दे सकता है।

मैकाइवर और पेज की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि समाज सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है और इसके सात आधार है, परन्तु साथ ही समाज के लिए तीन बातों का होना भी आवश्यक है -

(1) व्यक्तियों की बहुलता ।

(2) सामाजिक सम्बन्ध।

(3) सामाजिक अन्तःक्रिया।

मानव समाज दो शब्दों से मिलकर बना है मानव तथा समाज। मानव का अर्थ मनुष्य तथा समाज का आशय सामाजिकता से है। सामाजिकता की भावना समाज के लिए आवश्यक होती है और सामाजिकता के विकास के लिए सम्बन्धों का होना आवश्यक होता है ये सामाजिक सम्बन्ध समाज का निर्माण करने के साथ-साथ मनुष्य के व्यवहारों व कार्य-कलापों को संतुलित करते हैं। इसी वजह से समाज को सम्बन्धों का जाल भी कहते है। मानव जीवन में सम्बन्धों, प्रतिमानों, मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं, मान्यताओं इत्यादि के विस्तृत रूप में व्याप्त जाल को ही 'समाज' की संज्ञा दी गयी है।

समाज की परिभाषाएँ -

(1) एक समाज से भिन्न एक ऐसा समाज है जिसके द्वारा लोग अपना सामान्य जीवन व्यतीत करते है।[1]

(2) समाज सामाजिक सम्बन्धों का एक जाल है।[2]

(3) समाज को उन मानवीय सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन व साक्ष्य के सम्बन्धों के सन्दर्भ में किए गये क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हो, चाहे वे यर्थाथ हो या प्रतिकात्मक।[3]

(4) समाज एक अमूर्त शब्द है, जो कि एक समूह के सदस्यों के बीच जो जटिल पारस्परिक संबन्ध पाये जाते है उनका बोधकर्ता हैं।[4]

(5) समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है औपचारिक सम्बन्धो का योग है, जिसमें सहयोग देनें वाले व्यक्ति एक दूसरे के साथ सम्बद्ध है।[5]

(6) समाज उन मानवीय अन्तः सम्बन्धों का संपूर्ण क्षेत्र है जों एक समूह के व्यक्तियों के बीच पाया जाता है और उन्हें जो एक व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित नियंत्रित और बहुत कुछ स्थिर रखता है।[6]

(7) समाज मानवीय सम्बन्धों का वह संगठन है, जो मानव द्वारा निर्मित संचालित तथा परिवर्तित किया जाता है।[7]

(8) समाज रीतियों और कार्यप्रणालियों की अधिकार और पारस्पारिक सहयोग की अनेक समूहों और विभागों की मानव व्यवहार के नियंत्रण और स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तित होने वाली जटिल व्यवस्था को ही हम समाज कहते हैं।[8]

(9) यह समाज व्यक्तियों का समूह नहीं है। यह समूह के सदस्यों के बीच स्थापित सम्बन्धों की एक व्यवस्था है और सामाजिक सम्बन्धों को न मूर्त रूप में देखा जा सकता है न ही छुआ जा सकता हैं इसलिए समाज भी अमूर्त है।9

(10) समाज सम+अज= समाज-संज्ञा पु. (स) समूह गिरोह । (क) एक स्थान पर रहने अथवा एक ही प्रकार के कार्य करने वाले लोगों का वर्ग, दल या समूह। समुदाय (ख) किसी विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित की हुई सभा (सोसाइटी)।[10]

(11) समाज- वह संस्था जो बहुत से लोगों ने एक साथ मिलकर किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित करते हो जैसे-संगीत समाज, साहित्य समाज आदि।[11]

(12) समाज - सम+अज+धम् प्रत्यय (मीटिग विथ फालिंग इन विथ, ए मीटिगं, असेम्बली, कांग्रेशन, कांग्रेस, कांन्कलेव सोसाइटी, कंपनी, एसोशियेशन, कलेक्शन)।[12]

निष्कर्षतः समाज एक जीवित सत्ता है, जिसका सृजन परिवार से होता है, जो निश्चित रूप से लगातार पुनः स्थापित होती रहती है। यदि इसमें जनन रूक जाये तो इसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। प्रत्येक समाज की पुनर्जनन की यह अनिवार्यता परिवार पूर्ण करता है। अतः हम कह सकते हैं, जो समूचे समाज के

अस्तित्व और स्थायित्व को बरकरार रखता है। परिवार समाज के स्थायित्व की गारंटी है।

'समाज' का स्वरूप -

सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना से समाज का निर्माण होता है। परन्तु समाज के निर्माण के लिए सामाजिक सम्बन्धों के साथ-साथ एक निश्चित व्यवस्था भी आवश्यक है, जो कि समाज का स्वरूप के रूप में जानी जाती है।

के. डेविस के अनुसार "यह ध्यान देने योग्य बात है कि सामाजिक सम्बन्ध ही समाज नहीं है, बल्कि जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था होती है तब उसे समाज कहा जाता है। के. डेविस नें समाज निर्माण हेतु चार प्रकार की परिस्थितियों या दशाओ का वर्णन किया है-

1. समाज की रक्षा
2. समाज में कार्य विभाजन
3. समूह की एकता
4. सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता

1. समाज की रक्षा -

समाज की रक्षा से तात्पर्य उन परिस्थितियों से है जो कि समाज के सदस्यों को जीवित रखनें में सहयोग देते हैं। इसके लिए पालन-पोषण की निश्चित व्यवस्था का होना आवश्यक होता है।साथ ही साथ ऐसी परिस्थितियाँ भी होनी चाहिए जिससे समाज को प्राकृतिक आपदाओं एवं अन्य परेशानियो से संरक्षण मिल सके। इसके अतिरिक्त ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए जिससे विषमलिंगीय सम्बन्ध स्थापित हो और नवीन जीव की उत्पत्ति हो सके तथा नयी -नयी पीढ़ियाँ विकसित होती रहे।

2. समाज में कार्य विभाजन -

समाज में कार्य विभाजन के अन्तर्गत ऐसी दशायें होनी चाहिए जिसमें समाज के सभी सदस्य श्रम विभाजन के द्वारा विभिन्न आवश्यताओं की पूर्ति

करते रहे। यह विशेषीकरण की क्रिया के द्वारा सम्भव होता है। यही विशेषीकरण सामाजिक व्यवस्था का आधार है। विभिन्न समाजों में विशेषीकरण की मात्रा अलग -अलग होती है। इसलिए विभिन्न समाज एक दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक व्यवस्थित होते हैं।

3. समूह की एकता -

समाज निर्माण की दृष्टि से समूह की एकता परमआवश्यक है। इसके लिए समूह के सदस्यों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना हेतु प्रेरक तत्वों का होना आवश्यक है। सदस्यों के बीच में सहयोग सहानुभूति, अपनत्व की भावना होनी चाहिए। समूह के सदस्यों के मध्य 'हम की भावना' होनी चाहिए।

4. सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता -

समाज को संगठित रखने के लिए ऐसी दशायें होनी चाहिए जिससे समाज मे स्थिरता एवं निरन्तरता बनी रहे। इसके लिए समाज को व्यवस्थाओं और नियम की आवश्यकता होती है एवं उसके संचालन के लिए कुश्ल नेतृत्व भी होना चाहिए।

(ख) डा. राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों में समाज की संरचना -

साहित्य समाज का दर्पण है। लेखक अपने साहित्य के माध्यम से समाज का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। आधुनिक युग में समाज में संघर्ष तथा संक्रमण की अनेक स्थितियाँ दृष्टिगत होती है। संस्कृत नाटकों की समृद्ध परम्परा का परिशीलन किया जाए तो सेवा, सद्भाव, सत्य, सहिष्णुता, अहिंसा, विश्वप्रेम आदि नैतिक आदर्शों के सभी पक्षो की संसृष्टि इनमें स्पष्ट दिखाई देती हैं यही नाटकों मे अन्तर्निहित उनकी असीम शक्ति समाज को युगानुसारी दिशा मे गति देती हैं। समय की कसौटी पर खरा उतरता समीक्ष्य नाट्य साहित्य समाज में कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने के साथ सामाजिक मूल्यों व आदर्शों का संबल व सरंक्षण करने वाला व्याकरण, नियमबद्ध रचना होनें के कारण संस्कृत भाषा के नाटकों के शास्त्रीय निष्कर्ष को आधार बनाकर निरन्तर शोध कार्य होते रहे हैं, किन्तु वर्तमान समाज मे उत्पन्न विसंगतियों की समूल समाप्ति के लिए शास्त्रीयता व

प्रौढ़ता के स्थान पर साहित्य में संदेश प्रेषणीयता की महती आवश्यकता संलक्षित होती हैं।

कवयित्री व भावयित्री प्रतिभा के धनी महामहोपाध्याय डा. त्रिपाठी जैसे मनीषी, लोकषास्त्र समन्वयक, व्यक्ति-चेतना से समाष्टि तक के शोध यात्री, जीवन के आदर्श और यथार्थ-चेतना का समन्वय कर काव्य रचना करने में निष्णात, बहुश्रुत व अतुल्य हैं। परमादरणीय का नाट्य पुरातनता से प्रारंभ होकर समसायिकता को अपने कलेवर मे समेंटे हुए है। महाकवि ने अपने नाट्यों मे मानवजीवन की व्यथा, विसंगति, संघर्ष, जिजीविषा और नियति के विधान की सांकेतिक व्यंजना की है तथा वर्तमान समाज में व्याप्त समस्याओं का चित्रण किया है। विश्व बन्धुत्व की भावना, राष्ट्रीयता तथा सामाजिक समरसता ही इन नाटकों के आराध्य तत्व हैं। जिनमें आर्य संस्कृति, संस्कार, जीवन-दर्शन, शोषण, वर्ण व्यवस्था, जमींदार से लेकर जनतांत्रिक व्यवस्था जैसी जनसमस्याओं, दहेज प्रथा, पर्यावरणीय अनुरंजन, पारिवारिक व सामाजिक दायित्व अध्यात्म, विचार, परिष्करण, जीवन की व्यथा, संघर्ष, जिजीविषा, शिक्षा-नीति, नारी-जागरण, पुरूषार्थ-चतुष्ट्य, आश्रम, मनोरंजन त्याग-तपोवन आदि विषयों का वर्णन सरोकार की दृष्टि से किया गया है जो इसकी महत्ता में वृद्धि को प्राप्त होता है।

‘‘सच्चा कवि वही है जिससे लोक हृदय की पहचान हो जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।’’[13]

‘‘नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने लोक को अपने शास्त्र के लिए एक प्रमाण माना है।’’[14]

कविवर स्वयं का मानना है कि मनुष्य के समस्त कर्म, शिल्प, कलाँए और निपुणता समाज पर ही आधारित है। यदि समाज का अस्तित्व नहीं होगा तो सभी अस्तित्व विहीन हो जायेंगे।

“कर्म शिल्पानि शास्त्राणि विचक्षणबलानि च।
सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति।।”[15]

भरतमुनि का यह भी कथन है कि “जड़-चेतन लोक की निर्मिति शहरों से नहीं हो सकती है। लोक अपना प्रमाण स्वयं है।”[16]

आचार्य जी द्वारा रचित नाटकों जैसे प्रेमपीयूषम्, सुशीला प्रेक्षणकम्, तण्डुलप्रस्थीयम् तथा प्रेक्षणकसप्तकम् में सामाजिक समस्याओं को मजबूत आधार के साथ दृश्य पटल पर उतारा गया है। इन नाटकों का अध्ययन करने पर समाज का जो स्वरूप सामने आता है तो ऐसा लगता है मानों सारी घटनाएँ आँखों के आगे ऐसे घूमने लगती है, जैसे यह यहीं पर घटित हो रही है। इस प्रकार इनके नाटकों में जनसामान्य की विकृत मानसिक भावना, राष्ट्र की विसंगतियों के प्रति तीक्ष्ण कटाक्ष किये गये हैं।

1. प्रेमपीयूषम् -

'प्रेमपीयूषम्' नाटक में महाकवि भवभूति को नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिसकी नायिका शशिप्रभा है। नायक-नायिका दोनों ही उत्कृष्ट चरित्र के परिचायक हैं। नायक स्वाभिमान का प्रतीक है, स्वाभिमानी व्यक्ति किसी की चाटुकारिता में विश्वास नहीं रखता। अपने इस चरित्र पक्ष के कारण भवभूति को राजा (समाज) द्वारा तिरस्कृत होना पड़ता है और फिर यह स्पष्ट किया है कि समाज द्वारा तिरस्कृत व्यक्ति किस प्रकार से अपना आत्मबल खो देता है और पुनः उसकी प्राप्ति कितनी कठिनाई से होती है इसका वर्णन प्रेमपीयूषम् में है। इस नाटक में शिक्षा का महत्व भी प्रतिपादित है।

बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन देना, पतिव्रत धर्म का पालन, गुरू आज्ञा पालन, राजा यशोवर्मन का धैर्यपूर्ण व्यवहार, गुरू के महत्व का प्रतिपादन भी समाज की संरचना का हिस्सा कविवर ने बनाया है।

दाम्पत्य जीवन के उतार चढ़ाव, प्रेम की परिणिति विवाह के रूप में तथा किसी प्रकार से दामपत्य रूपी वट वृक्ष को प्रेम रूपी अमृत से सिंचित करके खुशहाल जीवन का उदाहरण भी इसमें मिलता है।

स्त्री-पुरुष को एक दूसरे का पूरक कहा गया है, पुरुष के जीवन का स्त्री एक अभिन्न अंग है। इस नाटक के द्वितीय अंक में भवभूति कहते है -

"नारी नाम नरस्य शेवधि रहे। देदे यथा जीवनं"।[17]

चतुर्थ अंक में युवा पुत्री के अन्तर्मन की स्थिति को एक माँ किस प्रकार से जानकर उसके अशांत मन को शांत करती है इसका उदाहरण इंदुमति व

शशिप्रभा के संवाद के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी अंक में वृक्ष पूजा एवं मदनमहोत्सव का वर्णन है, पंचम अंक में बलिप्रथा का उदाहरण देखने को मिलता है, जिसमें भवभूति के द्वारा बलिप्रथा के विरोध को दर्शाया गया है।

समाज में आश्रम व्यवस्था की स्थिति भी इस नाटक में ज्ञात होती है। अच्छा आचरण, शुद्ध व्यवहार आदि का प्रदर्शन इस रचना में प्राप्त होता है षष्ठम् अंक में शिक्षा के प्रसार तथा राज्यलिप्सा का प्रदर्शन है। नाटक के अंत में कत्र्तव्य निष्ठा का उदाहरण मिलता है।

इस नाटक में समाज का इस ओर भी ध्यान आक्रष्ट करने का प्रयास किया है, कि धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्रों में पिछले द्वार से प्रवेश करने वाली अपसंस्कृति से पूरा परिवेश प्रभावित है। ''बौद्ध विहारों में भिक्षु और भिक्षुणियों के द्वारा फैलाये जाने वाले व्यभिचार से ज्ञाननिधि जैसे विशुद्ध चरित्रवान आचार्य भी स्वयं को नहीं बचा पाते है। उन्हें व्यभिचार का पोषक माना जाने लगता है। अन्ततः वे गुरूकुल का त्याग कर आरण्यवास के लिए विवश हो जाते है।''[18]

'प्रेमपीयूषम्' नाटक में मदनमहोत्सव का आयोजन समाज की उत्सव संस्कृति का परिचायक है।'' भारत में मदनोत्सव की परम्परा प्राचीन काल से अद्यावधि तक है। बसन्त ऋतु के आगमन पर यह उत्सव जनता तथा राजा का साझा उत्सव हुआ करता था। जिसे बसन्तोत्सव कहा जाता था।''[19] यह उत्सव एक सामाजिक अभिव्यक्ति के रूप में मनाया जाता है।''[20]

कालान्तर में यही उत्सव फागोत्सव व होलिकोत्सव के रूप में मनाया जाता है। 'प्रेमपीयूषम्' नाटक के चतुर्थ अंक में इस उत्सव का आयोजन कामोत्सव के रूप में मनाये जाने का वर्णन प्राप्त होता है। इस आयोजन में नृत्य-संगीत आदि के साथ कामदेव का पूजन किया जाता है - ''इन्दु (पूजां निवर्तयन्ती-भगवन कुसुमायुध स्वीकुरू इमां सपर्यायाम् (इति प्रणमति)"[21]

2. सुशीला प्रेक्षणक -

हत्वानृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदृष्टं
देशान्तरे स्वयमहं गणिकाऽस्मि जाता।
पुत्रं पति समाधिगम्य च वृक्षदग्धं
शोचामि गोपगृहिणी कथमल्पतक्रम्।।[22]

बच्चुलाल अवस्थी जी के एक श्लोक पर आधारित इस रचना को आचार्य त्रिपाठी जी ने विस्तृत स्वरूप प्रदान किया है।

आज समाज का जो परिवर्तित रूप है, वह कड़ी मर्यादा का अतिक्रमण किए हुए है, तो कहीं उच्छृखलता से ग्रसित है। यह प्रेक्षणक समाज की विभिन्न समस्याओं का दर्पण है। कविवर ने समाज की आर्थिक विपन्नता, नारी शोषण, सवर्ण होने का नुकसान या क्षति, सामाजिक, पारिवारिक संघर्ष, परिवार का महत्त्व आदि बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है। समाज में व्याप्त आत्महत्या जैसे घृणित कार्य का विरोध भी इस नाटक में दृष्टिगत होता है। परिवार के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए सुशीला कहती है, कि-

"मेरे पास परिवार था, सुख था पर मैं सुखी होना नहीं जानती थी, मेरा पति मेरे पास था पर मैं कुछ न मानती थी, मैं क्या से क्या हो गई, मैंने कितने रूप धरे। मैं क्या हो सकती थी और क्या हो गई, पर नहीं, मैं वहीं हूँ, जो मैं थी।"[23]

कवि राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने परिवार को एक सुरक्षा कवच के रूप में बताया है, जिससे अलग होकर सिर्फ समस्याएँ खड़ी होती है। कविवर ने दिखाया है कि स्त्री को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में लाने के लिए बहुत प्रयत्न किए जाते हैं, किन्तु पुरूष प्रधान समाज में उसे भोग की वस्तु ही माना जाता है। पति से अलग स्त्री का समाज में कोई स्थान नहीं होता बल्कि उसे सर्वभोग्या समझा जाने लगता है। कविवर के अनुसार विडम्बना तो तब हो जाती है जब नाटक में नायिका अनजाने में ही किन्तु पुत्र के समक्ष भी भोग्या के रूप में दिखाई जाती है तो वह प्रायश्चित करना चाहती है। नाटक में अनेक संवाद समाज में स्त्रीयों की परिस्थितियों का बोध कराते हैं। किन्तु फिर भी सुशीला को एक समार्पित पत्नी के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

इस नाटक में जीवन मूल्य व संस्कृति का जो मणिकांचन संयोग है, वह समाज के ऐसे वर्ग का प्रस्तुतीकरण है, जिसे गरीबी ने आहत कर रखा है। समाज में इनकी भी आकांक्षाएँ है, किन्तु संसाधनों का अभाव उन्हें पूरा नहीं होने देता है। डा. त्रिपाठी जी ने सांसारिक व्यथाओं तथा जागतिक द्वन्द्वों को एक नयी भाषा प्रदान करते हैं। डा. गुलाब राय के शब्दों में "कवि की पुकार समाज की पुकार

है, वह समाज के भावों को अपनी वाणी का बल ही नहीं बल्कि उन्हें एक नयी दिशा भी प्रदान करता है।"[24]

दूध बेचती हुयी ग्वालिनों की बातचीत तथा देव शर्मा की आर्थिक तंगी ग्रामीण गरीब परिवेश को प्रस्तुत करती है। आर्थिक विपन्नता से त्रस्त देवशर्मा की स्थिति भारतीय समाज की गरीबी को नग्न चित्र के रूप में दिखाती है। जहाँ रोटी कपडे की मूलभूत आवश्यकता भी पूर्ण नहीं हो पाती है।

"एतस्य उदर पूर्तेदायित्वं ममैव वर्तते किम् ? अयं तव कोऽपि न भवति ? किं दत्तं त्वया अस्मिन् गार्हस्थे मह्यम् ? केवलं दुःखः। गृहे एकः कटोऽपि नास्ति। साधुर्यत्र कश्चिदपि यदि आयाति प्रतिवेशनी तर्हि सा उपवेश्येत। सर्वाः शाटिका सर्वाणि परिधानानि में शीर्णानि। सूची न सूत्रं चापि प्रतिवेशाद् याचनीयं भवति।"[25]

3. प्रेषणकसप्तकम् -

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने इस रचना के माध्यम से समाज की वह संरचना प्रस्तुत की है, जहाँ जीवन के संघर्षो, विकारों, वासनाओं, कुंठाओं, कल्पनाओं, अच्छाईयों एवं बुराईयों का सफल रूपांकन है। समाज के प्रत्येक वर्ग पर कवि ने अपनी पैनी दृष्टि डाली है। सात एकांकियों के इस संकलन में सामाजिक कुरीतियों नारी की विविध व्यथाओं, स्त्रीयों के प्रति समाज का दृष्टिकोण, राजनैतिक भ्रष्टाचार धार्मिक आडम्बर आदि विसंगतियों पर प्रभावकारी रूप से नवीन धारणा के सृजन का प्रयास कविवर ने किया है सातों एकांकीयों में कवि ने समाज के विभिन्न पहलुओं पर अपनी लेखनी चलायी है।

1. सोमप्रभम् -

इस एकांकी में माँ-बेटी के स्नेहबंध की प्रगाढ़ता को बताया गया है तथा समाज को दहेज के महत्त्वाकांक्षी लोगों द्वारा बहु को जलाकर मारने जैसी ज्वलंत समस्या से ग्रसित बताया है। पुत्री द्वारा माँ की रक्षा करना उसके मातृ प्रेम को दर्शाता है। इस प्रकार इस पे्रषणक में शोषक और शोषितों के जटिल सम्बन्धों का वर्णन है। नाटक में निहित यही मनुष्य चेतना वस्तुजगत् के सामाजिक सौपन का निर्माण करती है -

"सोम. - अशोकस्य पितामही कियत् स्निह्यति तस्मिन्। मम पितामही तु भर्तस्यति ताडयति माम्। (रोदिति)।

विमला - मा रोदीवत्से ! (ताम् आलिङ्ग्य अश्रूणि मार्जयन्ती) तव पितरि प्रत्यागते सर्वमुपपन्नं स्यात् - दुग्धं गृहीतम्।

सोम. - आम्।

विमला - अधुना सत्वंर याहि चल (तस्या मुखं स्वीयेन शाटिका-अंचलेन प्रोच्छति)।

सोम. - किं करोषि ? तव शाटिका मलिना भवति। अयं करकर्पट: सन्निहित एव।"[26]

इस प्रकार उनके नाटक के पात्र स्वयं के अस्तित्व को बोध कराते हुए अपने अन्दर समाहित सामाजिकता की पराकाष्ठा प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं।

धीवरशाकुन्तलम् -

महाकवि कालिदास प्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तलम् को आधार बनाकर लिखी गई इस एकांकी में समाज में व्याप्त राजनैतिक भ्रष्टाचार तथा स्त्री विक्रय जैसी ज्वलंत समस्याओं पर प्रकार डाला गया है।

आचार्य त्रिपाठी कृत 'धीवरशाकुन्तलम्' एकांकी के द्वारा उन्होंने समाज की विकृत मानसिकता के माध्यम से युग बोध करवाया है। सूचक और जानुक का यह संवाद समाज की इसी विकृति को प्रकट करता है -

"(कोटपाल्या दृश्यम्। शृङखलाभिर्बद्धो धीवरः भूमौ उपविष्टः सूचकजानुकौ तं ताडयतः।)

सूचकः - गृहाण स्वस्थ चैर्यस्य एनं प्रसादम्। ग्रहाण! (इति ताडयति)

जानुकः - पाटच्चर! मत्स्योपजीविन् ! अद्य शूलायामारोप्यसे।

धीवरः - (सभमय) किं करोमि ? की दृशा इमे राजपुरुषाः। कीदृशीयं राजधानी। अहं सत्यं वदामि। मत्स्यस्य उदरात् प्राप्तं मया तद्ङगुलीयकम्। यूयं न विश्वसिथ। रक्षकाः एव भक्षकाः जाताः।

सूचकः - अस्मासु दोषं क्षिपसि। नीच! (पुनस्ताडयति)

श्यालः - (त्वरितं प्रविश्य) सूचक जानुक। शीघ्रमेनं धीवरम्।

जानुकः - गृधबलिर्भविष्यासि। शूलायामारोप्यसे।

सूचकः - मुंचमेनम्।

सूचकः - आवुत ! कि कथयति भवान्।

श्यालः - महाराजः कथयति यदुपपत्रः खल्वडुलीयकस्य आगमः। मुच्चमेनम्।

जानुकः - सूचक- यथा आयुन्तो भणति। यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तोऽयम्। (इति धीवरं योचयतः।)"[27]

3. मेघसंदेश -

कवि कालिदास कृत मेघदूत से प्रेरित इस एकांकी में बाल मन की कोमलता और उसके विश्वास को बताया गया है। समाज की प्रकृति में आस्था के परिचायक इस प्रेषणकम् में वृक्ष को बादल का मित्र बताया गया है। समाज की श्रेय व प्रेय की भावना को इस रूप में बताया गया है, कि पानी की बून्दे चाहिए मोती नहीं-'अंह मुक्तानां वृष्टि न वांच्छामि जल वृष्टिमेवकामये।'

4. मुक्ति -

मुक्ति मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य मुक्ति का संदेश दिया है। कविवर ने एकांकी के माध्यम से सामाजिक, पारिवारिक दायित्वों की समाप्ति के पश्चात् ही सर्व जनाकांक्षी मुक्ति को सूत्रधार को जंजीरों में बंधा हुआ दिखाकर प्रतीक रूप में सामाजिकों को समझाया है। इस एकांकी के नांदी में राष्ट्रीय भावना का समावेश है। जिसकी आवश्यकता प्रत्येक समाज में अपेक्षित है-

"स्वतंत्रयेऽपि समागते विदलितो नो पारतंत्रयात्मको।
भावो भास्वति सत्यपि प्रभवति क्लेषायगढं तयः।
संकल्पः किलमुक्तरो प्रति जनं चेतः सुसज्जायतां
मुक्तेरशं तथा भवत्वभिनयः सत्यान्वितो मुक्तिदः।।"[28]

स्वतन्त्र भारत में आज भी स्वतन्त्रता का जो स्वरूप है, उससे असंतुष्ट कवि ने "स्वतंत्रता कैसी हो ?" को लक्षित करते हुए आदर्श समाज हेतु चेतना का विकास 'मुक्तिः' एकांकी में किया गया है:-

"आयोजकः- अहं 'स्वतंत्र भारते की दृशी स्वतंत्रते विषयाधिकृत्य संगोष्ठी-मायोजयामि। तत्र भवद्भिः आगत्य भाषणं देयम्। श्वः सांयङ्काले वर्तते गोष्ठी।

सूत्रधारः - स्वतन्त्रता विषये कथमहं भाषणं करिष्यामि। अहं स्वयं शंखलाभिर्बद्धः परतंत्रोऽस्मि।

आयोजकः - का हानि भवन्तु तावत् शृंखलाः भवतु सुबद्धो भवान् परतन्त्रो वा भवतु। भाषणें तु सुखेन देयम मुखं तु पिहिंत नास्ति। अत एव अवश्यमागन्तव्य भाषणं च विधेयम्। भवतु साधयामि। आयोजन - व्यवस्था मया सम्पादनीया।"[29]

यही नहीं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के साथ सर्वजन सुखाय की सामाजिक भावना का दृश्य भी 'मुक्ति' एकांकी में दिखाई देता है -

"नटी - स्वैरं भक्षयतु। किमेतावतैव ? कियदल्पम् अश्नाति भवान् अतः एव दुर्बलोऽस्ति। स्थालीं नयति जलमानीय तं पाययति। अधुना यद् रोचेत् तद् क्रियताम्। (निष्क्रान्ता)।

सूत्रधार- कष्टं परवशता नाम! समधिकतर मिदानीं बाधन्ते शृङखलाः किं करोमि ?

भिक्षुक- (प्रविश्य) भद्रमस्तु, कल्याणमस्तु। दातः भगवन्नम्ना किंचित् देहि। समाजवादनाम्ना देही, प्रजातन्त्रनाम्ना देहि। राममन्दिरनाम्ना देहि। उन्मुक्तापणनाम्ना देहि।"[30]

इन संवादों में न केवल एक उन्मुक्त समाज की कल्पना का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, अपितु समाज में ईश्वरीय भय तथा व्याप्त आस्तिकता की ओर भी संकेत करते हैं।

आचार्य जी के अनुसार समाज में रहते हुए स्वयं के समस्त दायित्वों का भलीभाँति निर्वहन करने पर व्यक्ति की वास्तविक मुक्ति सम्भव है। 'मुक्ति' प्रेक्षणक में आलस्य की जंजीरों में जकड़े हुए सूत्रधार की सभी श्रृंखलाएँ उस समय स्वतः ही खुल जाती है। जब नटी उसे अपने दायित्वों के प्रति सजग करती है। सूत्रधार वास्तविक रूप से वर्तमान लोकतन्त्र, सत्ता तथा शक्ति का प्रतिनिधि रूप

आम आदमी है जो कि अपनी शक्तियों को विस्मृत कर वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, धर्मान्धता आदि की जंजीरों से आबद्ध है। वस्तुतः नाटककार का संदेश यही है कि आत्मशक्ति पर अकर्मण्यता के हावी हो जाने पर भी दायित्व बोध को समझ लेना वास्तव में सामाजिक मुक्ति है। लेखक के मन में यह टीस है कि विभिन्न विसंगतियों के पश्चात् आम व्यक्ति की पीड़ाओं की मुक्ति स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद निश्चित रूप से हो जानी थी। वह आज तक नहीं हुई है।

4. मशकधानी -

इस हास्य एकांकी की सहायता से राजनैतिक भ्रष्टाचार को बताया गया है। वर्तमान समाज में राजनीति का नैतिक पतन हो चुका है। जन सामान्य के क्रोध को सूत्रधार के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जब वह श्रेष्ठी के मूर्खता पूर्ण व्यवहार से परेशान होकर धैर्य का साथ छोड़ते हुए कहता है कि ''क्या आप जानतें हैं कि हमारे राष्ट्र में अराजकता का मुख्य कारण इसी प्रकार के व्यक्तियों के हाथों में सत्ता होना है'' -

किन्तु जनता में जागरूकता होना दर्शाता है कि समाज अपने अस्तित्व के प्रति सजग है -

ललाट मे कच्चित् स्पृशति खलु लालाटिक इव,
द्विजिह्वो जल्पाको विरचयति वाणी । पषुन क्व।
क्वचित वीणानादं क्वचिदपि च वंशीरममयं,
रहस्याख्यायीव ध्वनति मृदु कर्णान्तिकचरः।।[31]

'मशकधानी' एकांकी कतिपय सुनिश्चित उद्देश्यों की पूर्ति करती है, जिसमें सामाजिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है -

''पुरुष 1 - किं चिन्तयसि ? इयं मशकधानी त्वतकृते समानीता ?

सूत्रधार- तर्हि कस्मै आनीतेयम् ?

पुरुष 2 - अस्याम् अस्माकं श्रेष्ठी शयिता।

सूत्रधार- युष्माकम् श्रेष्ठी ?

पुरुष 3 - अस्माकं नेता।

सूत्रधार- अयि भोः नेता वा श्रेष्ठी वा - कोऽयम्।

पुरुष 4 - यः अस्माकं राजा।

सूत्रधार- राजा ? किं कथयथ ? श्रेष्ठी वा नेता वा राजा वा ?''[32]

6. गणेशपूजनम् -

इसमें समाज की कलुषित मनोवृत्ति को उजागर किया गया है। किस प्रकार स्वार्थ के वशीभूत होकर बुलाकीराम जैसे कई लोग धार्मिक उत्सव को अश्लीलता का पर्याय बनाने से भी नहीं चूकते अधिक चंदा वसूली हेतु अश्लीलता का सहारा लेते हैं । समाज में इस प्रकार के लोगों का उद्देश्य लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करना व गलत तरीके से धन कमाना मात्र होता है।

7. प्रतीक्षा -

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठीकृत यह एकांकी समाज के उस मध्यम वर्गीय परिवार की झलक दिखाती है कि जिस प्रकार असामाजिकता से सर्वाधिक भय की स्थिति इसी मध्यम वर्ग में रहती है। व्यस्क पुत्री अपने परिवार का समस्त आर्थिक भार संभालने हेतु एक आफिस में काम करती है। इसी में यदि पुत्री देर रात तक घर वापस न आए तो उसके पिता की मानसिक स्थिति का चित्रण है। अनिष्ट की आशंका से सभी घरवालों की मनोंदशा को इस एकांकी के माध्यम से दिखाया गया है। पुत्री का प्रश्न, क्या एक स्त्री होना पाप है ? यह एक ज्वलंत प्रश्न है। पिता का उत्तर है कि पुत्री ''अति स्नेह पापशंकीति न्यायेन यदन्यथा अन्यथा चिंतित तत्र त्वां प्रत्यविश्वासात् अपितु आत्मनों दौर्बल्यादेष तदलमन्यथा गृहीत्वा।''[33]

समाज की भाव सामग्री का व्यापक दर्शन भी प्रतीक्षा एकांकी के द्वारा आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने करवाया है, जो कि जीवन के मूलाधार है -

''प्रतीछन्ते सर्वे किमपि परमं धाम यदिहं
प्रयान्त्येतां, सर्वाः सकलकरणश्रान्ति विगमात्।
प्रजा यस्माज्जाता लयमपिव यस्मिन् खलु गताः,
प्रकृष्टं तत् तत्वं भवतु विदित वेह लसितम्।।''[34]

प्रतीक्षा एकांकी द्वारा जीवन मूल्यों में जो अन्तर बताया है वह सामाजिक स्वरूप में भी अन्तर स्थापित करता है। समाज एक निश्चित व्यवहार की अपेक्षा करता है किन्तु स्त्री और पुरुष की भिन्नता के आधार पर समाज स्त्री की भूमिका को नियंत्रित करते हुए दिखाया गया है।

4. तण्डुलप्रसथीयम् -

निरन्जन मध्यम वर्ग का शोषित युवा है। जो इस प्रकरण का नायक भी है। यद्यपि वह विप्र, वणिक अथवा अमात्य नहीं है, किन्तु लोक संवेदना से सरोबर है। समाज को प्रतिनिधि पात्र के रूप में निरंजन का चयन अशास्त्रीय नहीं है, भवभूति का आशय भी है-

"गुणाः पूजास्थानं न त्व लिंग न च वयः।[35]

वस्तुतः डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी पुरूषार्थी परिवार व समाज की पीड़ा को अनुभव कर प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने त्याग, लगन व समर्पण के सम्मिश्रण से समाज को समस्याओं से मुक्त करने का ध्येय निरंजन के माध्यम से सुधी पाठकों के समक्ष रखते है।

नाटककार समाज के उस तथाकथित हिस्से को अधिक श्रेष्ठ मानते है, जो डिग्रीधारी न होने पर भी डिग्रीधारीयों की अपेक्षा अधिक सामाजिक संवेदनाएँ रखता है। समाज में रहते हुए भी ज्ञान-विज्ञान, काव्य, शास्त्र, विनोद आदि भी भूख के सामने लघु हो जाते हैं-

"बुभुक्षितैव्याकरणं न भुज्यते
विवासितैः काकरसं न पीयते।"[36]

समाज में निरंजन जैसे न जाने कितने ही नायक लिपि व शिक्षा के अभाव में स्वयं को प्रकट नहीं कर पाते हैं। निरंजन स्वयं इस पीड़ा को कहता है- "शास्त्राणि बहूनि जायन्ते मया परमाज्ञातायां लिप्यां असंजाते वर्णमालाभ्यासे निष्कलैव में विद्या।"[37] समाज में व्याप्त निरक्षरता के दंश का वर्णन निरंजन करता है, "गौतम के न्याय, कपिल के सांख्य, जैमिनी की मीमांसा, बादरायण का ब्रह्मसूत्र, पतंजलि का योग, तथा अष्टाध्यायी, वार्तिक जैसे विद्युत व्याकरणादि के ग्रन्थ तब तक व्यर्थ है। जब तक आम आदमी निरक्षर है।"[38]

आचार्य जी ने आचार्य अथवा वर्तमान की गुरू-शिष्य परम्परा पर भी तीक्ष्ण प्रहार किया है। भारतीय संस्कृति में गुरू प्राज्ञ तथा अज्ञ दोनों को सम-भाव से विद्या वितरित करते हैं, तथापि फल भेद का कारण गुरू न होकर शिष्य की पात्रता ही है-

"वितरति गुरूः प्राज्ञे विद्या यद्यैव तथा जडे।
न खलु तयोर्जाजे शक्ति करोत्यपहन्ति वा।
भवति हि पुनः भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यपि,
प्रभवति शुचि बिम्ब ग्राहे मणि न मृदादयः।।"[39]

किन्तु वर्तमान समाज में पंचानन जैसे गुरू यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं, जो चाटूकारिता के कारण स्वार्थान्ध होकर योग्य शिष्य को अनदेखा कर देते हैं। किन्तु समाज नीति शास्त्र को ही अनुसरण करता है।

"प्रिय वाक्य प्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तत्यं वचने का दरिद्रता।।"[40]

यही कारण है, कि निरंजन अपनी मीठी वाणी से छल, छद्म, द्वेष व पाखण्ड पर विजय प्राप्त करता है। गुरूमाता भानुमति तथा शारदा का निरंजन के प्रति आकर्षण उसके सुमधुर गीत का ही परिणाम है जो समाज के कलाप्रियता का द्योतक है।

इस रूपक की एक और घटना समाज के सत्य स्वरूप को प्रकट करती है। धृति, मति, प्रज्ञा सभी राजकुमारी शारदा के साथ ठिठौली करती हुई कहती हैं कि "वे शारदा की बहनें है, शारदा आपकी भार्या है, इस नाते से हम भी आपकी, आधी-आधी भार्या तो हो ही गयी।"[41]

डा.त्रिपाठी के सम्पूर्ण नाट्य संसार में समाज की आर्थिक विपन्नता, स्त्री शोषण, धरेलू हिंसा, महिला तथा पुरूषों की विशिष्ट मनोवृत्ति, पारिवारिक संघर्ष, पुत्रेच्छा, सत्ता की लालसा, राजतंत्र की उच्छृँखलता, धर्म के नाम पर ठगी तथा अज्ञानता, अकर्मण्यता, जनसामान्य की धर्मान्धता, राजसत्ता की काम व व्यभिचार में रूचि आदि सभी सामाजिक पहलुओं को रोचकता के साथ उकेरा गया है।

सन्दर्भ सूची -

1. **E,8 Reutar op cit -19**
2. तार.एम. माक्लेवर सोसाइटी लंदन, पृ. 05
3. एन्साइक्लोपेडिया आफ सोशल साइंस पृ.231
4. रियूटर हेण्ड बुक आफ सोशियोलोजी, पृ. 157
5. प्रो. गिर्डीग्स
6. आर.एम.माक्लेवर
7. मैकाइवर एण्ड पेज पृ. 2
8. वही पृ. 5
9. एफ.जे.राइट (एलीमेन्ट आफ सोसियोलाजी, पृ.21
10. हिन्दी शब्द सागर - संपादक नवल जी, पृ.1407
11. हिन्दी शब्द सागर - संपादक - श्यामसुन्दर दास, 7 वाँ खण्ड पृ. 3457
12. ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी-सर मोनियर विलियम्स, संस्करण, 1956, पृ. 1153
13. रचना अंक 103 पृ. 1153
14. संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा, डा. राधावल्लभ त्रिपाठी, पृ. 10
15. वही
16. वही
17. प्रेमपीयूषम् डा. राधावल्लभ त्रिपाठी, द्वि.अं, पृ. 14
18. वही
19. कथा सरित्सागर/संस्कृत लोक कथाओं में लोक जीवन गोपाल लाल शर्मा, पृ.सं. 102
20. संस्कृत लोक कथाओं में लोक जीवन-गौपाल लाल शर्मा, पृ. 102
21. प्रेमपीयूषम् पृ.सं. 27
22. सुशीला, डा. राधावल्लभ त्रिपाठी, भूमिका
23. वही, पृ.सं. 10
24. नाट्यम, अंक 55, पृ.सं. 50
25. सुशीला, पृ.सं. 13

26. प्रेक्षणक सप्तकम, सोमप्रभम्, पृ. 07
27. प्रेक्षणक सप्तकम्, धीवर शाकुन्तलम्, पृ. 30
28. प्रेक्षणक सप्तकम्, मुक्ति पृ. 37
29. प्रेक्षणक सप्तकम्, मुक्ति पृ. 39
30. वहीं पृ. 38
31. प्रेक्षणक सप्तकम्-मशकधानी, पृ. 45
32. वही पृ. 47
33. तण्डुलप्रस्थम्, अंक 8, पृ. 77
34. प्रेक्षणक सप्तकम्, प्रतीक्षा पृ.71
35. वही पृ. 61
36. उत्तरामचरितम्, 4/111
37. वही पृ. 61
38. वही अंक 9, पृ. 78
39. उत्तरामचरितम्, भवभूति 2/4
40. चाणक्य नीति, गीता प्रेस गोरखपुर, 3/133
41. तण्डुलप्रस्थम् , पृ. 75

चतुर्थ अध्याय

कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों मे पारिवारिक संरचना

चतुर्थ अध्याय

कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों मे पारिवारिक संरचना

समाज सभी स्तरों में चाहे वह निम्न स्तर के हों या उच्च स्तर के हों उनमें पारिवारिक संगठन अवश्य होता है। सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है। इन सम्बन्धों का विकास परिवार में होता है। परिवार के अभाव में सभ्य मानव समाज की कल्पना करना कठिन है। परिवार मानव समाज की प्राथमिक ईकाई है। जिसमें व्यक्ति की समस्त आवश्यकतायें पूरी होती है। इसी वजह से परिवार सार्वभौमिक है और यह आदिकाल से विद्यमान रहा है। परिवार उस समूह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरूष का यौन सम्बन्ध पर्याप्त निश्चित होता है, परिवार में सन्तान को उसका अधिकार मिलता है और उसका लालन पोषण किया जाता है, परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह रक्त या गोद लेने सम्बन्धी या तीनों तरीकों द्वारा संगठित है एक छोटी गृहस्थी को बनाते है। पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में एक दूसरे से अन्तः क्रिया करते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं। परिवार के द्वारा परिवार के सदस्यों के लिए आवास, भोजन आर्थिक सहयोग, शिक्षण तथा सामाजीकरण आदि की व्यवस्थायें करते है।

समाज की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक महत्व और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। समाज के सभी स्तरों मे चाहे वह निम्न स्तर के हों या उच्च स्तर के हो उनमें पारिवारिक संगठन अवश्य होता है। सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है इन सम्बन्धों का विकास परिवार में होता है परिवार के अभाव में सभ्य मानव समाज की कल्पना करना कठिन है। परिवार मानव समाज की प्राथमिक ईकाई है। जिसमें व्यक्ति की समस्त आवश्यकतायें पूरी होती है। इसी वजह से परिवार सार्वभौमिक है और यह आदिकाल से विद्यमान रहा है।

1. परिवार का अर्थ

परिवार शब्द अंग्रेजी भाषा के फैमिली शब्द का हिन्दी रूपान्तर हैं। **Family** शब्द की उत्पत्ति रोमन शब्द **Famulas** से हुई है। जिसका अर्थ माता-पिता, बच्चे और दास के समूह के लिए प्रयुक्त होता था। परिवार से तात्पर्य पति-पत्नी तथा बच्चे सदस्य के रूप में होते हैं साथ ही रक्त सम्बन्धियों को भी शामिल किया जाता है।

विद्वानों ने परिवार को अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया है-

1. मानव हिन्दी कोश के अनुसार - ''परिवार (सं.) परि + वृ (ढ़कना) + घञ् अर्थात (अ) एक ही पूर्व पुरूष के वंशज (ब) एक ही घर में और विशेषतः एक कर्ता के अधीन या संरक्षण में रहनें वाले लोग (स) किसी विशिष्ट गुण, सम्बन्ध आदि के विचार से चीजो को बनानें वाला वर्ग। जैसे आर्यभाषाओं का परिवार (फेमिली) (द) किसी राजा, रईस आदि के आगे पीछे चलने के साथ रहनें वाले लोग।''[1]

2. 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'वृ' धातु मे 'हात्र' प्रत्यय के योग से परिवार शब्द बना है।

3. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में परिवार के विषय में'' परिवृियते अनेन इति परिवार'' सूत्र प्राप्त होता है।[2]

4. आप्टे शब्दकोश में परिवार को घनिष्टम् बंधु बांधवों (परिजनों) का संगठन कहा गया है।

5. वाचस्पत्यम् कोश में ''परितः वारयति इति परिवार'' कहकर परिवार को परिभाषित किया है।[3]

6. हिन्दी विश्वकोश के अनुसार परिवार मूलार्थ है'' परिवार (सं॰पु) परिव्रियते नैन परिवृ करणे घ् अर्थात् एक ही कुल में आपस में घनिष्टता के साथ रहने वाले मनुष्यों का समुदाय।[4]

7. इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया आफ दि सोशल साइन्सेज के अनुसार- ''परिवार और कुटुम्ब परस्पर भिन्न है। कुटुम्ब का तात्पर्य है, वह कौटुंबिक समूह जो अभ्यासगत रूप से सहनिवास तथा सहभोज करता है।[5]

8. भारतीय संदर्भ में रांगेघ राघव परिवार और कुटुम्ब को भिन्न बताते हुए लिखते है -

''परिवार पति-पत्नी का होता है, पर हमारे यहाँ बड़ा परिवार होता है, जो कुटुम्ब कहलाता है।''[6] इस प्रकार स्पष्ट होता है, कि गोत्र, कुल, कुटुंब तथा परिवार शब्द परस्पर भिन्न है। वंश परम्परा को जहाँ कुल माना जाता है वही परिवार से तात्पर्य निकटम रक्त संबंधियो के समुदाय से है। भारतीय साहित्य गंगा में परिवार और उनके समानार्थी शब्दो पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है, जिससे परिवार शब्द की व्युत्पत्ति अधिक स्पष्ट हो जाती है।

विद्वानों नें परिवार के विषय को अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया है-

1. मैकाइवर के अनुसार, -''परिवार उस समूह का नाम है, जिसमें स्त्री-पुरूष के पर्याप्त रूप में निश्चित और स्थायी यौन सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न होते हैं।''[7]

2. बर्गेस. ई. डब्ल्यू तथा लाक के अनुसार ''परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो विवाह रक्त और गोद लेनें के सम्बन्धों द्वारा संगठित है एक छोटी गृहस्थी को बनाते है और पति-पत्नि, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन अपने-अपने क्रमशः सामाजिक कार्यों, अन्तः क्रिया एवं अंतः संचार करते है और एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते है।[8]

3 किंग्सले डेविस के अनुसार ''परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिनके पारस्परिक सम्बन्ध सगोत्रता पर आधारित हैं जो इस प्रकार एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी होते है।

4. जुगरसेन के अनुसार, ''एक परिवार समूह पुरूष स्वामी, उसकी स्त्री तथा स्त्रियाँ और उनके बच्चों को मिलकर बनता और कभी - कभी इसमे एक या अधिक अविवाहित पुरूषों को भी सम्मिलित किया जा सकता है।''[9]

5. आम्बर्न और निमफाँक के अनुसार, ''बच्चों या बिना बच्चों वाले एक पति - पत्नी के या किसी एक पुरूष या एक स्त्री के अकेले ही अपने बच्चे सहित एक थोड़े स्थायी संघ को परिवार कहते है।''[10]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि परिवार एक स्थायी सामाजिक समूह है जिसमें स्त्री-पुरूष मिलकर सन्तानोत्पत्ति करते हैं।

तथा उनका पालन-पोषण करते है। परिवार द्वारा परिवार के सदस्यों के लिए आवास, आर्थिक सहयोग, शिक्षण, सामाजिकरण आदि की व्यवस्थायें होती है।

परिवार के विषय में इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में अंतर परिलक्षित होता है। भारतीय आचार्य परिवार के अन्तर्गत निकटतम रक्त संबन्धियों के वृहद् समुदाय के सहनिवास को बताते हैं। जिसमें पितामह, पितामही, माता-पिता, पुत्र-पुत्रियाँ, भाई- बहन की गणना होती है।

किन्तु वर्तमान समय में परिवार शब्द अर्थ संकोच की दशा को प्राप्त हो रहा है। आज के समय में पाश्चात्य प्रभाव के कारण भारतीय जीवन में भी केवल पति-पत्नी और संतान का अर्थग्रहण परिवार के अन्तर्गत किया जाता है। और कभी-कभी तो इसका अर्थ केवल पति-पत्नी तक भी सिमट कर रह जाता है। निष्कर्ष रूप में स्पष्ट हो जाता है। कि भारतीय परिवार हो या पाश्चात्य रक्त संबन्ध ही परिवार में मुख्य है। आत्मिक रक्त सम्बन्धों का एक छत के नीचे निवास ही परिवार कहलाता है।

परिवार के आधार -

परिवार पर हम भारतीय दृष्टि डालें था पाश्चात्य अथवा परिवार किसी भी देश विशेष का हो। स्त्री और पुरूष ही उसके आधार स्तम्भ हैं। भारत के प्रथम मानव मनु की कहानी हो या पश्चिम की 'एडम और इव' की कहानी परिवार की संकल्पना स्त्री और पुरूष से ही पूर्ण होती है, क्योंकि परिवार का आधार ही स्त्री और पुरूष के आपसी यौन सम्बन्ध है। कालान्तर से ही परिवार का आधार स्त्री-पुरूष के सहवास और यौन सम्बन्ध से है। माता-पिता, भाई-बहन आदि सदस्यों को रक्तसम्बन्ध से जोड़े रखने वाले संगठन का नाम ही परिवार है, जहाँ सभी एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं भिन्न मनोवृत्ति रूचि पसन्द ना नापसन्द होनें पर भी रक्त सम्बन्ध इन्हे दृढ़ सूत्र में पिरोये रखता है।

यही दृढ़ता इस संगठन को स्थायित्व प्रदान करनें में मुख्य भूमिका निभाती है।'' ''आदर्श नागरिक, पति-पत्नी, माता-पिता बननें का मार्ग समझ जायेंगे तो उनका भविष्य अधिक सुखद बन सकेगा इसमें कोई संदेह नही है।''[11] परिवार का मुख्य आधार ही आपस में एक दूसरे के हितो की रक्षा करना तथा

आत्मीय भाव बनायें रखना है। परिवार में आत्मीयता के बल पर ही मनुष्य में ईमानदारी, दया, प्रेम, सहयोग, उदारता, परोपकार जैसे सद्‌गुणों का विकास होता है।

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी कृत 'सुशीला' नाटक में कवि ने भी बताया है कि पति द्‌वारा कई बार मना करनें पर भी वह पुत्र को प्रेम वश कृष्ण की जगह किसना कहती है -

"देव. - एकदा अस्माकं तनयोऽयम् - श्रीकृष्णः - राजा भविष्यति।

सुशील: - राजा तु वतर्त एव अयम् । मम तनयो - मम किशनः।

देव.: (संशोधयन) श्री कृष्ण इति वक्तव्यम् न किशन: । न तथाविधो राजा यथा त्वं मुनुषे। अयं सत्यमेव राजा भविष्यति।[11]

साथ ही जब सुशीला नाटक के नायक परिवार के मुखिया देवदत्त से सुशीला की नोक झोंक होने पर देवदत्त कहता है, कि तुमसे पहले तो हमे मर जाना है तो वह अपनें पति के मुख पर हाथ रख कर करती है -

"मा तावत! न कदापि मुखादेवं विधं वचनं निस्सारणीयम्"[12]

परिवार में रहकर व्यक्ति शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से सुरक्षित रह सकता है। यही सुरक्षा तंत्र भावनाओं के बल पर जीवन को सुखमय बनाता है। जीवजगत के लिए आवश्यक यौन सम्बन्धों को परिवार मे ही सुनियंत्रित व सुव्यवस्थित किया जा सकता है।

परिवार के प्रयोजन: परिवार के मुख्य प्रयोजन तीन है।

1. पुत्र प्राप्ति
2. धर्माचरण
3. रति

1. पुत्र प्राप्ति -

संतान को अमरत्व देनें वाला माना गया है। ऋग्वेद में पुत्रेषणा को प्रमुख रूप से अभिव्यक्त किया गया है। पाणिग्रहण संस्कार के समय पाणिग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए वर-वधु को कहता है- "मैं उत्तम संतान के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ।"[13] आचार्य त्रिपाठी कृत सुशीला रूपक में भी दिखाया गया है,

कि चाहे राजा हो, प्रजा हो, ब्राह्मण हो शूद्र हो, स्त्री हो या पुरूष हो पुत्र प्राप्ति की इच्छा सब में समान रूप से रहती ही है, जब काशी का राजा मणिभद्र पुत्र प्राप्त्यार्थ अनेकों व्रत अनुष्ठान, यज्ञ, होम आदि कराता है किन्तु उसे पुत्र प्राप्ति नहीं होती है तो जंगल में सुशीला के पुत्र को अकेला देखकर उसे पुत्र रूप मे स्वीकार कर लेता है। स्वयं ही तर्क देकर मन्द स्वर में तीन बार यह पुत्र किसका है ? कहता है लेकिन प्रत्युत्तर न सुनकर'' मौनं सम्मिति लक्षणम् का तर्क देकर उसे ग्रहण कर लेता है- "प्रभुः कथयति गृहाण गृहाण। तर्हि गृहणामि । अयं उत्थापितः अयं च गृहीतो बालकः। इदानीमयं मम् पुत्रो जातः।''[14]

2. धर्माचरण

प्राचीन समय में यज्ञ की जीवन में अनिवार्यता थी इसी कारण सबके लिए विवाह आवश्यक था। श्री राम चन्द्र जी को भी यज्ञ करनें के लिए सीता के अभाव में उनकी मूर्ति स्थापित कर अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न करना पड़ा। जिससे सिद्ध होता है अकेला पुरूष धर्म का पालन नही कर सकता। स्वयं भगवान द्वारा स्त्री को इतना महत्व देनें से स्पष्ट हो जाता है, कि स्त्री का साथ ही उसे पूर्ण बनाता है। धार्मिक कार्यो की सुसंपन्नता स्त्री और पुरूष दोनों पर निर्भर करती है। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है - ''पत्नि निश्चय पूर्वक पति का आधा हिस्सा है, जब तक वह पत्नी प्राप्त नही करता, उस तक वह संतान उत्पन्न नही कर सकता और अपूर्ण रहता है, जब स्त्री को प्राप्त करता है पुत्र पैदा करता है, तभी वह पूर्ण होता है।''[15]

3. रति -

परिवार का तीसरा प्रयोजन रति बताया गया है। मनुष्य के जीवन में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का निर्वहण अत्यावश्यक है। काम की शक्ति के अनुसार उसका उचित सेवन व्यक्ति के जीवन में आवश्यक है। वृद्धावस्था उपनिषद् में भी सुखों में यौन सुख महत्व को बताया है कि जैसे कोई अपनी प्रिय पत्नी से मिलता हुआ न बहार की किसी वस्तु को जानता है और न ही अन्दर की वस्तु को जनता है।

"तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभय.....रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाहयं किचंन वेद नान्तरम्, एवमवायं पुरूष: प्राज्ञेनात्मना संपरियष्वकतैन ब्राहयं किंचन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्यै तदाप्तकाममात्म काममकाम....रूप....शोकान्तरम्।"[16]

इसी प्रकार वात्स्त्यायन नें भी कहा है - "शतायुपुरूष बचपन में विद्या ग्रहण करे, यौवन में काम का सेवन करें, बुढ़ापे में धर्म और मोक्ष प्राप्त करे।"[17]

(क) परिवार का स्वरूप -

समाज में परिवार का महत्वपूर्ण स्थान होता है। समाज की सार्वभौम संस्था का नाम ही परिवार है मानव मन की आवश्यकताओं के अनुसार उसने सामाजिक विश्वास, रीतियों तथा विचारों के आधार पर संस्थाएँ निर्मित की है। जिसमें परिवार की महती भूमिका है। परिवार में जन्म लेने वाले मनुष्य का सामाजिक विकास परिवार के मध्य होता है। वैसे राष्ट्र के विकास के लिए परिवार व समाज की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। परिवार तथा उसमें रहनें वाली भावनाओं का प्रतिबिम्ब हम साहित्य में देख सकतें है। नाटकों के द्वारा भी नाटककार जीवन के विभिन्न आयामों को दिखा सकता है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने भी अपनें नाटकों द्वारा परिवार की विभिन्न समस्याओं को जाग्रत किया है, क्योंकि परिवार के बिना मनुष्य का सामाजिक, मानसिक और आर्थिक विकास होना सम्भव नहीं है-

"काशी न यामो मथुरा न यामः न यामो ग्रामस्वीयम्।
नो हम्र्य नो रथमिच्छामः इच्छामः स्वीयकुटीरम्।।"[18]

कवि ने 'सुशीला' स्त्री पात्र के माध्यम से नाटक में वर्तमान की सामाजिक व्यवस्था, स्त्री, विवशता का विवरण मंच के माध्यम से किया है और स्पष्ट किया है, परिवार से बढ़कर कुछ भी नही है, परिवार ही अन्योन्य रक्षा कवच होता है।

परिवार संस्था का विकासात्मक स्वरूप -

सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अद्यतन परिवार का महत्व स्पष्ट हो जाने के पश्चात मानव सभ्यता के विकास क्रम के सापेक्ष परिवार के भी परिवर्तित स्वरूप प्राप्त होते है, जो निम्न है -

सदस्यों की संख्या पर आधारित परिवार -

1. एकाकी परिवार - पति-पत्नी और अविवाहित बच्चों का सम्मिलित रूप परिवार का सबसे छोटा रूप होता है। स्वयं की संतान न होने पर दत्तक पुत्र भी उसी परिवार का सदस्य माना जाता है। वर्तमान में परिवार का यही रूप सर्वाधिक दिखाई देता है। इसी कारण 'सुशीला' नाटक में काशी के राजा मणिभद्र दूसरे के पुत्र को अपनाना चाहते हैं।

नाटककार डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में परिवार का यही रूप आधुनिकता को परिलक्षित करता है। कविकृत प्रेक्षणसप्तकम् में 'मेघसंन्देश' में कवि ने पति-पत्नी वसुधा पुत्रसौरभ तथा पुत्री लता के द्वारा ही एकल परिवार के सामन्जस्य को प्रस्तुत किया जाता है। वही रचनाकार नें 'प्रतिक्षा' एकांकी में पति भावेश, पत्नी भामा, बड़ी बेटी कल्पना, छोटी बेटी लीना तथा पुत्र महेश के द्वारा एकल परिवार में आपसी चिन्ता को उजाकर किया है।

2. विवाह संबधी परिवार - इसके अन्तगत ऐसे परिवार आते हैं जहाँ पति-पत्नी और बच्चों के अलावा विवाह के माध्यम से जुड़े कुछ सम्बम्धी की गणना की जाती है आचार्य जी नें 'सोमप्रभम्' नाटक में ऐसे ही परिवार को अपनी विषय वस्तु बनाया है। जहाँ विमला के सास-ससुर भी उसी के साथ एक ही घर में रहते हैं।

संयुक्त परिवार -

संयुक्त परिवारो में परिवार के संचालन का जिम्मा मुखिया का होता है। इसी कारण उसे परिवार का कर्ता भी कहा जाता है। परिवार में पारस्परिक स्नेह भाव के लिए वही जिम्मेदार होता है। इस प्रकार के परिवार में सभी स्त्रियों में मुखिया की पत्नी प्रमुख होती है। घर के आतंरिक कार्यों की देखभाल का दायित्व उसी का होता है। वर्तमान में इस प्रकार के परिवार सीमित होते जा रहे हैं। रवींद्र मुखर्जी के अनुसार - "संयुक्त परिवार संयुक्त संगठन के आधार पर निकट के नाते रिश्तेदारों की एक सहयोगी व्यवस्था है, जिसमें सम्मिलित संपति सम्मिलित वास, अधिकारों तथा कर्तव्यों का समावेश होता है।"[19] यद्यपि वर्तमान जीवन शैली को केन्द्र में रखते हुए नाटककार ने संयुक्त परिवार को अपने नाट्य साहित्य का हिस्सा नहीं बताया है।

विवाह के स्वरूप के आधार पर परिवार -

1. एक विवाही -

पति-पत्नी तथा उनकी संतान इस परिवार के अन्र्तगत आती है। इस परिवार का आधार एक विवाह होता है। इस प्रकार का परिवार सर्वसम्माननीय तथा सर्वस्वीकृत माना जाता है। यह परिवार का सर्वाधिक प्रचलित स्वरूप है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें भी साहित्य समाज का दर्पण होता है इसी भाव को ग्रहण कर उनके नाटकों में सुधी पाठकों हेतु एक विवाही परिवार को ही पात्रों के रूप में चयन किया है। उनके द्वारा रचित 'प्रतीक्षा', 'मेघसन्देशम्', 'सोमप्रभम्' नाटक इसी श्रेणी के है जहाँ सम्पूर्ण एकांकी एक विवाही पात्रों के ईर्द-गिर्द ही घुमती हुई दिखाई देती है। इसी कारण से उनके नाटक परिवार का आदर्श स्वरूप समाज के समक्ष प्रस्तुत करते है।

2. बहुविवाही परिवार -

बहुविवाही परिवार से तात्पर्य ऐसे परिवार से है जहाँ एक स्त्री या पुरूष एक से अधिक विवाह करके परिवार का निर्माण करते है, यह दो प्रकार के होते है। जब एक स्त्री एक से अधिक पुरूषों से विवाह करती है, तो बहुपति विवाह तथा जब एक पुरूष अनेक स्त्रीयों से विवाह करके घर बसाता है तो उसे बहुपत्नी विवाह कहा जाता है यद्यपि दोनों ही प्रकार के बहुविवाही परिवारों को समाज का एक बड़ा वर्ग अच्छा नहीं मानता तथापि विभिन्न जनजातीयों में इसका प्रचलन आज भी है। कविवर नें भी सुशीला नाटक में संकेत दिया है कि सुशीला उसके पति की दूसरी पत्नी है, किन्तु आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने यहाँ बहुविवाह का भी मर्यादीत रूप प्रस्तुत करके समाज को नवीन दिशा प्रदान की है, परन्तु साथ ही समाज के कटाक्ष भी कवि नें पर्दे के समक्ष रखे हैं -

स्त्री 1 - परमेतत् सत्यम्। अस्याः कारणात् भोलुकस्य गृहं गृहं जातम्। तस्या स्त्रीयदाममार, ततः प्रभृत्यसौ अतथाविध आसीत्।20

स्त्री 4 - स तु प्राणान् पणीकृत्य स्निहृयत्यस्याम्। परन्तु अनथापि एतदवगन्तव्यम्। यदि न तेनैषा पृष्टा-का त्वम्, कुत आयाता, कस्यासि इति। गृहे स्थापिता तेन इयम्। तर्हि अनयाऽपि शोभनं वर्तितव्यम्

स्त्री 3 - यदिकदाचित् दुग्धं वा दधि वा निपातयतीयम् तर्हि स पशुमारं ताडयिष्यति, चोटयिष्यति, छोटयिष्यति, पोटयिष्यति, कुहयिष्यति -। तदा स्मरिष्यति इयम्।

पारिवारिक सत्ता के आधार पर परिवार -

1. मातृ प्रधान
2. पितृ प्रधान

1. मातृ प्रधान -

माना जाता है कि मातृ प्रधान परिवार का अस्तित्व पितृ प्रधान परिवार से पूर्व अस्तित्व में आया। एक ऐसा परिवार जिनमें अधिकतर अधिकार पत्नी अथवा माता में केन्द्रित हो। वह मातृ प्रधान कहलाता है। मनुष्य के आदिम रूप में विवाह का प्रचलन नहीं था, किन्तु स्त्री तब भी गर्भधारण करती थी और तब पितृत्व का आधार, निश्चित न होने के कारण जन्म लेने वाली संतान का सम्पूर्ण दायित्व माता का ही होता था। पुरूष में बच्चे के प्रति स्नेहवृति का होना सहज था किन्तु पितृत्व की भावना का विकास और उसकी जिम्मेदारी का अभाव रहा। यही कारण था कि बच्चे पर प्राथमिक अधिकार उसकी माँ का ही होता है। धीरे-धीरे जब विवाह का प्रचलन हुआ था। पति भी पत्नी के परिवार का ही सदस्य माना जाने लगा वर्ततमान में भी मातृ प्रधान परिवार खाँसी गारो, केरल कुछ भागों में पाये जाते है। इस प्रकार के परिवारों का स्वरूप आचार्य जी के नाटकों में नगण्य है।

2. पितृ प्रधान -

पितृ प्रधान परिवार वे परिवार होते है जहाँ पुरूष या पिता को परिवार के समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं। परिवार में पुरूष का ही स्वामित्व होता है। अपनें पिता की सम्पत्ति पर सम्पूर्ण अधिकार संतानो का होता है। परिवार के धार्मिक अनुष्ठानों का अधिष्ठाता संरक्षक, शासक वही होता है। प्रमुखतः भारतीय परिवार पितृ प्रधान ही हैं। वंश पिता के नाम से ही चलता है। स्त्री केवल गृहसंचालिका

रहती है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों मे भी आधुनिकता के स्वर दिखायी देते हैं, पुरूष प्रधान परिवार ही उनके नाटकों में प्रमुखता से देखे जा सकते हैं। छाछ बेचने वाली स्त्रियाँ समूह गान के पश्चात् जो बातचित करती है, उससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है, कि समाज पुरूष की सत्तात्मकता को पूर्णतः आत्मसात् कर चुका है-

"!! समहूगीतम् !!
वयो व्यतीतम् , अङ्गं गलितम्
शय्याया आस्तरणेः
नहं शयिता, नाहं मुदिता
मुदिता संसरणे।
आश्वासो न क्षणमपिलब्धाः
मया जीवने न वा मरणे।"

"स्त्री-1 - पश्यत, पुनरपि सा तत्रैव स्थिता किमपि चिन्तयति।

स्त्री-2 - तस्या मनसि किमपि विद्यते विकारः।

स्त्री-3 - अयि सुशीले ! त्वरस्व त्वरस्व ।

(सुशीला स्त्रीभिः मिलति)

स्त्री-4 - अय विलम्बो जातः।

स्त्री-3 - अद्य तक्रविक्रयार्थ दूरं गन्तव्यम्।

स्त्री-5 - तक्रविक्रयव्याजेन इति वक्तव्यम् ।

स्त्री-2 - कथं व्याजो नाम।

स्त्री-3 - शृणुत अस्याः जल्पितम्। तक्रविक्रयो नाम अस्माकं जीविका। तत्र को नाम व्याजः।

स्त्री-4- सत्यमियमाह। यदि न गृहाद् बर्हिगच्छामः तर्हि कुग्वध्व इव असूर्यम्पश्या भविष्यामः। गृहे मरिष्यामः।"[21]

आर्थिक आधार पर परिवार का स्वरूप -

वर्तमान जीवन में अर्थव्यवस्था परिवार के स्वरूप को प्रभावित करनें वाला मुख्य तत्त्व है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक व्यवस्था के परिणाम स्वरूप ही परिवार के अनेक वर्ग गठित हुए है-

1. अभिजात वर्गीय धनिक परिवार -

परिवार की यह श्रेणी सर्वाधिक अर्थ सम्पन्न है। राजपरिवार, सामन्त, जमींदार, पूँजीपति आदि उसी वर्ग में गिने जातें है। इस प्रकार के परिवारों में प्रायः प्रत्येक सदस्य का कुल प्रतिष्ठा की और विशेष आकर्षण होता है। इस प्रकार के परिवारों में प्रत्येक सदस्य के सम्यक् जीवन निर्वाह हेतु राशि दी जाती है। ये परिवार आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों को रोजगार देनें वाले शासक होते है। डा. राधावल्ल्भ त्रिपाठी जी नें' प्रेमपीयूषम्' नाटक में राजा यशोवर्मा अभिजात वर्गीय धनिक परिवार का ही प्रतिनिधित्व करता है-

"राजा - (अमात्मवसूभूतिमु द्दिश्यम्) आर्य , अपि निरूपद्रवं राजतेऽस्माकं राज्यम्?

वसूभूति - (उत्थाय) महाराज द्दिश्यम् ! सिहासनंमधितिष्ठति देवे सर्वमनाकुलं सुसम्पन्नं च।

राजा - अप्यस्मासु स्निह्यन्ति प्राता: ?

वसुदेव - देव पितरीव पालयति भवति, कथं नानुरक्ताः स्युः शिशव इव प्रजा: ?

राजा - अमात्य, अस्ति कश्चिन्नवीनं वृतम्।[22]

कविवर नें धनाढ्य वर्ग के द्वारा अपनी प्रतिष्ठा के आकर्षण की भी मनोरम झाँकी प्रस्तुत की है। जब 'सुशीला' नाटक में स्त्रियाँ राज दरबार में नृत्य प्रस्तुत करती हैं तो राजा कृष्ण आनन्दित होते हुए अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप अपनें गले का हार उतारकर पुरुस्कार स्वरूप उन्हें प्रदान करतें है -

कृष्ण॰ - एवम्, एवम। कल्याणीदेवि, इमास्तव बालिका:। दृष्टपूर्वा इमाः। द्वष्टमासां नर्तनम्। इयमपरा का-इयं नवीना ?

स्त्री 5 - महाराज इयमपि ममैव पुत्री। इयं नवीना उपलब्धिः। अत्यन्तं गुणवती वर्तते।

कृष्ण - (सुशीला सूक्ष्मेक्षिकया पश्यन्)- अहमप्येवं विभावयामि। भवतु प्रारभ्यतां नृत्यम्। (नेपथ्ये, गीयते। चत्वारः स्त्रियः सुशीलां परिवार्य ताण्डवं नृत्यन्ति) (नृत्ये प्रचलित। राजा सुशीलां संकेतयन् कल्याणीदेवीं प्रति साकूतं उपाशुं किमपि कथयति।

कल्याणी देवी सानुमोदनं मस्तकं चालयति।

कृष्ण- शोभनम्, शोभनम्। ताल -लय-स्वर समन्वितं उत्तम नृत्यम्। जीवनेऽपि तालेन लयेन स्वरेण भवितत्यमिति चिन्तयाम्यहम्। महानयं विचार-विषयः। इदानीं किमपी चिन्तनं करिष्यामो वयम्। कल्याणिदेवी, गृह्यताम् स्वपुरस्कारः। (इति मुक्तातमालां कण्ठादकार्य ददाति। कल्याणीदेवी अवनता सादरं गृहणाति। चत्वारः स्त्रियः राज्ञो पुरतः प्रणतिं नाटयित्वा प्रचलिताः। सुशीलापि ताभिः सहप्रचलति)।[23]

मध्यमवर्गीय परिवार -

मध्यमवर्गीय परिवार के अन्तगत समाज का बड़ा बुद्धि जीवी वर्ग आता है। ये अपर्याप्त आर्थिक स्थिति होने के बावजूद भी अनियंत्रित धनव्यय से परेशान वर्ग है। शैक्षिक प्रगति के फलस्वरूप समाज में ऐसे परिवारों की संख्या में बढ़ोत्तरी हेाती जा रही है। ये कृत्रिम जीवन व बाहरी दिखावे से त्रस्त लोग होते हैं। समाज की परवाह सर्वाधिक इसी वर्ग में देखी जा सकती है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी प्रतिक्षा एकांकी ऐसे ही मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवी परिवार को आधार बना कर लिखी है। जहाँ समाज की सोच की परवाह करके भावेश अपनी पुत्री की चिन्ता करते हुए उस पर अविश्वास करनें लग जाता है। साथ ही परिवारजनों की आपसी चिन्ता भी दृष्टव्य है -

"भामा - शृणोति न वा ? अथवाहं सर्वधा अरण्ये रोदिमि ? अन्धकारे किं पठ्यते ? अथवा पठनस्य नाटयं क्रियते। जानाम्यहं सर्वम। (स्विचमवनम्य विद्युतदीपं ज्वलयति)

भावेशः - इमे सर्वे गताः ? लीना महेशः- कल्पना इमे सर्वे क्व सन्ति ?

भामा- महेशस्तु आदिवसं गृहे कदापि भवति किम् ? यदैव बहिष्र्याति, अनिवेघ याति। प्रातर्याति, अर्धरात्रं यावन्न निवर्तते। भवांस्तस्मौ कदापि किमपि कथयति किम् ? पिता भूत्वा किं करोति भवान् ? हस्ते हस्तं निधाय तिष्टति। अहमेकाकिनी किं किं कस्मै कथयानि ?

भावेशः - क्व गते लीना - कल्पने ?

भामा- लीना प्रतिवेशे गता। कल्पना ? कल्पना अद्य कार्यालयान्न निवृन्ता किम्? सांयकालस्तु जातः । सा तु सार्धपंचवादनम् यावदवश्यं समायति। नहि, नहि। सा

आगता भवेत्। स्वकक्षे सा तिष्ठतीति मन्ये। कार्यालयातु सा आगता। अथवा ना आगता किम्?

भावेशः - आगता नागता इति व्यामिन्यं वदसि। सर्वथा बुद्विरेव विपर्यस्ता किम् ?

भामा- (सक्रोधम्) आम् आम्। विपर्यस्ता। भवतां तु सर्वथा शुद्धा वर्तते बुद्धिः । गृहे किं किं जायते विंदिंत भवताम् ?

भावेशः - कल्पना गृहे नास्तीहि, विदितम्। मया सम्पूर्णी गृहा अवतलोकिताः। शौचालयेऽपि कोऽपि नास्ति। गृहे मां च त्वां च विहाय कोऽपि नास्ति। अतः स्वैरं यद् वा तद्वा वद गालिं वा देहि मह्यम्।''[24]

निम्नवर्गीय परिवार -

आधुनिकीकरण के इस दौर में श्रम की प्रतिष्ठा घट कर उसका स्थान मशीनों ने ले लिया है। परिणाम स्वरूप श्रमजीवी वर्ग प्रभावित होकर निम्न वर्ग बन गया। इसके अन्तर्गत श्रमिक, कृषक, भिक्षा जीवी, दैनिक वैतन भोगी सर्वहारा लोग आते हैं । दैनिक जीवन की आवश्यकताओं का भी अभाव होनें के कारण यह समाज का उपेक्षित वर्ग है। कविवर नें सुशीला नाटक में समूह गीत के माध्यम से समाज के इसी वर्ग की और संकेत किया है। जब ग्वालिनें छाछ बेचने काशी जानें लगती है तो उन्हे पता लगता है कि वहाँ के राजा रानी जलकर मर जानें से काशी श्मशान बनी हुई है। तो वे काशी न जाकर मथुरा जाना चाहती है किन्तु वहाँ भी अनहोनी घटना के बारे में जान लेने के पश्चात् वे दुखी होकर वही सोचती है कि किसी भी प्रकार छाछ बिक जाए और वे घर पहुँच जाये।

स्त्री 1 - अस्तु तावद्। विवादेन किम् ? न वयं काशी यास्यामो न वा मथुराम्। वयमिहैव विक्रेष्यामः स्वीयं तक्रम्।

!! समूहगीतम् !!

काशी न यामो , मथुरां न यामः

यामो ग्रामम् स्वीयमो

नो हम्र्य नो रथमिच्छामः

इच्छामः स्वीयकुटीरम् ।''[25]

(ख) पारिवारिक सम्बन्ध -

प्रायः दाम्पत्य का अर्थ परिवार से ही लगाया जाता है, किन्तु दाम्पत्य सम्बन्ध के अतिरिक्त भी बहुत सारे सम्बन्ध है। जो परिवार को स्नेह सूत्र में आबद्ध करके रखते है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' को अपना ध्येय माननें वाले भारतीय परिवार यद्यपि सभी सजातीय बंधुओं को अपना परिवार स्वीकार करता है तथापि परिवार रूपी ईकाई में इन लौकिक सम्बन्धों का एक निश्चित निर्धारण कर दिया गया है, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति सही दिशा में विकसीत नहीं हो रहा है या गलत दिशा में जा रहा है, तो समस्या उठती है कि उसे किस प्रकार रोका जाए, कैसे समझाया जाए, और किस तरह उसके मन के वातावरण को परिवर्तित किया जाए, ताकि वह उन्नति का मार्ग पकड़ सके। शास्त्र उसको आकर्षित नहीं कर सकते, उपदेशक के यहाँ वह जाएगा ही नहीं। मित्र भी उसी धारा में सोचनें वाले होगें। इन स्थितियों में परिवार का वातावरण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। क्योंकि यही पहली पाठशाला होता है, जो कुछ बड़े करते है, वही बच्चा सीखता है। आपसी सौहार्दभाव, सम्मान, भागीदारी, संवेदनशीलता, जैसे गुण पारिवारिक सम्बन्धों का ही परिणाम होते हैं। आचरण और दिनचर्या का आधार परिवार ही बन सकता है।

पुस्तकों में ज्ञान होता है, किन्तु कोरे ज्ञान की तब तक विशेष भूमिका नहीं होती, जब तक उसे जीवन व्यवहार में न लाया जा सके। व्यवहार की शिक्षा में माता-पिता की भूमिका महत्वपूर्ण है। दैनिक जीवन क्रम में घर के बड़े-बुजुर्ग हैं। कहानियों, संदेशों को बच्चों तक पहुँचाते है। जब बच्चा स्कूल जाने लगता है तब वह उन्ही में से किसी विशेष के अनुरूप अपनें को तैयार करने के सपने भी देखने लगता है।

परिवार की विशेषताएँ -

विवाह और परिवार एक ही सिक्के के दो पहलू जैसे हैं। विवाह नहीं हो तो परिवार का अस्तित्व भी नही। परिवार का आधार ही स्त्री-पुरूष के वैवाहिक सम्बन्ध से है। समाज द्वारा एक मात्र यही सम्बन्ध आदरणीय और सर्व स्वीकार्य है। विवाह के पश्चात् स्त्री-पुरूष के सम्बन्धों से उत्पन्न संतान के तथा पति-पत्नी

के समूह को ही परिवार माना जाता है। प्रत्येक परिवार पितृ अथवा मातृ वंशीय होता है। परिवार की विशेषताएँ निम्न प्रकार है-

1. सार्वभौमिकता -

समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार सार्वभौम है। प्रत्येक समाज व देश में इसका अस्तित्व देखा जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी परिवार का हिस्सा है, और भविष्य में भी रहेगा। इसी कारण से परिवार की सार्वभौमिकता नष्ट नहीं हो सकती ।

2. रचनात्मक आचार -

व्यक्ति के चरित्र निर्माण की प्रथम ईकाई परिवार होता है। यहीं पर उसके अन्दर संस्कारों का जन्म होता है। बचपन में प्राप्त संस्कार ही व्यक्तित्व का निर्माण करतें है। परिवार में रहकर मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक विकास सम्भव है।

3. सीमित आकार-

सामाजिक संगठनों में परिवार प्राथमिक संगठन है। वास्तविक या रक्त संबन्धी ही इस संस्था के सदस्य होते हैं। वर्तमान में पाश्चात्य प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार का विधटन हो रहा है साथ ही संतति विरोध के कारण से भी परिवार का स्वरूप लघु हो रहा है। परिवार में पति-पत्नी व बच्चे मात्र रह गये है। प्रतीक्षा, मेघसंदेशम् सुशीला, तण्डुल प्रस्थीयम् नाटकों में वर्तमान समाज के इसी स्वरूप की चेष्ठाओं का वर्णन कविवर ने किया है।

4. भावनात्मक आधार -

परिवार में रहनें वाले सदस्यों की भावनाओं उनकी मूल प्रवृत्तियों के कारण ही एक घनिष्ठ, स्थायी व आकर्षक परिवार का निर्माण होता है। मुखिया का पत्नी-प्रेम, बच्चों के प्रति वात्सल्य, एक-दूसरे के प्रति प्रेम पूर्वक त्याग आदि प्रवृत्तियों इसे सुदृढ़ता प्रदान करती है।

'मेघसन्देशम्' एकांकी में गृहस्थ का बालक मेघ को अपने शहर में बुलाने हेतु पत्र लिखता है, यद्यपि गृहस्थ को ये पता है, कि यह बस बाल सुलभ मन की चेष्टा मात्र है, फिर भी वह अपने पुत्र की भावना को रखने के लिए कह देता है, यदि चिट्ठी पत्र मंजूषा में डाल दोगें तो यह बादल को मिल जायेगी। उसकी

बहन लता भी अपने भाई का मन रखने के लिए स्वयं वह चिट्ठी नीम के पेड़ को देने जाती है-

लता - (विहसन्ती) - अरे मूर्ख केनैतत् तपोपदिष्टं यत् पत्र मंजूषायां पत्रे प्रक्षिप्ते। मेघस्तत् प्राप्स्यति ? मेघाय पत्रं प्रेषयन्ति इमें महाकवयः! ऊँह्।

सौरभ - पितरस्तु कथयन्ति स्म।

लता - पितृभिस्त्वं मूर्खता नीतोऽसि रे बुद्धदेव।

सौरभः - त्वं मिथ्या वदति। मेघस्य संकेतं त्वं जानासि न वा ?

लता - (वातायनाद् बहिर्दर्शयन्ती) - तस्मिन प्रांगणे तं बिम्बवृक्षं पश्यसि। तस्मै पत्रमिदं देहि। स मेघाय दास्यति।

सौरभः - मिथ्या वदसि त्वम्। बिम्बवृक्षः कथं सन्देशं नेतुं प्रभवेत्।

लता - यद्यहं मिथ्यावादिनी तर्हि धारय त्वं स्वपत्रम्। स्वांगे तन्निधाय लालय् पालय (गन्तुमपक्रमते) (सौरभः रोदितुमारभते)।

लता - (परावृत्य) - अरे रोदिति! किमर्थं रोदिषि रे ?

सौरभः - अहमेतत्पत्रं मेघसकाशं प्रापयितुमिच्छामि मेघस्य संकेत कोऽपि नावेदयति।

लता - मा रोदीर्मम। मया तु कथितम्। निम्बवृक्षः सत्यं नेष्यति ते पत्रम्। स खलु मेघस्य परमः सखा।"[26]

भावनात्मक मूल प्रवृत्तियों की पराकाष्ठा 'प्रतीक्षा' एकांकी में तब अधिक उद्घाटित होती हुयी दिखाई देती है जब भावेश समाचार में अठारह वर्ष की युवती के अपहरण, बीस वर्षीय पड़ौसी द्वारा छः वर्ष की बालिका के बलात्कार की खबरे पड़ता है तो सहसा उसे अपने बच्चों की चिंता होने लगती है तथा वह सिहर उठता है। पत्नी, पुत्र महेश, पुत्रियाँ लीना व कल्पना को घर में ही खोजने लगता है। जब उसे पता चलता है, कि कल्पना कार्यालय से नहीं लोटी है, तो वह व्याकुल हो जाता है, उसकी चिन्ता उसे इतना बैचेन कर देती है, कि उसका एक स्थान पर बैठना भी मुश्किल हो जाता है। अन्त में परिवारजनों के प्रति उसकी यही चिन्ता व वात्सल्य सम्बन्धों को अधिक सुदृढ़ता प्रदान करते है।

5. सदस्यों का उत्तरदायित्व -

प्रत्येक व्यक्ति की समाज व परिवार के प्रति जिम्मेदारी होती है। हम जो कुछ भी होते हैं उसकी प्रथम उत्पत्ति परिवार द्वारा ही विनिर्मित होती है।

परिवार के प्रति स्व-जिम्मेदारी का बोध प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक है। परिवार में सदस्यों के उत्तरदायित्व के प्रति सजगता के अभाव में सदस्यों का दुर्गुणी बन जाना न केवल परिवार, अपितु समाज तथा राष्ट्र के प्रति भी अपराधी हो जाने के समान है। समाज में दिखाई देनें वाले चोर, डाकू, बेईमान, व्याभिचारी हेतु कहीं पर विद्यालय नहीं है। हमारा घर ही इन बुराईयों की पाठशाला है, क्योंकि शिक्षा का स्थान विद्यालय अवश्य है, किन्तु दिशा का सबसे महत्वपूर्ण स्थान परिवार ही होता हैं। गुण, कर्म, स्वभाव को उत्तम बनाने की दीक्षा देने का उत्तरदायित्व घर वालों पर ही निर्भर है। बच्चों को जो माता-पिता, जाने-अनजाने में बुरी आदते सिखाकर अपने बच्चे को एक बुरे व्यक्ति के रूप में समाज के समक्ष खड़ा कर देते है, वे समाज के कुसेवक है। बच्चों को भविष्य बिगाड़ने का उत्तरदायित्व उन्हीं का मानना पड़ेगा।

परिवार के प्रत्येक सदस्य को सुसंस्कारी बनाना गृहपति का सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक कर्तव्य है। परिवार में प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है, कि वह ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनें का प्रयास करें जिसमे रहकर बच्चे मानवोचित् सद्गुणों की शिक्षा प्राप्त कर सके। छोटों का कर्तव्य है कि वे बड़ो को संतुष्ट रखे उनका सम्मान करे, शिष्टाचार का पालन करे बड़ों के काम में उनका सहयोग करें।

आचार्य त्रिपाठी जी के 'प्रेक्षणक सप्तकम्' के 'मेघसंदेश', 'सोमप्रभम् प्रतीक्षा' तथा तण्डुलप्रस्थीयम् के पात्र इसी शिष्टाचार का पालन करते हुए दिखाई देते हैं । एक दूसरे का सहयोग करना परिवार की स्वस्थ परम्परा का हिस्सा होना चाहिए जिसका पालन नाटककार राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने बखूबी किया है। हारी-बिमारी में सबकी सूश्रूषा, परिचर्चा, सहानुभूति व्यक्त करने की तत्परता, बड़ों के द्वारा छोटों को पढ़ाना परिवार के सदस्यों के विशेष कर्तव्य है। बड़े-बूढ़े फालतू न बैठकर छोटों को प्रश्नोंत्तर व कहानियों के माध्यम से ज्ञानवृद्धि में सहायता करे। परिवार में प्रत्येक सदस्य को चाहिए कि वह निरर्थक समय गवाँते रहने की सुविधा को प्रतिष्ठा न समझें। मिलजुलकर काम करने की परम्परा को अपनायें ।

भोजन बनाने सफाई रखनें जैसे छोटे-छोटे कार्यों का बोझा किसी एक पर न डालकर उसमें अन्य लोग भी सहयोग करे उनके मनोवैज्ञानिक परिणाम अच्छे प्राप्त होगें। इन्ही सिद्वान्तों, के अनुरूप सभी को अपने व्यक्तित्व में ढालना

आवश्यक है तथा उसी के अनुरूप परम्पराऐं विकसित करनी चाहिए। 'मेघसंदेश' में इन परम्पराओं का निर्वाह त्रिपाठी जी के पात्र अत्यन्त सुगमता से करते हुए दिखाई देते हैं। स्वस्थ परिवार को ही स्वस्थ जीवन का आधार मानते हुए आचार्य राधावल्लभ जी ने नाटकों के माध्यम से अपनी लेखनी को विस्तार दिया है।

पारिवारिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में डा. राधावल्लभ जी के नाटकों में एक स्वरूप यह भी उभर कर सामने आता है, कि अपराध चाहे किसी का हो, किन्तु स्त्री को ही आक्षेप को झेलना पड़ता है। 'सुशीला' प्रेक्षणक में अपने पारिवारिक सम्बन्धों को बचाने के लिए स्त्री को ही कड़वा घूँट पीना पड़ता है। एक संवाद में स्त्री भोलू के विषय में बताती है, कि ''एक दिन सुशीला के घरवाले ने उसका हाथ पकड़कर अन्दर खींचने की कोशिश की थी, लेकिन इस बात को इस लिए दबा दिया गया क्योंकि वह घर पर बताती है, तो बाहर निकलना बद हो जाता है तथा बाहर बताती है, तो उसका छाछ किया बन्द हो जाता है। अतः हर स्थिती में स्त्री ही पारिवारिक सम्बन्धों को बचानें का प्रयास करती हुई दिखायी देती है।

सन्दर्भ सूची -

1. मानक हिन्दी कोश -रामचन्द्र वर्मा, पृ. 427
2. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, चतुर्वेदी द्वार का प्रसाद, पृ. 1957
3. वाचस्पत्यम्, चोखम्बा संस्कृत सीरीज, पंचम भाग, पृ. 1927
4. हिन्दी विश्वकोश त्रयोदश भाग, नगेन्द्रनाथ वसु और विश्वनाथ वसु, पृ. 1927
5. **Darid Silks** इंटरनेशनल एन साइक्लापिडिया आफ साइंस **Vol-SP-304**
6. कब तक पुकारू, रांगेय राघव, पृ. 836
7. हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक चित्रण-महेन्द्र कुमार जैन, पृ. 5
8. समाज शास्त्र विश्वकोश, हरिकृष्ण रावत, पृ. 120
9. हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक चित्रण-महेन्द्र कुमार जैन, पृ. 69
10. सामाजिक मानव शास्त्र की रूपरेखा, रविन्द्र नाथ मुखर्जी, पृ. 260
11. सुशीला, पृ. 13
12. वही
13. ऋग्वेद-वैदिक संशोधन मण्डल, 10/85/36
14. सुशीला, पृ. 17
15. (सं) ए वेबर, लंदन, 1985, 5/2/1/10
16. बृहदाहरण्यकोपनिषद्, 4/3/21
17. हिन्दू संस्कार, डा. राजबली पाण्डेय, पृ. 202
18. सुशीला, पृ. 7
19. समाजशास्त्र, डा. रवीन्द्र मुखर्जी **NCERT** कक्षा **-10, SBPD Publication**
20. सुशीला, पृ. 5
21. वही
22. प्रेमपीयूषम्, अंक 1, पृ. 6
23. सुशीला, पृ. 28
24. प्रेक्षणक सप्तकम्, प्रतीक्षा, पृ. 62
25. सुशीला, पृ. 4
26. प्रेक्षणक सप्तकम्, मेघसंदेशम्, पृ. 19

पंचम अध्याय

कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक परम्पराएँ

पंचम अध्याय

कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक परम्पराएँ

मनुष्य को अपनें जीवन में प्राप्त सम्पदा उसके जीवन को विपुल स्वरूप प्रदान करती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि ये सम्पदा भौतिक रूप में ही विद्यमान हो। मनुष्य का शरीर जिस प्रकार प्राणीशास्त्रीय सम्पदा के रूप में माता पिता से प्राप्त होता है तथा अनेक भौतिक वस्तुएँ टेलीविजन, पंखा, वस्त्र, मकान आदि विरासत भी उसके जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है, किन्तु धर्म, विचार, संस्कृति, रीतिरिवाज संस्कार आदि अभौतिक सम्पदा से उसके जीवन की दशा व दिशा दोनों का आकलन किया जा सकता है, जिनके अभाव में मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त करने से वंचित प्रतीत होने लगता है। सामाजिक विरासत का यही पक्ष परम्परा कहलाता है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी संस्कृत जगत के ऐसे मूर्धन्य विद्वान है जिन्होंने न केवल सामाजिक परम्पराओं को अपने जीवन में आत्मसात् किया है, अपितु अपनी संवेदनात्मक स्नेहिल दृष्टि से समाज में सुसज्जित परम्परा के चित्र खींचकर अपने साहित्य में सजा दिये हैं। कविवर ने हमारे राष्ट्र में हो रहे पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण से परे अपनी नाट्य रचनाओं में भारतीय परम्परा को ही पुष्पित और पल्लवित किया है। साम्राज्यवाद और आतंकवाद के युग में हमारी परम्परा की मनोरम झांकी के दर्शन आचार्य राधावल्लभ जी के नाट्य साहित्य में किए जा सकते हैं। यद्यपि परम्परा का सभी लोगों का अपना अभिप्राय होता है, तथापि परम्परा **(Tradition)** शब्द की उत्पत्ति **Tradera** अंग्रेजी शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है- 'हस्तान्तरित करना'। इसी **Tradition** शब्द का समानार्थी संस्कृत में परम्परा शब्द मिलता है जिसका अर्थ है 'एतेहि' अर्थात विरासत में मिलना। इस प्रकार 'परम्परा' का जो अर्थ हमें प्राप्त होता है वह यह है, कि एक सामाजिक प्रथा जो समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा हस्तान्तरित होती है। परम्परा के अन्तर्गत पदार्थों का नहीं बल्कि विचार, आदत, प्रथा, रीति-रिवाज, धर्म आदि अभौतिक तत्वों का समावेश होता है।

जेम्स ड्रीयर नें परम्परा को परिभाषित करतें हुए बताया है कि ''परम्परा कानून प्रथा कहानी तथा किंवदन्ती का वह संग्रह है जो मौखिक रूप से एक पीढ़ी

से दुसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है। ''डा. योगेन्द्र सिहं नें भारत में'' परम्परा और आधुनिकता'' पर सेमिनार में अपना लेख प्रस्तुत करते हुए परम्परा की व्याख्या निम्न शब्दों में कि है- ''परम्परा समाज की एक सामूहिक विरासत है जो कि सामाजिक संगठन के सभी स्तरों में व्याप्त होती है, उदाहरण के लिए मूल्य व्यवस्था सामाजिक संरचना और व्यक्तित्व की संरचना। इस प्रकार परम्परा सामाजिक विरासत को कहा जाता है इस सामाजिक विरासत के तीन तत्व हैं- मूल्यों की व्यवस्था, सामाजिक संरचना और उसके परिणामस्वरूप व्यक्तित्व की संरचना।''

जिन्सबर्ग के शब्दो में

''परम्परा का अर्थ उन सभी विचारों आदतों और प्रथाओं का योग है जो व्यक्तियों के एक समुदाय का होता है, और एक पीढ़ी से दुसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता है।''

मैक्डूगल के अनुसार "हम जीवितों की अपेक्षा मृतकों से अधिक सम्बन्धित होते हैं। समस्याओं को सुलझानें एवं परिस्थितियों का सामना करनें के पुराने ढंगों के आधार पर नए ढ़गों की खोज की जा सकती है, किन्तु परम्परा हमें धैर्य, सहास, एवं आत्मविश्वास प्रदान करती है।" 'परम्पराएँ सामाजिक जीवन को निंयत्रित करती है। समाज में उत्पन्न परिवेश की चिंता आचार्य त्रिपाठी जी की सूक्ष्म दृष्टि से अछूती नहीं रही है। सामाजिक जीवन में परम्पराओं के प्रति आस्था और चिन्तन का ही प्रतिफल है लेखक अपनी रचनाओं में वही लिखनें का प्रयास करता है जिसे व जोरदार शब्दों में तो कहीं कह नहीं सकता, किन्तु उसकी छाप रचनाकार के हृदय पर जोरदार वार कर रही होती है। कहनें के प्रति जो लगाव आचार्य जी का है वह समाज को सुसंस्कृत बनानें के प्रयास से उपजी चिंताओं के कारण है। कविवर त्रिपाठी जी ने अपनें नाटकों में अपनी उन्हीं चिन्ताओं को जोड़ा है, जिनसे जुड़ा हुआ वह समाज को देखना चाहते है।

रचना का वास्तविक महत्व यही होता है कि वह हमारे समाज को, समाज के उन अवयवों को और उन तथ्यों को हमारे समक्ष खोलकर रखती है जिन पर हमारी दृष्टि उस रूप में कभी नहीं गई जिस सूक्ष्मता से रचनाकार की दृष्टि से देखा है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी संस्कृत जगत के ऐसे ही मूर्धन्य है, जिन्होंने भारतीय परम्पराओं को आत्मसात् कर आधुनिक जगत के साथ नयी-

नयी संवेदनाओं के चित्र खीचंकर साहित्य मे रख दिये है जो इस समय और आने वाले समय में संस्कृत पाठकों एव संस्कृत उपासको को नयी-नयी दिशाएँ प्रशस्त करते रहेंगे।

फूहड़ता व विकृत मानसिकता के कारण हमारी परम्पराओं का नित ह्रास हो रहा है इसे ही ध्यान में रखते हुए डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें अपनी नाट्य रचनाओं में लुप्त होती हमारी प्रमुख विरासत को संरक्षित करनें व पाठको का ध्यान उस और आकृष्ट करनें का प्रयास किया है।

(क) संस्कार -

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य के व्यक्तिगत व सामाजिक उत्कर्ष के धायक ये संस्कार दैहिक तथा भौतिक दोनों ही जीवन को सुव्यवस्थित बनातें है। संस्कारों के कारण ही शुद्धता, आस्तिकता धार्मिकता और पवित्रता जैसे भावों की सृष्टि है। मनुष्य का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन संस्कारों की निष्पन्नता से प्रभावित होता रहा है। सूक्ष्मता से देखे तो संस्कार का आधार धर्म ही है, जिसके द्वारा मनुष्य निज जीवन को, उन्नत, परिष्कृत तथा सुसंस्कृत बना सकता है। संस्कारों के प्रभाव से मनुष्य मणि के समान दैदिप्यमान हो जाता है।

संस्कारों से प्राणी का न केवल शारीरिक अपितु मानसिक, बौद्धिक, वैयक्तिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन भी उन्नत हो जाता है। प्राचीन भारत में संस्कार का आधार ''धर्म'' था तथा यह विचार व्यापक था कि संस्कारों द्वारा मनुष्य जीवन को उन्नत बना कर अपना आध्यात्मिक विकास करता हैं इसी धार्मिक आधार के कारण संस्कार में यज्ञ , हवन तथा कर्मकाण्ड की प्रबलता रही। इन्ही के माध्यम से अभीष्ठ की प्राप्ति और प्रयोजन की सिद्धि मानी गई। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि "मनुष्य का जीवन संस्कारो से परिचालित है। भारतीय के विषय में कहा भी गया है कि "पूर्ण सांस्कृतिक भारतीय संस्कार सम्पन्न होगा।" जिनकी संख्या विभिन्न धर्म-शास्त्रकार पृथक् मानते हैं, कुछ 18 बताते है तो कुछ 40, कुछ समुदाय इनकी संख्या 13 ही मानते हैं, किन्तु संस्कारों के

महत्त्व एवं प्रमुखता को ध्यान में रखते हुए प्रायः धर्म शास्त्रकारों ने इन 16 महत्वपूर्ण संस्कारों को निर्धारित किया है-

(1) गर्भाधान

(2) पुंसवन

(3) सीमान्तोन्नयन

(4) जातकर्म

(5) नामकरण

(6) निष्क्रमण

(7) अन्नप्राशन

(8) चूड़ाकर्म

(9) कर्णबेध

(10) विद्यारम्भ

(11) उपनयन

(12) वेदारम्भ

(13) केशान्त

(14) समावर्तन

(15) विवाह

(16) अन्त्येष्टि

मनुष्य की चाँद पर पहुँच के साथ आधुनिक युग में मनुष्य के लिए संस्कारों का अर्थ और उसके मायने भी बदल गये। पुराकालीन कुछ ही संस्कारों की झलकियाँ समाज में प्रत्यक्ष होती हैं अब संस्कार का अर्थ व्यक्ति के आचार-व्यवहार से लगाया जाने लगा है। मतिमूढ व अशिष्ट आचरणों को कुसंस्कार की संज्ञा दे दी गई है वहीं इसके विपरीत सज्जन व्यक्ति समयानुसार सर्वथा शिष्ट आचरण करता है, जिसे वर्तमान में संस्कारों का नाम दे दिया गया है।

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में भी संस्कारों के आधुनिक स्वरूप को ही पोषण दिया है। उनके द्वारा रचित नाटकों के पात्रों को यत्र-तत्र संस्कारों के आधुनिक स्वरूप को ही प्रदर्शित करते हुए दिखाया गया है। आधुनिक समय और भौतिकता के युग पर दृष्टिपाट करें, तो यही स्वरूप समयानुसारी है। साथ ही ह्रासोन्मुख संस्कृति के उत्थान का परिचायक है, तथापि आचार्य राधावल्लभ

त्रिपाठी जी ने संस्कारों के नये स्वरूप के साथ पुरातन संस्कारो का अनुसरण भी अपनें पात्रों से करवाया है। 'सुशीला' नाटक में तथा 'धीवर शाकुन्तलम्' एकांकी में महत्वपूर्ण संस्कार 'विवाह' का पालन वर्तमान परिस्थितियो में भी कवि नें अनिवार्य बताया है। वहीं हम संस्कारों के भाषिक स्वरूप पर दृष्टिपात करें तो कविवर के नाटकों के पात्र संस्कार हीन शब्दों का प्रयोग करते देखे जा सकते है -

"(सोमप्रभा निर्गता नेपथ्यात्। श्वाश्रवास्तारस्वरः)

विमले ! अयि रण्डे ! कुत्र मृतासि ? कियत्: कालात् शब्दापयामि ?"[1]

"श्वश्रूः - प्रातः कालिंक कार्यजातं सम्पादयसि! इदानीमपि चायपेयस्य नास्ति कापि कथा। तव दुरात्मा पिता आगत्य साधयिष्यति किं चायं येन काकिनी अपि न दत्ता ।

विमला - स तु मां नेतुमागतः श्रावणे विगते भवती भिरेव -

श्वश्रूः - (चित्कुर्वन्ती सकोपम्) - विमले एतावांस्तव साहसः। चिहृवा चालयसि मत्सम्मुखम्। उतंर ददासि ? डाकिनि पिशाचि।"[2]

"धीवरशाकुन्तलम् में भी राजा का सूचक गरीब धीवर का अनादर करते हुए उसे कुम्भीलक! मलिक्लुच ! आदि नामों से सम्बोधित करते हुए मानव मात्र के प्रति स्वसंस्कार हीनता का परिचय देता है -

सूचकः - कोट्टपालः। राजश्यालः। (अर्धचन्द्रप्रदानेन तं नुदन्) चल अगे! कुम्भीलक! मलिम्लुच !

धीवर - हे! हे! किमर्थं धक्कयसि। अहं चलामि स्वम्येव।

सूचक - अतिमात्रं स्फायते! श्रेष्ठिन्! त्वमपि सहागच्छ। स्यानकं प्राप्य लभंतामयं स्वाविनयस्य फलम्।"[3]

वहीं 'प्रेमपीयूषम्', धीवर शाकुन्तलम् तथा तण्डुलप्रस्थीयम् नाटकों में विवाह संस्कार के भिन्न-भिन्न रूपों से भी पाठकों को अवगत कराने का प्रयास करते हुए, कविवर ने वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी संस्कारों की महत्ता का चिन्तन प्रस्तुत किया है।

(ख) रीति रिवाज -

संसार में निवास करने वाले प्रत्येक समाज के अपनें सामाजिक नियम कानून होतें है जिन्हे समाज के मानदण्ड भी कहा जाता है। इन मानदण्डों से समाज का प्रत्येक व्यक्ति आबद्ध रहता है। इन नियमों से एक समाज का गहरा सम्बन्ध होता है। ये समाज को परिष्कृत एवं सुसंस्कृत बनानें में अपना विशेष योगदान रखते है। जिसका अभिप्राय है आचरण, व्यवहार, काम करनें की रीति, चालचलन आदि। मनुस्मृति में आचार शब्द प्रथा एवं रिवाज के रूप में व्यवहृत हुआ है।

"यासंमन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।"[4]

समाज में कुछ रीति व व्यवहार सर्वमान्य होतें है जिनका पालन सामाजिक रूप से सबके लिए अनिवार्य होता है। ये अनिवार्य व्यवहार समाज में ही नहीं अपितु धर्म व राजनीति के क्षेत्र में होता है। जिस प्रकार चुनावों में आचार संहिता का पालन करना या कुछ नियमों को मानना उनका कर्तव्य होता है। उसी प्रकार सामाजिक परिवेश में कुछ नियम होते हैं जिन्हे रीति-रिवाज की संज्ञा दी जाती है,

जिनका पालन करनें पर मनुष्य को सामाजिक कर्तव्यों के निर्वाह में निपुण माना जाता है। इनका अस्तित्व आनादि काल से प्रवाहित हो रहा है। इन रीति रिवाजों के तीन रूप होते हैं-

1. लोकाचार
2. कुलाचार
3. शास्त्राचार

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों का विश्लेषण करें तो रीति-रिवाजों के तीनों ही रूपों के दर्शन उनके नाट्य साहित्य में किए जा सकते हैं।

(1) लोकाचार -

रामायण काल में जो रीति - रिवाज प्रचलित थे उन्हे 'लोकाचार' कहा गया है। ''समाज में प्रचलित रीति-रिवाज रामायण काल में लौकिक समय लोवृत अथवा लोकाचार कहलाते थे।''[6]

तात्कालीन समय में ये ही देश के अधिकृत कानून होते थे। इनका उल्लंघन करनें वाला दण्ड का भागी होता था।

"न हि लोकविरुद्वस्य लोकवृत्तादुपेयषुः।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथम्।"[6]

मध्ययुगीन समाज इन लोकाचारों का पालन स्वेच्छा से करता था। बड़ों का आदर करना, सौगंध खाना, चरण स्पर्श करना, विवाह सम्बन्धी रीति-रिवाज, परिवार में बड़ों की बात मानना एवं उनके सामने मर्यादित व्यवहार करना आदि लोकाचार की श्रेणी में आते हैं, यद्यपि मध्यकालीन साहित्य में इसकी गहरी छाप है, किन्तु राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें आधुनिक नाटकों में भी इस लोकाचार की मनोरम झाँकी 'तण्डुल-प्रस्थीयम्' नाटक के माध्यम से प्रस्तुत की है विदेह गाँव का प्राकृतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश निरंजन के संवेदनशील अन्तः करण को झकझोर देता है और निरंजन अपनी माँ, अपने समाज व गाँव को समस्याओं से निजात दिलानें के लिए संकल्प लेता है कि-

"अधीत्य विद्यां सकलार्थ दात्रीं
जलं विदेहेषु न चानयेयम्
पित्रा यदि त्वां न च योजयेयं
निरंजनो नास्मि पितुः सुपुत्रः।।"[7]

इसी नाटक में नाटककार ने निरंजन को लोकाचार का पालन करनें वाले एक ऐसे युवा के रूप में प्रस्तुत किया है, जो अपने नम्र व सम्मानजनक व्यवहार से सभी का दिल जीत लेता है। दृढ़ संकल्प के साथ निरंजन जब विद्याध्ययन् के लिए पंचानन मिश्र के आश्रम पहुँचता है और आश्रम में चान्द्रायण व कृच्छ्रायण के सम्मुख जाकर कहता है -

"निरंजन - (उपसृत्य) नमो युवाभ्याम्।
कृच्छ्रायण - चान्द्रायण , नमस्करोत्ययम्।
चान्द्रायण - तेन किम् ?
कृच्छ्रायण - अद्य यावन्न कोऽपि मां नमश्चकारं श्रुत्वा मे चित्ते कुतकुतं जातम्।"[8]

(2) कुलाचार -

किसी परिवार या जाति का विशेष कर्तव्य या रिवाज कुलाचार कहलाता है। इनमें देशकालानुसार भिन्नता देखी जाती है। प्रत्येक परिवार जाति तथा कुल के अपने कुछ रीति-रिवाज होते हैं, जो एक पीढ़ी से दुसरी पीढ़ी में स्वतः ही स्थातान्तरित होते रहते हैं। जिनका पालन मनुष्य आस्था व कुल परम्परा के वशीभूत होकर करता है। पारस्कर गृहय सूत्र में कुलाचार के विषय में स्पष्ट कहा गया है कि -

"ग्राम वचनं च कुर्युः।"[9]

"विवाहश्मशानयो: ग्रामः प्रविशतादिति वचनात्।"[10]

"तस्मातयोग्रासः प्रमाणमिति श्रुतेः।"[11]

अर्थात् ग्राम की वृद्ध स्त्रियाँ-पुरूष जिस प्रकार कहे, वह लोकाचार किया जाए, क्योंकि स्मृतियाँ भी कहती हैं कि विवाह व अन्त्येष्टि संस्कार के समय शास्त्रीय आचार के साथ कुल की वृद्धाओं की वाणी को भी प्रमाण मान लेना चाहिए।

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें अपने पात्रों के माध्यम से कुलाचार व शास्त्रचार का अनुसरण कर आचरण करनें का संदेश अपने नाटकों में दिया है - "वस्तुतो गुरवोऽपि न तथा ग्रन्थग्रन्थीः शिथिलयिंतु प्रभवन्ति तथायम्।"[12]

"सर्वाणि शास्त्राणि तस्य हस्तामलकवद् भासन्ते"[13]

सुशीला नाटक में सुशीला के पति पं देव शर्मा ब्राहनाण है, जो कि किसी भी स्थिति में अपनें कुलाचार को नहीं छोड़ना चाहते है। आचार्य जी नें नाटक के माध्यम से बताया है कि किस प्रकार पं. देवशर्मा अपनें कुलाचार के प्रति अडिग होने के कारण ज्योतिष व कथावाचन के अलावा कोई अन्य कार्य नही कर सकते है।

चाहे बेटा भूखा मर जाये या पत्नी के शरीर पर वस्त्र न रहे, शुद्व-अशुद्ध, पूजा - पाठ में विश्वास कर भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाले हैं। इसी दुष्कर जीवन से तंग आकर सुशीला कह उठती है -

"तर्हि एवमेव निष्क्रिय आस्व ब्राहयवदेव ! काम म्रियेतां तव भार्या पुत्रश्च।"[14]

इस नाटक में ये भी दर्शाया गया है राजा हो, प्रजा हो, ब्राह्मण, वैश्य, शुद्व कोई भी हो, किन्तु पुत्रेष्णा प्रत्येक कुल में प्रबल होती है काशी नरेश को अनेक व्रत, अनुष्ठान, यज्ञ आदि के बाद भी पुत्र प्राप्ति नहीं होती हैं, किन्तु वह जंगल में सुशीला के पुत्र को देखकर ग्रहण कर लेता है और स्वयं ही तर्क देकर मन्द स्वर में तीन बार" यह पुत्र किसका है ?" कहता है लेकिन प्रत्युत्तर न सुनकर "मौन सम्मतिलक्षणम्'' का तर्क देकर उस बालक को स्वीकार कर लेता है। जिससे ज्ञात होता प्रत्येक कुल में पुत्रेष्णा का कुलाचार कितना प्रबल है -

"प्रभु: कथयति गृहाण गृहाण। तर्हि गृहणामि। अयं उत्थापितः अयं च गृहितो बालकः। इनानीयमं मम पुत्रो जाताः।''[15]

(3) शास्त्राचार -

शास्त्राचार से तात्पर्य उन रीतियों से है जिनका आधार शास्त्र है। इन रीति रिवाजों की जानकारी हमे प्राचीन ग्रन्थों मे प्राप्त होती है। भारतीय समाज मे मनुष्य को उन्नत बनानें हेतु अनादि काल से शास्त्रकारों का निर्वाह किया जाता रहा है। समाज में प्रचलित कुछ रीति-रिवाज ऐसे होतें है जिनका पालन करना शास्त्रों के अनुसार अनिवार्य होता है। लोकाचार व कुलाचार से श्रेष्ठ शास्त्राचार को माना गया है। लोकाचार व कुलाचार दोनो की विवादित अवस्था का समाधान शास्त्राचार होता है।'' ''गीता'' में भी शास्त्र सम्मत कर्म को श्रेष्ठ बताया है। शास्त्र विरूद्ध आचरण करनें पर न तो सुख की प्राप्ति होती है और न ही परमगति मिलती है -

"यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते काम कारतः।
न स सिद्विमवाप्नोति न सुखं न परागति।''[16]

कर्तव्य-अकर्तव्य की अवस्था में शास्त्र ही प्रामाणिक आधार है। संशय की स्थिति में शास्त्र ही उचित व अनुचित के निर्धारक है। तुलसीदास जी ने भी अपनी सतसई में शास्त्र सम्मत बात को ही उचित माननें का आग्रह किया है -

"चंचल सहितरू चंचला अतं -
अतं - जुत जान। संत शास्त्र
संमत समुझि तुलसीकरू परमान।।''[17]

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी कृत नाटकों में भी शास्त्र से संबंधित कुछ रीति-रिवाजों का वर्णन मिलता हैं सुशीला नाटक में शास्त्र सम्मत बात को ही प्रमाण मानकर काशी के राजा सुशीला के पुत्र को देखकर उसे ग्रहण कर शास्त्रानुसार तीन-बात कहते है'- यह पुत्र किसका है ?'' और प्रत्युत्तर न पाकर ''मौन सम्मतिलक्षणम्'' का तर्क देकर उसे स्वीकार कर लेते हैं।

(ग) वर्णाश्रम व्यवस्था -

भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम अवस्था का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह व्यवस्था आर्यो की सामाजिक व्यवस्था हेतु स्थापित की गई थी। उस समय हिन्दु समाज में सहयोग एवं सहकारिता की भावना प्रबल रूप से कार्यरत थी। इसी के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति के क्रियाकलापों का निर्धारण हो जाया करता था। जहाँ एक ओर पाश्चात्य जगत के धर्म और संस्कृति में सदैव संघर्ष रहता था, दूसरी ओर भारत में ऐसे शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया गया जिनके आधार पर भौतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियाँ सबको समान रूप से सुलभ हो सकी। इन्हीं शाश्वत मूल्यों में वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है।

वर्ण शब्द का अर्थः -

'वर्ण' शब्द 'वृञ्' अथवा वरी धातु है, जिसका अर्थ है चुनाव करना या वरण करना। आशय यह है, कि वर्ण से आशय व्यवसाय विशेष को चुनने से हैं। वर्ण उस वर्ग का सूचक प्रतीत होता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य व व्यवसाय है, परन्तु वर्तमान में हमें समाज का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह इससे भिन्न है तथा शास्त्रों की परिभाषा के विपरित है। वर्णाश्रम व्यवस्था सदा से हमारी संस्कृति का अंग रही है। वर्णाश्रम व्यवस्था चातुर्वण्र्य व्यवस्था सम्पूर्ण आर्य जाति की वह वास्तविक अवस्था है, जिसकी संकल्पना एवं धारणा वैदिक परम्परा के ऋषि-मुनियों नें की थी। आज हिन्दू समाज में जाति व्यवस्था ऊँच-नीच छुआछुत के दृश्य देखनें को मिलते हैं, किन्तु वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था का अनुसरण किया जाए तो वहाँ ऐसा कोई विधान परिलक्षित नहीं होता है। वर्तमान व्यवस्था में स्वार्थी व पाखंडी तथा धर्म और सत्ता के गठजोड़ का दृश्य दिखाई

देता है। हमारे शास्त्रों में स्पष्ट रूप से बताया गया है, कि वर्णाश्रम व्यवस्था से मानव के धर्म के उन्नति होगी। शास्त्र कहते है-

"पिंडे-पिंडे मतिभिन्ना"

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का धर्म अलग होता है। यहाँ धर्म से मतलब व्यक्तिगत धारणा से है। पिता, माता, पुत्र, भाई, बहन सबका धर्म अलग होता है व उसी के अनुसार सभी अपनें कर्तव्यों का पालन भी करते हैं ।

वर्णाश्रम का अर्थ इसी शब्द में छुपा हुआ है। वर्ण अर्थात् रंग जो कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर कें चहुँ ओर प्रकाश रूप में रहता है जिसे योगीजन तेजोवलय कहते हैं, यद्यपि इस तेजोवलय को योगी जनों से भिन्न सामान्य मनुष्य विशेष वैज्ञानिक यंत्र के बिना देखनें में सक्षम नहीं है। इसी तेजोवलय को व्यक्ति के स्वभाव, गुण, प्रकृति आदि के आधार पर विभाजित किया गया है, जिसे 'वर्णाश्रम' कहते हैं। शास्त्रों में शुद्ध आचार-विचार वाले तेजोवलय से युक्त व्यक्ति का वर्ण शुक्ल बताया है। ऐसे ही व्यक्ति को ब्राह्मण माना गया है। जाति मजहब का कोई आधार नहीं है। तात्पर्य यह है कि चातुर्वण्य व्यवस्था की उत्पत्ति इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म से हुई है। वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार गुण, कर्म, स्वभाव संस्कार आदि है न की जन्मजात व्यवस्था यह एक दैवीय प्राकृतिक व्यवस्था है। वैदिक परम्परा में इसी दैवीय अवस्था का अध्ययन अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि समाज के कल्याण के लिए कुछ नियम बनाए गये, जिन्हें वर्णाश्रम व्यवस्था कहते हैं ।

श्रीमद्भागवत गीता में भी कृष्ण नें स्पष्ट कहा है - "चातुर्वण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।।"[18] जन्मतः न कोई ब्राह्मण है और न ही जन्म से सब शुद्र होते हैं। उत्तम संस्कारो के अनुपालन से कोई भी ब्राह्मण बन सकता है। शास्त्रानुसार -

"जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विजउच्यते।"[19] फिर ब्राह्मण कौन है? जो ब्रह्म जानता है वही ब्राह्मण है - ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः। समाज संरचना के लिए दूसरा दृष्टिकोण अनीश्वरवादी या विज्ञानवादी कहलाता है। इस मत के अनुसार किसी ईश्वर या देवता नें वर्णों की रचना नहीं की है। महाभारत में समाज की संरचना का प्राकृतिक आधार बताया गया है। जिस विचार के अनुसार समाज

पहले वर्णविहिन था, परन्तु बाद में भिन्न व्यवसाय को आधार मानकर समाज चार वर्गो में विभक्त हो गया- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र।

जहाँ तक हम डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी कृत नाटकों का परिशीलन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य जी अपनें युग की वर्ण व्यवस्था को ईश्वरकृत ही स्वीकार करतें है। उनके नाटकों में ऐसा कोई तत्व नहीं मिलता जिसके आधार पर हम वर्णव्यवस्था को ईश्वर कृत माननें पर प्रश्न चिन्ह् लगा सकें। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों मे निहित वर्ण व्यवस्था प्रणाली यह भी स्पष्ट कर देती है कि यह व्यवस्था सामाजिक जीवन के संविधान का आधार बन चुकी है। सामाजिक व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता है। उनके पात्र अपनें निर्धारित कार्य में संलग्न दिखाई देते हैं । यद्यपि उनके नाटकों में ब्राह्यण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र चारों का वर्णन प्राप्त होता है, तथापि ब्राह्मण व शूद्र के कार्यों व कर्तव्य का वर्णन अधिक प्राप्त होता है।

'सुशीला' नाटक के एक ¬प्रसंग में उसका पति कहता है- भूखे मर जाऊँगा, किन्तु ब्राह्मण हुँ अपनें धर्म को नहीं छोडूगाँ। देव शर्मा ब्राह्मण होनें के कारण ज्योतिष कथा वाचन से भिन्न कोई भी कार्य नहीं करना चाहते हैं। पूजा-पाठ में विश्वास कर वह भगवान भरोसे बैठे रहते हैं। इस स्थिति से तंग आकर सुशीला सहसा कह देती है- "तर्हि एवमेव निष्क्रिय आस्व ब्राह्यणदेव! कामं म्रियेतां तथ भार्या पुत्रश्च।",[20] 'प्रेमपीयूषम' नाटक के चतुर्थ अंक में राजा यशोवर्मा व उनकी रानी इन्दुमति के संवाद से क्षत्रिय के प्रजारक्षण धर्म की ओर इशारा किया गया है। प्रजा पर आने वाले आगामी शत्रु संकट की चिन्ता राजा के सुख पर स्पष्ट दिखाई देती है तथा राज्य की रक्षा ही उनके लिए सर्वोपरि है -

"इन्दु. - आर्यपुत्र किंचितुद्विग्नमानसं भवन्तमपि लक्षयामि।

राजा - राज्ञि , बहवाश्रिभाकारणानि समायान्ति।"

राजकार्ये। काश्मीर नरेशों ललितादित्यों महता सैन्येन अस्मानभियातुकाम इत एवागच्छति तत्प्रीतकार चिन्तयामि।

इन्दु॰ - (सभयम्) किं युद्वम् भविष्यति। राजा- आर्य, कोऽत्र प्रतिकारो युद्वाद् ऋते। सम्पति शतक्रोशमात्रमेव तस्य सैन्यं वृर्तते कान्य कुब्जात्। दशभिरेवाहोभिरसावत्र प्राप्स्यती - ति तर्कयामि। तन्मयाप्यस्मिन् वस्तुनि

शयानेन न स्यीयते। सञजीकृतं सैन्यं नोत्पधेदिति ताद्य मदनोत्सवः प्रत्यादिष्टः। तदेहि गच्छावः।"[21] तण्डुलप्रस्थीयमं नाटक में भी नाटककार नें वर्णव्यवस्था (जाति व्यवस्था) पर प्रकाश डाला एक ओर, अछूत अर्थात् शूद्र वर्ण का निरंजन आधुनिक युग के विभिन्न मूल्यों के लिए संघर्ष करता हुआ दिखाया गया हैं वहीं दूसरी और जमींदार वर्ग का यथार्थ के कठोर धरातल पर दूषित व्यवहार दिखाया गया है। निष्कर्षतः हम यही कह सकते है कि आचार्य जी नें अपनें नाटकों में शूद्र वर्ण के किंचित संघर्ष के अलावा चारों वर्णों मे सौमनस्य ही बताया है तो राष्ट्र में वर्ण व्यवस्था का संगठित स्वरूप ही प्रस्तुत किया है।

(घ) विवाह -

स्त्री और पुरूष के युगल रूप में जीवन यापन करने की सामाजिक व्यवस्था का नाम विवाह है। यह व्यवस्था सभ्यता से पूर्ववर्ती काल में अन्य रूप में हुआ करती थी। स्त्री को प्रजा की अरणी के रूप में स्वीकार किया गया था। मानव भी अन्य प्राणियों की भाँति स्वच्छन्द था। माना जाता है, कि उद्वालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने ही विवाह जैसी संस्था के लिए श्री गणेश किया था। उसके मन में यह पीड़ा उत्पन्न हुई कि पुरूष पुत्र-प्राप्ति के लिए किसी भी स्त्री का चयन कर सकता है, किन्तु इस व्यवस्था में सन्तान मातृ सुख से वंचित हो जाती है, क्योंकि स्त्री पुरूष के एक साथ रहने की व्यवस्था नहीं थी। अतः विवाह जैसी व्यवस्था की आवश्यकता पड़ने लगी।

यही कारण है, कि विवाह एक महत्वपूर्ण एवं प्राचीन संस्था स्वीकार की गई है। इसके अभाव में मानव सभ्यता का अस्तित्व संभव नहीं है। गृहस्थ ही एक मात्र ऐसा आश्रम है जहाँ मनुष्य जिसमें सन्तानोत्पत्ति कर सृष्टि संचालन में अपना योगदान देता है, जिसका आधार विवाह है। स्त्री एवं पुरूष विवाह करके ही भौतिक दृष्टि से पूर्णता को प्राप्त कर एकात्मकता के भाव से गृहस्थ में प्रवेश करते हैं। गृहस्थ आश्रम पर ही अन्य आश्रमों की आश्रितता है। ब्रह्मचर्य की समाप्ति के बाद स्नातक होने पर ही विवाह संस्कार के योग्य माना जाता है।

"स्नातक को माता-पिता आदि गुरूजनों की आज्ञा के अनुसार उत्तम गुण, लक्षण और आचरण से युक्त कन्या के साथ विवाह कर गृहस्थ जीवन प्रारम्भ

करना चाहिए।"[22] ''अभिज्ञानशाकुन्तलम् में गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का कारण उसकी ''सर्वोपकार क्षमता है'' अर्थात् गृहस्थाश्रम में सभी प्राणियों पर उपकार भाव दिखाने का अवसर मिलता है।"[23] समस्त हिन्दू धर्म शास्त्रों में गृहस्थाश्रम का गुणगान किया गया है। इसका कारण है कि यह आश्रम अन्य आश्रमों की आधारशिला है और समाज कल्याण प्रत्यक्ष योगदान देता है।"

विवाह का अर्थ एवं परिभाषा -

मनु ने यौन सम्बन्धों के नियंत्रण एवं शारीरिक सुख के लिए विवाह को आवश्यक माना है। विवाह के द्वारा न केवल यौन संतुष्टि अपितु सन्तानोत्पत्ति, संस्कृति हस्तान्तरण इत्यादि कार्यों का संचालन होता है। मनु ने स्पष्ट किया है, कि ब्रह्मचर्य समाप्त होने के पश्चात् ही विवाह करना चाहिए। क्योंकि सन्तानोत्पत्ति के अभाव में ग्रहस्थाश्रम में कोई सफल नहीं हो सकता है। ऋग्वेद में भी विवाह को जीवन की आवश्यक संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में वर्णित 10/85 सूक्त को भी विवाह सूक्त के नाम से ही जाना जाता है। ऋग्वेद में विवाह सम्बन्धी सूक्त निम्न हैं -

''हे वधू। दोनों की सौभाग्य समृद्धि के लिए मैं तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ। मैं मानता हूँ कि देवताओं से गृहस्थ आश्रम के लिए मैंने तुम्हें प्रसाद रूप में पाया है।

''समस्त दैवीय शक्तियाँ हम दोनों के हृदय को कर्तव्य पालन हेतु सावधान व जल के समान शांत व भेदभाव से मुक्त बनाये।''

''हे आर्य वधू पति-गृह में पहुँचने पर तुम ग्रहस्थ का पालन जागरूक और सावधान रहकर करो।''

जेनेन्द्र कुमार ने परिवार को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''विवाह की ग्रंथी दोनों के बीच की ग्रंथी नहीं है।.... वह समाज के बीच की भी है ... विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं है व्यवस्था का प्रश्न है।''

डी.एम.मजुमदार के अनुसार -''विवाह से वैयक्तिक स्तर पर शारीरिक और मनोवैज्ञानिक संतोष प्राप्त होता है, तो संस्कृति के अस्तित्व पर निर्वाह में योगदान मिलता है।''

पाश्चात्य विद्वान वेस्टरमार्क मानते है कि ''विवाह का मूल परिवार में है, न कि परिवार का मूल विवाह में है। विवाह स्त्री और पुरूष का एक ऐसा सम्मिश्रण है जो एक निश्चित संस्कार के माध्यम से समाज द्वारा स्वीकृत होता है। सर्व-प्रथम यह एक विनिमय काम सम्बन्ध है।[24]

धार्मिक चेतना के विकास और विस्तार के फलस्वरूप विवाह व्यक्ति की निजी आवश्यकता न होकर इसे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य के रूप में मान्यता दी जाने लगी। ''विवाह स्वयं एक यज्ञ माना जाता था और जो व्यक्ति विवाह कर ग्रहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था उसे अयज्ञ अथवा यज्ञहीन कहा जाता था।''[25] तैतरीय ब्राह्मण' में भी लिखा है कि - ''अपत्नीक पुरूष अयज्ञ अथवा यज्ञहीन है एकाकी पुरूष अधूरा है, उसकी पत्नी अर्धभाग है।''[26]

ऋणत्रय के सिद्धान्त के साथ ''जायमानों .... वे ब्राह्मणास्त्रि निऋणवान् जायते ब्रह्मणर्चेण ऋषिभ्यों यजेव्य देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।[27] अनुसार विवाह के महत्व और पवित्रता को अधिकाधिक मान्यता प्राप्त होनें लगी क्योंकि विवाह के बिना संतानोत्पत्ति कर पितृ ऋण से मुक्ति असंभव थी।

उपनिषद् काल के आते-आते गृहस्थाश्रम अनिवार्य हो गया था। क्योंकि इस युग में आश्रम का सिद्धान्त पूर्ण विकसित रूप से समक्ष था।

आस्तिक धर्म में वैवाहिक जीवन के दो मूल उद्देश्य है।

(1) पत्नी के साथ ही पति धार्मिक कृत्यों के योग्य बनता है -

(2) विवाह का स्वीकृत उद्देश्य है - ''मिलकर सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्यों का सम्पादन सहधर्मचारण।'' इसके अनुसार ही पुरोहित ''सहधर्मचारण''[28] के द्वारा वर-वधु को धर्मानुष्ठान का आदेश देता है तथा इसी के परिणामस्वरूप पत्नी को 'धर्मपत्नी''[29] 'सहधर्मचारिणी'[30] की संज्ञा भी दी गई है। व पति को सहधर्मचारी माना गया है। यही कारण है, कि आस्तिक धर्म में पति-पत्नी को युगल रूप यज्ञ करने के विधान को स्वीकार किया गया है। पत्नी से रहित व्यक्ति के यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।[32] पत्नी के अभाव में

पत्नी की स्वर्ण प्रतिमा का विधान स्वीकार किया गया है।[33]

(2) पुत्रों की उत्पत्ति करना -

विवाहिता पर पुत्रोत्पत्ति के द्वारा सेवा, सर्वोत्तम आनन्द स्वयं तथा पूर्वजों की स्वर्ग प्राप्ति में सुलभ है। यही कारण है कि सौभाग्यशाली स्त्री एवं विवाहित पुरूषों को आज भी आर्शिवाद स्वरूप पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा की जाती है।[34] पुत्र को वंश चलाने वाला माना गया है।[35] दाम्पत्य में पुत्र ही प्रेम की ग्रन्थि है।[36] पुत्र में बिना पितृ ऋण से उऋण नहीं हुआ जा सकता है। अतः इसी कारण से पुत्र केन्द्रित ग्रहस्थ आश्रम में विभिन्न प्रकार के धर्मानुष्ठान करवाये जाते है। अतः विवाह के दोनों ही उद्देश्य का आधार धर्म व धर्म का पालन होनें के कारण दोनों ही उद्देश्य धार्मिक उद्देश्य हैं।[37]

विवाह के प्रकार -

विवाह के प्रकार से तात्वर्य विवाह बंधन में बंधने की रीतियों से है। मनु स्मृति, ग्रहय सूत्र तथा धर्म सूत्र में मुख्यतः विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं -

1. ब्रहम विवाह -

सभी प्रकार के विवाह में श्रेष्ठ माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार ''वेदों के ज्ञाता शील सम्पन्न वर को आमंत्रित कर उसे वस्त्राभूषण से सज्जित करने के पश्चात् धार्मिक विधि से उसे कन्या दान करता है, ब्रहम विवाह कहलाता है।''[38] ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र 21 पीढ़ियों को पवित्र करने वाला माना गया है।

2. दैव विवाह -

मनु के अनुसार ''सद्कर्म में संलग्न पुरोहित को वस्त्राभूषण से सज्जित कन्या प्रदान की जाती थी तो दैव विवाह कहलाता था।[39] वैदिक यज्ञों के साथ-साथ विवाह की यह पद्धति समाप्त हो गई।

3. आर्ष विवाह -

इस प्रकार के ''विवाह में वर द्वारा अपने ससुर को एक गाय और बैल अथवा इनके दो जोड़े प्रदान किए जाते थे, बदले में ससुर अपनी कन्या प्रदान कर सकता था।''[40] बैल की जोड़ी भेंट करना ही इस बात का प्रतीक का था कि अब उसने विवाह का निश्चय कर दिया है।

4. प्रजापत्य विवाह -

वह विवाह जिसमें कन्या के पिता कन्या दान करते हुए वर-वधू को कहते है कि तुम दोनों एक साथ मिलकर जीवन भर धर्म का आचरण करो 'प्रजापत्य विवाह कहलाता है।[41]

5. असुर विवाह -

"कन्या के परिवार जनों को अपने सामर्थ्य से धन-सम्पदा देकर अपनी इच्छा के अनुसार विवाह करना असुर विवाह कहलाता है।"[42] कन्या का मूल्य देकर किया जाने वाला विवाह संस्कार असुर श्रेणी में गिना जाता है।

6. गन्धर्व विवाह -

"कन्या व वर स्वेच्छा से परस्वर प्रेम और काम भाव से जो विवाह करते हैं उसे मनु ने गन्धर्व विवाह कहा है।"[43] वर्तमान समय में प्रेम-विवाह इसी का स्वरूप है। लिव इन रिलेशनशिप भी इसी प्रकार का विवाह है।

7. राक्षक विवाह -

प्राचीन काल में बहुत युद्ध हुआ करते थे उसमें "स्त्री का हरण करके किया जानें वाला विवाह राक्षस विवाह कहलाता था।"[44]

8. पैशाच विवाह -

सोती हुई, उन्मुक्त, घबराई हुई, मदिरा के नशे में या रास्ते में जाती हुई कन्या के साथ बलात्कार कर उससे विवाह करना पैशाच विवाह कहलाता है। परन्तु इसमें लड़की का दोष न होने पर भी उसका कौमार्य नष्ट हो जाता है, अतः उसे समाज से बहिष्कृत होने से बचाने के लिए व उसका सम्मान बनाएं रखने के लिए इस विवाह को भी स्वीकृति दी गई।

उपयुक्त आठ प्रकार के विवाह में ब्रह्म विवाह सर्वोत्तम माना गया है। देव व प्रजापत्य विवाह मध्यम, आर्ष, असुर व गन्धर्व को निकृष्ट विवाह तथा पैशाच को महाभ्रष्ट विवाह माना गया है।

कवि राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने अपने नाटकों में विवाह की इन्हीं शास्त्र सम्मत उद्देश्यों के साथ व्यंजना दिखाई है। 'प्रेमपीयूषम्' नाटक में प्रणय के माध्यम से विवाह के उस स्वरूप को प्रस्तुत किया है जहाँ उदास, हताश, राज्य निर्वासन से दुःखी भवभूति के प्रणय की परिणिती विवाह और गृहस्थ ही है।

भवभूति व शशी प्रभा दोनों के पारस्परिक अनुराग को जान कर आचार्य ज्ञाननिधि द्वारा उन्हें परिणय सूत्र में बाँध देना वर्तमान समाज में प्रेम-विवाह को इंगित करते है वही आचार्य ज्ञाननिधि का समर्थन इसमें देव विवाह को भी परिपुष्ट करता है।

किन्तु राजा यशोवर्मा का राज्य कश्मीर नरेश ललितादित्य द्वारा विजित होने पर शशि प्रभा ललितादित्य को सौंपकर पुनः अपने राज्य को प्राप्त करने की चेष्टा विवाह की निकृष्टता के स्वरूप को भी प्रस्तुत किया है। जो सुधी पाठकों के ज्ञान चक्षु खोलकर उन्हें वर्तमान की प्रासंगिकता की और ध्यान आकृष्ट करने के लिए विवश कर देती है जहाँ 'गन्धर्व विवाह' वर्तमान में 'प्रेम-विवाह' की योजना अन्ततः दैव विवाह के रूप को प्राप्त कर सम्माननीय व सफल बना दी जाती है। कविवर ने संस्कृत नाटककारों में प्रेम के सबसे हिमायती माने जाते वाले नाटककार भवभूति के जीवन की प्रणय कथा व विवाह गाथा को अपने नाटक की मुख्य कथावस्तु बनाकर अपनी संस्कृति व साहित्य की मूल्य प्राधान्य प्रवृत्ति का पूर्ण निर्वहन किया है। प्रेमपीयूषम् का दाम्पत्य प्रेम नायक के चित्त में क्षण-क्षण सिंचन करता है। लोक कल्याण के भाव से जिस प्रकार पुष्प की सुगन्ध पूरे वातावरण को सुगन्धित कर देती है व जिस तरह शिव के जटा-जूट में विराजित गंगा लोगों के लिए मंगल करती है, उसी तरह भवभूति के मन में शशिप्रभा ने प्रेम का सिंचन किया है-

यदा तस्याः स्नेहान्मम खलु मनः सिंचितमभूत्,
तदा नूनं जातं कुसुमितमिवोद्यानमपरम्।
स्मृतिस्तस्येयं सा सुरभिरिव पुष्पे निवसति,
मदीये चित्तेऽस्मिन् शिव-शिरसिवज्जहनु तनया।।[45]

यह दाम्पत्य प्रेम ही है, जिसने भवभूति और शशिप्रभा की सभी कुल परम्परा को तोड़कर उन्हें काव्य और रस के समान एकीकृत किया है। उन दोनों के जीवन में उपेक्षा और निराशा को समाप्त कर प्रेम ने उनको सिंचन किया है -

"अमुष्मिन् शून्ये मे विफलविकल जीवनविधौ
इयं प्रादूर्भूता सखि त्वमिव काव्ये रस इव।
भरौ शुष्के प्राप्ता सरिदिव यथा देवि सुभगे

मृतप्रायान् प्राणान् सलिल सुधया सिंचन परा।।"[46]

कविवर ने प्रेम की शक्ति से सरोबर भवभूति व शशिप्रभा के व्यक्तित्व को पश्चिम की संस्कृति से प्रभावित दैहिक आकर्षण से दिशा भ्रष्ट व शारीरिक वासनाओं की पूर्ति के प्रेम कहने वाले युवक-युवतियों के लिए आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है कि स्त्री-पुरूष का साहचर्य जब विवाह में परिवर्तित होता है, तो समाज के समक्ष नयी चेतना, उल्लास व नवीन सम्भावनाओं के साथ अपनी भूमिका निभाता है।

'धीवर शाकुन्तलम्' प्रेक्षणक में कविवर ने असुर विवाह की झलक दिखाई है धीवर की प्रेमिका शकुन्तला के पिता ग्राम के मुखिया से धन लेकर अपनी पुत्री का विवाह उससे कर देना चाहते है। किन्तु वह गाँव छोड़कर उसके प्रेमी धीवर के पास उससे विवाह करने के लिए आ जाती है, धीवर भी अपनी प्रेमिका से विवाह हेतु धन संग्रह में लगा रहता है। अन्ततः दोनों विवाह बंधन में बंधते हैं। इस प्रसंग में कविकर ने असुर विवाह की असफलता बता कर उसकी हेयता को तो सिद्ध किया ही है। साथ ही साथ दाम्पत्य के लिए आवश्यक प्रेम की प्रगाढ़ता के महत्व को भी सामाजिक दृष्टि प्रदान की है।

'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाटक का नायक निरंजन समाज के बहुसंख्यक सीधे-साधे, भोले व निरक्षर लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ भी नाटक की नायिका राजकुमारी के पिता राजनीतिक पेंच के कारण उसका बेमेल विवाह करने को उद्धत हैं। किन्तु राजकुमारी शारदा मानवता व स्त्रीचेतना की जीवन्त मूर्ति है। जिसके कारण यह नाटक सुखान्त हो सका है। उसका निश्चल प्रेम कालिदास की विद्योत्तमा का स्मरण करा देता है। शारदा का विवाह निरक्षर किन्तु ज्ञानी निरंजन से कर कविवर पुनः बैमेल विवाह के विपक्ष में खड़े नजर आते है। शारदा व निरंजन के पुर्मिलन पर निरंजन अपनी दोनों प्रतिज्ञाओं को पूर्ण कर पाने में असमर्थता की पीड़ा को व्यक्त करता है तो राजकुमारी उसे लिपिज्ञान कराने व उसके गाँव में नहर की समस्या समाधान का वचन देकर आदर्श दाम्पत्य की परिकल्पना को साकार करती है।

विवाह के विभिन्न पक्षों को दृष्टिगत रखते हुए चिन्तन करने पर कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी जी की दृष्टि में विवाह हेतु प्रेम रूपी बन्धन की आवश्यकता

को ही प्रबल बताया गया है। प्रेम के अभाव में सफल दाम्पत्य की आशा कविवर की दृष्टि में कोरी कल्पना ही सिद्ध होती है।

किन्तु कवि ने आधुनिकता के परिवेश में भी अपने नाटकों में विवाह संस्कार की पद्धति का निर्वाहण समग्रतया किया है। 'सुशीला' नाटक में नायिका कथा सुनाते हुए विवाह का मूल सप्तपदी व विवाहिता की माँग भरने का जिक्र भरने का जिक्र करती है, जो कि आज भी ग्रामीण से लेकर शहरी, गरीब से लेकर अमीर, अनपढ़ से पढे लिखे समाज के प्रत्येक वर्ग में आज भी पूर्ण आस्था व श्रद्धा के साथ निभाये जाते है-

"सुशीला -(सखीषु कथां श्रावयन्ती) कियन्ति दिनानि अहं तस्य हम्र्ये उषितवती। तस्मै सर्वस्वम्। सोऽपि में सहवासतुष्ट एकदा उदघोषयत परिणेष्ये त्वामिति। अथ घोषणयानया अनर्थ झंझा मम् जीवने पुनरूत्थिता भ्रामर्यो दत्ता आवाभ्याम्। लाजा विकीर्णाः। सप्तपदी सम्पन्ना। अनन्तरमेकान्त मदीये सीमन्ते सिन्दूरमर्पयति स्म।"[47]

विवाह के परिपक्व रूप में अपने परिवार का त्याग कर पति को ही सर्वस्व मानकर उसके प्रति समर्पण का भाव आदर्श दाम्पत्य का भाव प्रस्तुत करता है जब सुशीला सबलसिंह के समक्ष कहती है कि "मेरे पति के सामने मुझे सब ऐरे गेरे नत्थू गैरे लगते है। "तथा पति को सर्प डंस लने पर सुशीला द्वारा चूंस कर जहर निकालने पर दाम्पत्य की पराकाष्ठा की सुन्दर अभिव्यक्ति कवि ने की है।

"देव शर्मा- केनापि सर्पेण दृष्टोस्मि। अन्धे तमसि द्रष्टुं नापारयम् तम्।
प्रसरति विषविकारः। म्रियेऽहम्।
सुशीला - कुत्र। दष्टं सर्पेण । अहं विषं चूषामि।"[48]

(ड) पुरूषार्थ चतुष्ट्य -

भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है पुरूषार्थ चतुष्टय। भारतीय ऋषि मुनियों व विद्वानों ने मनुष्य के आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को दृष्टिगत रखते हुए इस सिद्धान्त को दिया था। वस्तुतः मनुष्य की आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति इनमें निहित है। पुरूषार्थ का अर्थ होता है- जीवन के सफल प्रयोजन हेतु उद्योग। मानव जीवन का

मुख्य प्रयोजन ही सुखी जीवन है किन्तु अपनी आवश्यकताएँ लक्ष्य और इच्छाओं के पूर्ण होने पर ही सुखी हुआ जा सकता है। इन्हीं आवश्यकताओं, लक्ष्य व इच्छाओं को श्रेयस व प्रेय मानकर पुरूषार्थ की संख्या चार निर्धारित की गई है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों तत्वों की सिद्धि कर पानें में मात्र मनुष्य ही सक्षम है तथा ये उसके लिए अभिहित भी है अतः इसी कारण इनको 'पुरूषार्थ' कहा जाता है। 'पुरूषार्थ' शब्द का अर्थ है - उद्योग। अतः पुरूषार्थ से तात्पर्य उन उद्योगों से है, जिनके माध्यम से मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके।

'पुरूषैरथ्यते पुरूषार्थः" पुरूष की इष्टतम् वस्तु ही पुरूषार्थ है। पुरूषार्थ मानव जीवन का वह आधार है जिसका अनुसरण करके वह जीवन जीता है अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए भौतिक पदार्थों व परिवार के सुख का उपभोग करते हुए जगत की यात्रा से बाहर निकल कर मोक्ष प्राप्त करता है।

समग्र रूपेण देखा जाए तो मनुष्य जीवन की समस्त आवश्यकताओं, अपेक्षाओं, इच्छाओं व उद्देश्य का निर्धारण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के रूप में हो जाता है।

कविवर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी ने धर्म और अर्थ को जीवन के अनिवार्य तत्वों के रूप में निर्धारित है। इन दोनों के अभाव में काम की और ध्यान जाना कवि की दृष्टि में सहज नहीं दिखाई देता है। 'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाटक में निरंजन अपने धर्म व अर्थ दोनों के लिए सार्थक प्रयास करता है, किन्तु उसे इनकी उपलब्धि सहज प्राप्य नहीं होती है। निरंजन दोनों के अभाव में भूख से पीड़ित है, भूख से पीड़ित को आरामदायक शैय्या, सुन्दर वस्त्र, कीमती आभूषण, सुगन्धित पदार्थ गीत-संगीत, मनोहारी वातावरण, रमणियाँ आदि कुछ भी रोचक नहीं लगते हैं -

"शय्यावस्त्रं भूषणुं चारूगन्धो
वीणा वाणी दर्शनीया च रामा।
नो रोचन्ते क्षुत्पिपासातुराणां
सर्वारम्भारस्तण्डुलप्रस्थमूला।।"[49]

नाटककार के अनुसार भूखे आदमी को समाज, धर्म, संस्कृति सभी प्रतिमान झूठे लगते है। यदि भूख मिटाने का प्रयास प्राथमिकी से किया जाये तो धर्म, संस्कृति, समाज का प्रतिफल स्वाभाविक रूप से अभिव्यंजित होने लगेगा। अतः नाटककार की दृष्टि में वर्तमान परिप्रेक्ष्य में 'अर्थ' पुरूषार्थ का महत्व अधिक ज्ञात होता है। जिसके अभाव रोटी, कपड़ा, मकान जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाना भी कष्टप्रद है। क्योंकि भूखे व्यक्ति को

माता-पिता, परिजन, आमोद-प्रमोद परिणय सुख (काम) बिल्कुल सारहीन लगते है-

"न माता तातो मे, न खलु कश्चिद् परिजनः।
समायातो जाता कथमहो मे परिणय।।
अजानन्नानीतो भ्रमित इव लीला पशु समं
बुभुषा मामेव विकल करणं नर्तिवती।।"[50]

धर्म व अर्थ की पूर्ति के हो जाने पर सृष्टि संचालन हेतु काम का उपभोग भी अति आवश्यक बताया गया है। 'सुशीला' नाटक में सुशीला में राजा द्वारा चारों पुरूषार्थ हेतु दिनचर्या का विभाजन शास्त्र सम्मत बताकर कविवर यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि मोक्ष मार्ग के अनुगामी इन पुरूषार्थ का सेवन सभी को करना पड़ता है। राजा में माध्यम से दिन के पहले पहर में धर्माचरण दूसरे में राजनीति तथा तीसरे पहर में मोक्ष प्राप्त्यार्थ वेदादि का श्रवण तथा रात्री काम सेवन हेतु बताई गई है।

"कृष्ण. - अत एक निरूद्धासि। नाहं कामये तरूणीः। नाहं कामये तरूणीः। नाहं कामये बालः। अस्तुः अलं विचारेण इदानीम्। नायं विचारस्य कालः। अयमस्माकं व्यभिचारकाल। विचारं वयं कुर्मों दिवसे। रात्रौ अन्यत् किमपि कुर्मो वयं राजानः अस्माकमं दिनचर्या निर्धारित वर्तते। धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः। दिवसस्य प्रथमे यामे वयं धर्माचरणं कुर्मः। द्वितीय यामे राजकार्य सम्पादयामः, राजनीति कुर्मः। तृतीये यामे वेदेतिहासादिकं शृणुमः। येन अस्माकं मोक्षो भविष्यति। अस्मिन् तुरीये यामे आनन्दाय यतामहे। तर्हि एहि। आनन्दं प्राप्नुमः। एहि अलं सङ्कोचेन।"[51]

किन्तु कविवर ने अपनें नाटकों में जनसामान्य की पीड़ा को अपनें पात्रों के माध्यम से उकेरा है, कि आधुनिक समय में मोक्ष तो सभी को प्रेय है किन्तु धर्म, अर्थ, काम के लिए अनुचित का सहारा लेकर स्वयं को पुरूषार्थी बताने वाले सफेदपोश लोगों की कमी भी नहीं है। 'गणेश पूजन' एकांकी में धर्म का दिखावा कर जनता की भावनाओं के साथ दौहरा व्यवहार, 'धीवर शाकुन्तलम्' एकांकी में अर्थ की प्राप्ति हेतु श्रेष्ठी की चलाकी, राजश्यालक का षड्यंत्र तथा 'सोमप्रभम्' एकांकी में दहेज हेतु वधू दहन जैसी घटनाऐं पाठकों के समक्ष 'अर्थ' की महत्ता स्थापित करती है, वहीं 'प्रेमपीयूषम्' में कौमुदी महोत्सव का आयोजन 'सुशीला' नाटक में छाछ लेने वालों की कामुक दृष्टि, राजा सबल सिंह का जबरन सुशीला को प्रणय निवेदन 'काम' का भोग न होकर असंगत काम दृष्टि हैं, किन्तु कविवर ने इन सभी दृश्यों को उत्पन्न कर एक ओर पुरूषार्थ चतुष्ट्य की महत्ता का प्रतिपादन किया हैं, वहीं तर्क संगत न होनें के कारण सामाजिकों को पुरूषार्थ निर्वहन के प्रति सजग व सचेत किया है।

(च) धर्म तथा ईश्वरोपासना -

धर्म से तात्पर्य यह नहीं है, कि मनुष्य किसी विशेष धर्म से सम्बन्ध रखे। अपितु अपने धर्म की पालना के साथ अन्य धर्मों के प्रति सम आदरभाव की अपेक्षा भी इसमें समाहित है। धर्म को भी एक जीवन मूल्य की भाँति माना गया है, जिसमें सहिष्णुता का भी सह सम्बन्ध योजित है। वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय के बन्धनों को अनदेखा कर स्वयं को ईश्वरोपासना में संलग्न कर देना भारतीय समाज वर्तमान परिस्थितियों में भी पूर्ण रूपेण आत्मसात् नहीं कर पाया है। मनुष्यत्व के साधारण धरातल पर जिससे भी मिलन हो वहाँ मनुष्यत्व से बिना किसी भेद-भाव के मिलना धर्म है।

'तण्डुलप्रस्थम्' नाटक में गाँव की भोली भाली स्त्री निरंजन की विधवा माँ के माध्यम से कवि नें धर्म की सुन्दरता का वर्णन किया है। यद्यपि वह कभी पाठशाला नहीं गई तथापि सदियों से चली आ रही परम्परा के धर्म व दर्शन को निरन्तर रखती है व वेदविधि से पंचयज्ञ के विधान कि पहली रोटी में चिड़िया

श्यामा का हिस्सा है, शेष तीन रोटियों में दो उसके लाड़ले बेटे निरंजन के और अन्तिम रोटी पर ही उसका अधिकार है-

"इयं प्रथमा रोटिका गौर्याः कृते। इयम परा निरंजनस्य कृते। अत्र भवति श्यामायाः अपि भाग। इमे द्वे अपि तस्यैव। इयमन्तिमा एका ममोदरपूत्र्यै अलं स्यात्।"[52]

अपनी धार्मिक संवेदना से परिपूर्ण वह 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा।'[53] को जीवन्त कर देती है।

'मुक्ति' प्रेक्षणक में नाटककार ने स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा है अपने परिवार और समाज के प्रति उत्तरदायित्वों का पूर्ण रूपेण सम्यक् निर्वहण ही मनुष्य का अन्तिम पुरूषार्थ है।

सर्व सम्पन्नता से युक्त होने पर भी धर्म में विश्वास सदैव ईश्वर के निकटता का आभास दिलाता है। यही कारण है कि कवि ईश्वरीय तत्व में समाज की आस्था को राजकुमारी शारदा के माध्यम से प्रस्तुत किया है। वह रूप, यौवन, धन, सम्पना वैभव सभी से युक्त है तथापि अपने मनोभावों की सिद्धि के लिए वह ईश्वरोपासना के मार्ग का अनुसरण करते हुए देवी के मन्दिर में उपासना हेतु प्रस्तुत होती है।

'सुशीला' नाटक में उसके पति देव शर्मा द्वारा ईश्वरोपासना में स्रोत पाठ "नमामीशमीशाननिर्वाणरूपम्" विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपम्, अजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम् .."[54] समाज में भौतिक युग में भी ईश्वरोपासना के प्रति प्रगाढ़ भावों की सृष्टि करता है। किन्तु धर्म निष्ठता के बहाने ब्राह्मण धर्म के बहाने, संतोषी कह कर अकर्मण्य बन कर फिरनें वालों की भी कमी समाज में नहीं है।

'गणेश पूजनम' एकांकी में धर्मांध व्यक्तियों द्वारा धर्म व ईश्वरोपासना में आसक्त होकर लोग चंदा देते है, किन्तु इनके माध्यम से आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने समाज में धार्मिक क्षेत्र में बढ़ रहे मिथ्या पाखण्ड व प्रदर्शन के विरूद्ध अपना आक्रोश दर्ज करवाया है।

नाटककार ने 'सुशीला' नाटक के द्वारा धर्म के केन्द्रों पर व्याप्त अधार्मिक कुप्रवृत्तियों तथा संस्कृति की मलिनता से उत्पन्न अपसंस्कृति की ओर भी

ध्यानाकृष्ट किया है। यद्यपि धार्मिक केन्द्रों पर मानवीय गरिमा की अपेक्षा की जाती है, किन्तु नाटक में आये धर्म के आधारभूत धार्मिक केन्द्र सुरक्षित नहीं है। मोक्षदायिनी काशी, मथुरा जैसी धर्म नगरियाँ भी ग्वालिनों द्वारा छाछ बेचने के लिए सुरक्षित नहीं है। वहाँ, अन्यायी चोर, लुटेरों, बलात्कारियों का आतंक रहता है। विश्वनाथ के मन्दिर पर वेश्याओं का जमावड़ा व छद्म पूर्वक नाबालिक लड़कियों के देह शोषण की विकृतियाँ देखी जाती है।

धर्म और ईश्वरोपासना की सुन्दर सृष्टि इस दृश्य को देख अधिक चमत्कृत हो जाती है जब सुशील को जबरन हथियानें के बाद भी अविश्वासी राजा सबल सिंह सुशीला को पवित्र कार्तिक पूजन व शंकर जी के पूजन हेतु जाने देता है-

"अहं कार्तिकस्नानं नद्यां करोमीति नियमः। मया स उक्तः नाहं स्वव्रतं परित्यक्ष्ये इति। स कथंचिदनुमेने अहम् उषसि उत्थाय नद्यां स्नातुमगच्छम्। ततश्च शिवालये ईश्वरस्य दर्शनमकरवम्। एवमतीतानि दशदिनानि।"[55]

आचार्य त्रिपाठी ने बहुसंख्यक समाज में धर्म का पर्याय कार्तिक मास का वर्णन व शिवाराधन की आस्था का जो स्वरूप 'सुशीला' नाटक में प्रस्तुत किया है। उसका स्वरूप आज भी हमारे धार्मिक क्रिया -कलापों में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

अधर्म की स्थिति में दण्ड विधान भी कविवर ने नाटकों के माध्यम से प्रस्तावित किया है -

"यदि पापं तर्हि तस्य दण्डः रवीकार्यः..... शास्त्राण्यमें एवमाहु आधानाद विहितस्य पास्यापि दण्डो भवतीति।.... अहमस्मि राजा । यज्ञा धर्मासनाद् नयः प्रवर्तनीय।"[56]

(छ) पर्यावरण प्रेम -

पर्यावरण पंचमहाभूतों का सुगठित व्यवस्थित स्वरूप है। यह इस लोक के लिए ही नहीं अपितु परलोक के लिए भी सुख का विधान करता है। हमारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों द्वारा प्रकृति में देवत्व की अवधारणा पल्लवित करने का मूल उद्देश्य यही रहा कि किसी भी तरह से सभी लोग इसका संरक्षण करे। यही कारण

है, कि हमारी सभ्यता प्रकृति के कण-कण में देवी शक्तियों का वास स्वीकारती है। महर्षि वादरायण ने तो ''प्रकृतिश्चोपादानम्'' कहकर प्रकृति को संसार का उपादान कारक स्वीकार किया है। प्रकृति ब्रह्म तत्व से जन्य है, किन्तु वह संसार की जननी भी है, जिनकी गोद में हम पोषित हुए है। आज सम्पूर्ण जगत पर्यावरण की समस्या से त्रस्त है। प्रदूषण के कारण पीड़ित हुई मानव जाति में चारों और जीवन भय से आक्रान्त है। जबकि ये वैदिक सम्मत प्राकृतिक देव शक्तियाँ समभाव से जल, वायु, आकाश, आवास, औषधियाँ आदि हमें वितरित करती है। हमारे वैदिक ऋषियों ने तो ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही देवस्वरूपा अग्नि का आह्वान किया है -

''अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य
देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमम्।''[57]

वायु को भी ऋग्वेद में हृदय के लिए परमोषधि माना गया है-

''वात आ वातु भेषजं शंभु मयो भु नो हृदे
प्रण आयूषि तारिषत्।''[58]

वायु ही नहीं विश्वामित्र नदी संवाद में मनुष्य की नदियों के प्रति अनुरागता को भी बताया है-

''यूयं हिष्ठा भिष्रजोमातृतमा
विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्री।''[59]

यजुर्वेद में प्रकृति को अभिभावक रूप में स्वीकार करते हुए पृथ्वी को माता तथा द्यौ को पिता मानकर प्रकृति के प्रति अगाध श्रद्धा अर्पित की है-

''पृथिवी माता द्यौष्पिता
अवतां त्वा धावा पृथिवी, अव त्वं धावा पृथिवी।''[60]

अथर्ववेद में भी प्रकृति को विश्व सुरक्षा के तीन छन्द मानकर पर्यावरण के संघटक जल, वायु और वनस्पतियों के प्रति श्रद्धा भाव की अभिव्यक्ति दी है-

''त्रीणि छन्दांसि कवयो वियेतिरे,
पुरूरूपं दर्शनं विश्व चक्षणम्।।
आपो वाता ओषधयः,
तान्येकस्मिन् भुवन अर्पितानि।।''[61]

जल को सर्वस्व कहकर उसकी सुरक्षा हेतु सचेत रहने हेतु ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रेरित किया गया है- "आपो वा सर्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।"[62]

इस प्रकार वैदिक ही नहीं समस्त संस्कृत साहित्य पर्यावरण की गोद में ही विलसित हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति संस्कृत वाङ्मय में पद-पद पर देखी जा सकती है। पर्यावरणीय चेतना का अभाव पर्यावरणीय तत्वों के लिए बहुत ही घातक है। जिससे मनुष्य का स्वास्थ्य सीधे तौर पर जुड़ा हुआ है। पर्यावरण की समस्या का सतत् अवलोकन कर कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने अपने साहित्य में पर्यावरण के घटकों का मनुष्य से सहसम्बन्ध स्थापित करते हुए वर्तमान में प्रदूषित हो रहे पर्यावरण को व्यवस्थित करने के प्रति आग्रह किया है।

'प्रेमपीयूषम्' नाटक में पर्यावरण प्रेम को कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने वृक्ष पूजा के माध्यम से व्यक्त किया है। लोकजीवन के सुख-दुःखों को प्रकृति के साथ तादात्मीकरण हमारी अपनी संस्कृति की परम्परा रही है। नाटक में अशोक के लाल वृक्ष को कामदेव के प्रतीक रूप में मानकर पूजा करना भारतीय संस्कृति में वृक्षों में देव निवास के भाव को व्यक्त करता है।

"इन्दु. -सखि! सुवदने, कुत्रासौ रक्ताशोकपादपो।
यत्र मया भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निवर्तयितत्या।"[63]

नाटक में प्रकृति और सामाजिक लोक जीवन के निकटतम आत्मीय सम्बन्धों को उजागर किया गया है। जीवन की कोमलता व कठोरता को पर्यावरण की कोमलता व कठोरता के समकक्ष माना गया है। तृतीय अंक में पिचकारियों से फेंके गये जल की भाँति अपने पीते-लाल सुगन्धित पुष्पों से वसन्त भी मदनमहोत्सव में मनुष्यों के साथ आनन्दित हो रहा है-

"अये कथं शून्यारण्येऽस्मिन् विकसीतो वसन्तः। मधुशीकराद्र सर्वतः समवकीर्यते सुरभित कुसुम परागः। पादपैः। आवहन्मंजु मधुरं सौरभं धीरं धीरं सरति समीरः। कथं सर्वतो रक्तपीतैः पुष्पैराचिता मदन महोत्सवे परस्परस्मिन् प्रक्षिप्त पिष्टातिका अभिषिक्त श्रंगकजला इव प्रतियान्ति वृक्षाः।"[64]

प्रकृति के प्रति श्रद्धा भाव से सिक्त यह श्लोक कविवर ने चम्पक, सिन्दुवार, वकुल पुष्पों की सुगन्ध व लाल अशोक वृक्ष से परिचय कराता हुआ सा प्रतीत होता है-

"सुस्निग्धाः क्वचिदन्यतोऽति विपुला, रूक्षाःस्थिताः।
श्रूयन्ते स्खलतां हि कर्ण सुभगाः रम्या खाः स्त्रोतसाम्
धूत्कारः खलु कौशिकस्य नितरां श्रोत्रप्रियः श्रूयते,
कुत्रापि प्रिय कूजनं मदकलं पुष्कोकिलानामहो।।"[65]

नाटककार ने प्रकृति को मानवीय सुख-दुःख की सहचरी बताया है, यही कारण है, कि शशिप्रभा से मिलने को आतुर भवभूति को आसपास के पर्यावरण के पुष्प् भी अंगारे की भाँति लगते है।

'मेघसंदेश' एकाकी की तो रचना करके कविवर ने अपना सम्पूर्ण पर्यावरण प्रेम एक ही स्थान पर न्यौछावर कर दिया है। अपनी मासूम, भोली-भाली आकांक्षा के कारण शिशु सौरभ को चिन्ता है, कि इस बार मेघ ने उसके शहर में दस्तक देने में देर क्यों कर दी अतः वह मेघ को पत्र लिखता है-

एहि रे एहि रे!!
कृष्णमेघ समुपेहि रे!
मम नगरे समुपेहि रे!!
देहि रे! देहि रे!
त्वमाहवतीह धरेयं विकला।।
गर्ज-गर्ज-वर्ष
रसं निधेहिरे।
एहि रे! एहि रे!![66]

यद्यपि सौरभ नहीं जानता की पत्र मेघ तक लिए प्रकार पहुँचेगा क्योंकि उसे मेघ का पता मालूम नहीं है किन्तु उसकी बहन लिखे गये पत्र को मेघ तक पहुँचाने के लिए नीम के पेड़ को माध्यम बता कर पत्र नीम के पेड़ की शाखा पर रख आती है। तब कवि ने पर्यावरण व मनुष्यता के नैसर्गिक सम्बन्धों को सुन्दर अभिव्यक्ति दी है, कि नीम का पेड़ अपनी शाखा कवि बाहों से सौरभ का पत्र मेघ तक पहुँचा देगा।

"शाखा बाहून् प्रसार्य पर्वतगुहा यावत् नयति।"[67]

कवि की कल्पना ने पर्यावरणीय आत्मीयता को मानवीकरण करते हुए बुद्धिजीवियों के हृदय में भी उतार दिया। मेघ की निष्ठुरता पर निम्ब वृक्ष का हाथ पसार देना ही उसे खिलखिलाने को मजबूर कर देता है उसकी हँसी से मोती झरते है ये मोती ही वर्षा की बूँदे है- "ता मुक्ताः एव अधः सृता जलबिन्दवो भवन्ति।"[68]

इतना ही नहीं 'मेघ संदेश' के माध्यम से प्रकृति की पीड़ा से आहत सौरभ जैसी सरलता व मनोहारी अन्तरंगता के साथ पर्यावरण से जुड़ कर उसे आत्मसात् करने का आह्वान् आचार्य राधावल्लभ जी ने किया है। बालक सौरभ मेघ को चाय पिलाने तक के लिए आमंत्रित करता है- "पित! मेघमपि चायपानार्थमाह्वयाम् किम्।"[69] प्रकृति के साथ इस प्रकार मानवीय आत्मीयता का दृष्टिकोण पर्यावरण की सुरक्षा के संकल्प के भाव को उद्वेलित करता है।

वस्तुतः डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने 'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाटक में त्याग और तपोवन हमारे पर्यावरण के दो मूल सिद्धान्तों को बहुत की ऋजुता व आनन्द के साथ समझाया है। निरंजन निरक्षर है, किन्तु पढ़ने लिखने का जो स्वप्न उसने आत्मसात् किया है, उसका प्रतिफल पर्यावरण व प्रकृति का उत्थान ही है। निरक्षर होने पर भी पर्वत, पृथ्वी, गाय, श्यामा चिड़िया गौर गाय आदि के प्रति संवेदना स्तर को बनाते हुए नाटक का प्रारम्भ करने का कार्य कोई पर्यावरण प्रेमी ही कर सकता है। कोई पाठशाला बचपन में निरंजन ने नहीं देखी हो किन्तु गौरी गाय की हुँकार को ही ऊँकार समझने वाला, वन के पुराने वृक्षों को ही अपना गुरू मानने वाला पर्वत पर बहते झरनों की ध्वनि को ही जीवन का संगीत समझ लेने वाला वह सम्पूर्ण प्रकृति का सफल अध्येता है, प्रकृति ही उसकी मित्र व सहचरी है। वह कहता है-

"अध्यैमि ? अहम् ? कथं नाध्यैमि। इयं धरा मम पाठशाला। इयं गौरी गौर्मे सतीश्र्या। अस्या हुङ्कारों ममौङकारः। जीर्णा पुरातना इमे वृक्षा में गुरवः। दूरादसौ पर्वत दृश्यते ? तत्र स्रवति निर्झरः एकः स मां गीतिं अन्यच्च सन्ति मे सहाध्यायिनावप्येते तस्यां पाठशालायाम्।"[70]

पर्यावरण के प्रति अनुराग का बीजारोपण प्रकरण के प्रारम्भ में ही हो जाता है- एक सुन्दर सा गाँव, गाँव के अन्दर पीपल का पेड़ पीपल पर कूजती श्यामा नाम की चिड़िया यह नाटक के नायक की अन्तरंग सखी है। निरंजन के गोचारण समय के दो प्रिय सखा आत्माराम और मनसाराम। श्यामा चिड़िया मात्र नहीं है वह निरंजन की सखी, सहचरी उसकी पथप्रदर्शिका है, उसमें उसके प्राण बसते है। श्यामा के संग आलप करता हुआ, धूमता हुआ वह स्वयं को धन्य मानता है-

"श्यामा विहगो वर्तते। परन्तु सा मे सखी, सहचरी, पथप्रदर्शिकाऽपि सा विद्यते। किं बहुना सा मे प्राणाः, द्वितीय वोच्छवसितम्। तया आलपामि तया विहरामि, तयैव जीवन धन्यं मन्ये। सा मया क्रीडति, सा मयाऽऽहूता समायाति सा मयोक्ता नरी नृत्यति।"[71]

प्रकृति के प्रति यह आत्मिक संवेदना व कौटम्बिक भाव जिस तरह से निरक्षर निरंजन के मन में हिलोरे लेता है, वह मनुष्य को पुनः प्रकृति की ओर बढ़ने का आग्रह करता है। कविवर का पर्यावरण के प्रति प्रेम, श्रद्धा और समर्पण अगाध है।

सन्दर्भ सूची

1. प्रेक्षणकसप्तकम्, सोमप्रभम्, पृ. 6
2. वही
3. वही
4. मनुस्मृति -2/8, वामन शिवराम आप्टे शब्दकोश, पृ. 141
5. रामायण कालीन संस्कृति, डा. शान्ति कुमार नानूराम व्यास, पृ. 21
6. वाल्मिकी रामायण, 4/18
7. तण्डुलप्रस्थीयम्, अंक-1, श्लोक सं. 6
8. तण्डुलप्रस्थीयम्, अंक-3, पृ. 26
9. पारस्कर गृह्य सूत्र, 1/8/11
10. वही
11. वही
12. तण्डुलप्रस्थीयम्, अंक-4, पृ. 40
13. वही, पृ. 37
14. सुशीला, पृ. 14
15. वही, पृ. 17
16. गीता-सुगीता, संपादक डा. पूरनचन्द टण्डन, 16 वाँ अध्याय
17. तुलसी सतसई, दोहा सं. 254
18. श्रीमद् भगवद्गीता, अध्याय-4, श्लोक-13
19. स्कन्दपुराण
20. सुशीला
21. प्रेमपीयूषम्, अंक-4, पृ. 30
22. मनुस्मृति, पृ.सं.
23. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, महाकवि कालिदास, 2/14
24. **Darid Sills-International Encyclopedias of the social science Vol. SP-304**
25. तेत्तरीय ब्राह्मण-अयोवदर्यो वाच. 12/02/2/06
26. वहीं, 2/9/4/7
27. वहीं, 6/3/10/5

28. कुमारसंभवम्, महाकवि कालिदास,8/29/51
29. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, महाकवि कालिदास, 6/24
30. मनु सहधर्म प्रतिज्ञा-6/21, उरुभंगम्-45 अंक
31. शाकुन्तलम्, मोरेनाविलियमस् पृ.सं. 310
32. शतपथ ब्राह्मण, 5/1/610 तैत्तिरीयोपनिषद्, (3/3/3/1)
33. उत्तरामचरित-7.20 वाल्मीकि रामायण, 7.91.25
34. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विलियम पृ. 16
35. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, 1.12, महावीर चरित, 7 अंक, पृ.सं. 328, रघुवंश महाकाव्य, 2.64, 3/27
36. उत्तरामचरित- 3/17
37. वाल्मीकि रामायण, 2/107/12,
38. मनुस्मृति -3/27
39. मनुस्मृति, 3/28
40. मनुस्मृति, 3/29
41. मनुस्मृति, 3/32
42. मनुस्मृति, 3/31
43. मनुस्मृति, 3.34
44. मनुस्मृति, 3.33
45. प्रेमपीयूषम्, अंक-3, पृ.सं. 21
46. वही, अंक-7, पृ.सं. 44
47. सुशीला, पृ.सं.31
48. वही, पृ.सं. 29
49. तण्डुलप्रस्थीयम्, अंक-8, पृ.सं. 77
50. वही, पृ.सं. 79
51. सुशीला, पृ.सं. 30
52. तण्डुलप्रस्थीयम्, पृ.सं. 7
53. ईशावास्योपनिषद्-पंचशील प्रकाशन, 1/1
54. सुशीला, पृ.सं.11
55. वहीं, पृ.सं. 20

56. वही, पृ.सं. 30
57. ऋग्वेद -1/1
58. ऋग्वेद -10/184/1
59. वही, 6/50/7
60. वही 10/51/1
61. यजुर्वेद -2/10/11
62. अथर्ववेद -18/1/17
63. प्रेमपीयूषम्, पृ.सं. 27
64. वही, अंक 3, पृ.सं. 17
65. वही, अंक 3/3
66. मेघसंदेशम्, प्रेक्षण सप्तकम्, पृ.सं. 17
67. वही, पृ.सं.20
68. वही, पृ.सं.20
69. वही, पृ.सं. 22
70. तण्डुलप्रस्थम्, पृ.सं.4
71. वही, पृ.सं.5

षष्ठम् अध्याय

कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक कुरीतियाँ

षष्ठम् अध्याय

कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक कुरीतियाँ

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने अपने नाटकों में मुख्य रूप से सामाजिक जीवन का चित्रण किया है। यही कारण है, कि उनके द्वारा रचित नाटकों मे सामाजिक जीवन के बहुआयामी चित्र दिखाई देते हैं, जो उन्हें सामाजिक चिंतक बना देते हैं। जिन बातों को किसी मंच से जोरदार शब्दों में कह देने से समाज में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता उन्हीं बातों को रचनाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से कहता है। त्रिपाठी जी का कहने के प्रति जो लगाव दिखाई देता है, वह सामाजिक सरोकार और उनसे उपजी चिन्ताओं का ही प्रतिफल है। क्षमता के साथ हुआ विचार पाठक वर्ग को उस चिन्ता से जोड़ता है, जो रचनाकार की चिन्ता है, जो हर सामाजिक की चिन्ता है। अतः नाटकों में प्रस्तुत समाज वह समाज नहीं है, जिसे हम अपनी आँखों से देख रहे हैं। बल्कि वह समाज है, जिसे हम नित्य प्रति देखकर भी अनदेखा कर देते हैं, जबकि किसी रचना का महत्व यह है, कि वह हमारे समाज को, समाज के उन अवयवों को और उन बिन्दुओं को हमारे समक्ष खोलकर रखता है, जिन पर हमारी दृष्टि उस रूप में कभी गई ही नहीं जिस रूप में रचनाकार की दृष्टि ने उसे देखा है। रचना का विषय-चयन और उसके अनुरूप कला-कौशल इसी निष्कर्ष पर रखा जाना चाहिए।

बड़े नाटककार कि यह विशेषता है कि वह समाज को उस दृष्टि से देखता है, जो सामाजिक जीवन को स्त्री और पुरूष की असमानता या हीन और श्रेष्ठ की कृत्रिमता में बाँट कर नहीं रखती है। वह उस दृष्टि से समाज को धुंधली आकृति को स्पष्ट करता है, जिससें समाज की प्रगतिशील और बहुआयामी उर्द्धगामी छवि निखर सके। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में यही छवि निखर कर आती है, इसी करण उनके पात्र सामाजिक निम्नता और उच्चता से ऊपर उठकर समाज का प्रतिनिधित्व करने की चाह रखने वाले दिखाये गये हैं ।

आचार्य त्रिपाठी जी ने स्पष्ट किया है कि व्यक्ति से अधिक महत्व समाज का होता है। यही कारण है कि समाज ही निरन्तर अपने राष्ट्र को भी प्रभावित करता रहा है। अतः राष्ट्र के ह्रास व विकास दोनों के लिए समाज उत्तरदायी है।

किसी राष्ट्र के विकास हेतु विकसित समाज की महती भूमिका बताई गई है। डा. राधावल्ल्भ त्रिपाठी जी ने हमारे देश के जिस स्वरूप को प्रस्तुत किया है, वह सामाजिक विषमताओं और कुरीतियों के दुष्परिणाम स्वरूप क्रूरता पर अग्रसर है। भारतीय समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था, जातिवाद, अंधविश्वास, साम्प्रदायवाद, दहेज-प्रथा, भ्रष्टचार, शोषण आदि कुरीतियाँ व्याप्त है। इन्हीं कुरीतियों का विश्लेषण नाटककार नें अपने नाट्य-साहित्य में किया है। इस प्रकार की कुरितियों से देश व समाज के सभी व्यक्ति त्रस्त है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने न केवल इन कुरीतियों को अपने सामाजिक नाटकों का लक्ष्य बनाया अपितु इनके कारण समाज की विकृत मानसिकता को भी उजागर किया है, जो निम्न है -

(क) दहेज -

हमारे देश में आज भी अनेक ऐसी रीतियाँ प्रचलित हुई है, जिनमें कितनी ही बुराईयाँ छिपी हुई है। किन्तु हमारे विकृत मानसिकता वाले समाज में सर्वाधिक घृणित, त्याज्य व शर्मनाक होने पर भी निरन्तर अपने पैर पसारने वाली प्रथा है- दहेज प्रथा। जो घुन भी भाँति निरन्तर हमारे समाज को खोखला करती जा रही है।

दहेज की इस कुरीति ने हमारे पारिवारिक सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में ऐसा वैमनस्य उत्पन्न कर दिया है, जिससे हमारे जीवन में विषाक्त सा उत्पन्न हो गया है। यह कुप्रथा दिनों-दिन हमारे आदर्शों पर प्रश्नचिन्ह लगा रही है।

स्त्री के सुखमय जीवन पर दहेज एक गम्भीर प्रश्न है। इस प्रथा के कारण कितनी ही स्त्रीयों का जीवन नष्ट प्रायः ही है। यही कारण है कि राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक समस्याओं की भाँति यह भी एक राष्ट्रीय समस्या बनती जा रही है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने अपने नाटकों के माध्यम से यही स्पष्ट करने का प्रयास किया है, कि सदियाँ बीत जाने पर भी आधुनिक नारी दहेज के कारण होने वाले शोषण से मुक्त नहीं हो पायी है।

आज के समय में दहेज प्रथा एक गंभीर समस्या बन गयी है। भारतीय समाज में दहेज एक अभिशाप की तरह है, जो जीवन भर गेहूँ में घुन की भाँति

लगा रहता है। एक ही कोख से जन्म लेने के बावजूद पुत्री के जन्म पर उदासीनता वहीं पुत्र जन्म पर हर्ष का माहौल रहता है। पुत्री को अभिशाप की भाँति समझा जाता है। पुत्री स्वयं को दबी हुई व सहमी महसूस करती है, इसका मुख्य कारण दहेज ही है।

महकवि कलिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में कहा है कि - **"कन्या का पिता होना भी कष्ट कारक है। उनकी विपत्ति को पार करना अत्यन्त कठिन है।"** महाकवि की इस भावना के पीछे दहेज ही कारण है।

प्राचीन काल में दुल्हन के परिवार द्वारा नकदी, संपत्ति और अन्य सम्पत्ति के रूप में उपहार देने की परम्परा थी। जिसे उसके माता-पिता अपने सामथ्र्य व क्षमता के अनुसार पूर्ण करते थे। किमती वस्तुएँ देने की इसी प्रथा को दहेज प्रथा की संज्ञा दी गई है। महाकवि कालिदासकृत 'भारत' नामक ग्रंथ के भगवतशरण उपाध्याय में लिखा है कि -

"प्राचीन समय में दहेज प्रथा थी, परन्तु आजकल के समान विवाह से पूर्व कोई शर्त नहीं थी। विवाह संस्कार के समाप्त होने पर वर को कन्या के अभिभावक अपनी समर्थता व क्षमता के अनुसार दहेज देते थे। कन्या को आभूषणों से अलंकृत किया जाता था और यह आभूषण बन्धु-बान्धवों से उपहार के रूप में मिला धन उसकी स्त्री का धन होता था।"

कहा जा सकता है, कि प्राचीन समय में भी दहेज देने की प्रथा तो थी, किन्तु उसमें बाध्यता नहीं थी। यह पूर्ण रूप से सामथ्र्य और श्रद्धा पर आधारित थी। जिसे "यौतुक" या "स्त्रीधन" भी कहा जाता था।

आचार्य त्रिपाठी जी के नाटकों पर दृष्टिपात करें तो बताया है कि आज बहु द्वारा लाये गये उपहारों की तुलना अक्सर आस-पास के घरों में दुल्हन द्वारा लाये गये उपहारों से करते हैं साथ उन पर टिप्पणी भी करते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप लड़कियाँ अक्सर तनाव महसूस करती है और मानसिक अवसाद से ग्रस्त हो जाती है। ससुराल वाले बहू के साथ बदसलूकी करना अपनी आदत बना लेते हैं। वे अपनी बहु को अपमानित तो करते ही हैं साथ ही उसके शारीरिक शोषण करने में भी पीछे नहीं रहते। यहाँ तक ही दहेज की माँग पूरी करनें में सक्षम न होने पर उन्हें जलाने व मारने जैसी दुर्घटनाएँ उत्पन्न होती है।

डा. त्रिपाठी जी कृत सोमप्रभम् एकांकी में वर्तमान समाज के इसी दहेज लोभी चरित्र का वर्णन किया है। यह नाटक लोभी सास-ससुर द्वारा किए गये वधू दहन जैसे क्रूर कृत्यों पर आधारित है। इस नाटक में बहू विमला की विवशता सहज ही दिखाई देती है। एकांकी की प्रमुख पात्र विमला के माध्यम से लेखक संदेश देना चाहते है कि आज ईक्कीसवीं सदी में उच्च शिक्षित तथा नौकरीपेशा होने पर भी स्त्री को स्त्री होने का श्राप कैसे झेलना पड़ता है -

"(सोमप्रभा निर्गता नेपथ्यात्। श्वाश्वास्तारस्वरः) विमले! आये रण्डे! कुत्र मृतासि ? कियतः कालात् शब्दापयामि ? विमला- (सकरूणं निशम्य) इयं ममं श्वश्रूः सदैव मर्मघातिभिः कतुवचनैराक्षिपति माम्। (उच्चैः स्वरेण)- अम्ब! इयमाच्छामि। किं करणीयम् ? (परिक्रामति)

(ततः प्रविशति साटोपं कोपं निरूप्याति श्वश्रूः)

विमला - अम्ब ! किमादिशाति ?

श्वूश्रूः - (विडम्बयन्ती) किमादिशासि! किमिदानीमपि महादेव्याः प्रभातकालो न सञ्जातः ?

विमला - प्रातः कालिकं कार्यजामतमेव सम्पादयामि।

श्वश्रूः - प्रातः कालिकं कार्यजातं सम्पादयसि।
इदानीमपि चायपेयस्य नास्ति कापि कथा।
तव दुरात्मा पिता आगत्य साधयिष्यति।
किं चायं? येन काकिणी आपि न दत्ता।

विमला - मम् पितृपादम् किमर्थं कदर्थयासे अम्ब।
यत्किमपि कथनीयं माँ प्रत्येव कथय।

श्वश्रूः - (सभ्रू भङ्गं सभुजक्षेपंच) अय हय् !
शृणुत अस्या रण्डायः अधरोत्तरम्। एतावानेव प्रियो यदि पिता तर्ही तत्रैव गत्वा कथं न मृता पितुर्गृहे ?

विमला - सं तु माम नेतुमागतः श्रावणे विगेत। भवतीभिरेव।

श्वश्रूः - (चीत्कर्वन्ती सकोपम्) विमले एतावांस्तव साहसः। जिहवां चालयासि मत्सम्मुखम्। उत्तरं ददासि ? डाकिनी पिशाचि!"[1]

(ख) शोषण -

"शोषण" हमारे समाज में भली-भाँति प्रचलित व शब्द है, जिसे सभी जानते भी है और किसी न किसी रूप में त्रस्त भी है। आमतौर पर ऐसा कोई भी व्यवहार का कार्य जिससे दुःख उत्पन्न हो तथा मन कुण्ठित व परेशान हो अथवा जीवन शैली के लिए हानिकार हो शोषण कहलाता है। शोषण किसी भी रूप में किया जाए पर शोषण अत्यन्त पीड़ादायक एवं अनुचित कार्य है। कविवर त्रिपाठी जी अपने नाट्य साहित्य में बताया है, कि शोषण अपराध की श्रेणी में होने पर समाज के प्रत्येक स्तर पर अपने पैर पसारे हुए है। मुख्य रूप में समीक्ष्य नाट्यसाहित्य में शोषण प्रमुख चारों स्वरूपों शारीरिक शोषण, मानासिक शोषण, आर्थिक शोषण का समाजिक शोषण का समाज में व्याप्त स्वरूप ही त्रिपाठी जी ने प्रस्तुत किया है।

शोषण के भिन्न-भिन्न कारणों मुख्यतः स्वार्थ, लोभ, ईष्र्या व घृणा, अभिलाषा पूर्ति, क्रोध, अहंकार सभी को आचार्य राधावल्लभ जी ने अपने नाट्य साहित्य का अंग बनाया है। सुशीला नाटक में आज के समय में व्याप्त विकृत मानसिकता के कारण उत्पन्न हुई आन्तरिक छटपटाहट, घरेलू हिंसा, राज्यालिप्सा कामासाक्ति आदि के कारण होने वाले शोषण को दर्शाया है। स्त्री के शोषित जीवन पर व्यंग्य करते हुए सुशीला गाती है -

"व्यो व्यतीतम् अङ्गंगलितम् शय्यायाः आस्तरणे,
नाहं शयिता, नाहं मुदिता, मुदिता संसरणे।
आश्वासो न क्षणमपि लब्धोः मया जीवने न वा मरणे।।"[2]

यद्यपि शोषण के क्रूर अर्थ को सभी जानते व समझते हैं। क्योंकि हमारे समाज में शोषण का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है विभिन्न रूपों में इसकी जडें जमीं हुई है। किसी भी मनुष्य के कुण्ठित होने या परेशान होने का मुख्य कारण उसका शारीरिक या मानसिक शोषण ही हो सकता है, किन्तु हम विचारों का विश्लेषण करें तो शोषण के इन दोनों रूपों से भिन्न एक तीसरा रूप भी है, जिससे न केवल व्यक्ति विशेष अपितु परिवार के अन्य सदस्य भी प्रभावित होते हैं। इस प्रकार के शोषण को ही हम "सामाजिक" शोषण कह सकते है। प्रायः सामाजिक शोषण को सहसा हम नहीं पहचान पाते हैं और सहन कर रहे होते हैं

और उसका विरोध भी नहीं कर पाते हैं। इस प्रकार के शोषण का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में प्रहार करता रहता है और कभी-कभी यह शोषण इतना बढ़ जाता है, कि यह जानलेवा भी होता है। कई बार शोषण से त्रस्त व्यक्ति अपना मानसिक संतुलन भी खो देता है। सामाजिक शोषण क्यों है तथा किस लिए है ? आज हम जिस रूप में है, वैसे ठीक नहीं मानकर उसमें बेहतर से बेहतर की उम्मीद लगाकर स्वार्थ सिद्धि ही अपेक्षा रखते है। इसी कारण व्यक्ति स्वयं को सामान्य या औसत स्वीकार नहीं कर पाता है और इसी मानसिकता के कारण सामाजिक शोषण का हिस्सा बन जाता है। जबकि ईश्वर निर्मित प्रत्येक सजीव निर्जीव वस्तु अपने आप में पूर्ण व बेहतर है..... किन्तु समाज की अपेक्षा व उपेक्षा दोनों ही उसे बदलाव के लिए मजबूर कर देना चाहती हैं। सामाजिक शोषण से तंग आकर लोग स्वयं को बदलने में लग जाते हैं ।

किसी भी व्यक्ति के साथ किया गया हिंसात्मक व्यवहार अथवा उसकी इच्छा के विपरित उसे शारीरिक कष्ट प्रदान करना भी शोषण कहलाता है। जिसे देखने हेतु घर से बाहर जाने की आवश्यकता राधावल्लभ जी के नाटकों में दिखायी नहीं देती है। उनके नाटकों में शोषण का स्वरूप नग्न आँखों से देखा जा सकता है। कविवर के अनुसार शोषण की प्रथम शुरूआत घरों से ही प्रारम्भ होती है। परिवार में स्वयं को महत्त्वपूर्ण समझने एवं दिखने के लिए तथा अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए परिवार में एक सदस्य के द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण करना साधारण सी बात हैं। 'सोमप्रभम्' नाटक में सास अपना वर्चस्व स्थापित रखनें हेतु बहु को जबरदस्ती परेशान करके उसका शारीरिक व मानसिक शोषण करती है। अन्ततः वह अपनी दहेज लालसा को स्वार्थ सिद्धि हेतु वधूदहन जैसे कार्य करने से भी नहीं कतराती है-

"श्वश्रूः - का कथा चायपानस्य। त्रोटितानि अनया दुष्टया चायभाजनानि। न मया किमपि भणितम् तथापि अधिक्षिपति मामियम्। वयं नृशंसाः वयं लोलुपाः वयं राक्षसाः।

श्वसुर - एतत्सर्वं कथितमनया ?

विमला - पश्यत पश्यत अस्या दौरात्म्यं दुर्भागायाः। किं किं दृष्कृत्यमिमं न करोति ? सम्मुखमेव प्रत्युत्तरमपि ददाति जिह्वा चालयतीयं मत्समक्षम्।

श्वसुरः - (सक्रोधम्) अहो अस्या दुस्साहसम्।

(श्वसुरः श्वश्रुश्च तां न पश्यतः उभौ सक्रौर्य सहिस्त्रभाव विमलां निभालयन्तौ तामुपसर्पतः। सोमप्रभा प्रविश्य एतत् पश्यति)

विमला - अम्ब! पितः। न मया किमपि अपराद्धं सत्येन शपामि। किमिंति यूयं मामेव पश्यथ? नहि, नहि, न मां ताडयितुमर्हन्ति भवन्तः.....। (उभौ बलाद् विमलां गृहित्वा प्रधर्षयतः)

सोमप्रभा - (भयग्रस्तेनातिमन्दस्वरेण)- अम्ब.....अम्ब ..... (श्वसुरौ तामपश्यन्तौ विमलां कर्षतः)।

श्वश्रुः - नयता एनां महानसम् इयं तत्रैव ज्वलतु।[3]

सामाजिक शोषण के निन्दनीय विकराल रूप दहेज प्रथा का उल्लेख इस नाटक में किया गया है।

'सोमप्रभम्' व ''सुशीला'' नाटक में पुत्र-पुत्री भेद की विभीषिका भी शोषण का रूप लेती हुई दिखायी देती है। आर्थिक विपन्नता से जूझती हुई स्त्री सुशीला का अपनी ही मासिक आय पर अधिकार नहीं रहता है। पुत्र न होने के कारण वह अपने ही घर में शोषित है। इसी कारण अपने सास-ससुर के वाक् प्रहारों को झेलना उसकी मजबूरी बन गयी है। सूने घर में विभिन्न कारणों का आश्रय लेकर सास-ससुर उसके साथ मार-पीट करते हैं, यहाँ तक की उसे जान से मारने के लिए भी षड़यंत्र करते हैं। मजबूर सुशीला दिनों-दिन आर्थिक, मानासिक, शारीरिक शोषण का शिकार होती जाती है।

कविवर ने चारदीवारी के अन्दर स्त्रियों के साथ होने वाले धरेलू शोषण पर भी अपनी पैनी दृष्टि डाली है। सुशीला नाटक में पाँच ग्वालिनों के साथ सुशीला प्रवेश करती है। तब सुशीला स्वयं में लीन अपने पुराने कृत्यों का बखान करती हुई बड़-बड़ाती रहती है। किसी बात का कुछ ओर जवाब देती है। यद्यपि उसका यह व्यवहार अन्य स्त्रियों को पसन्द नहीं आता है। फिर भी वह तरह-तरह की बातों करती है और बातों में ही सुशीला को बता देती है कि वह भोलु की रखेल पत्नी है। पहली पत्नी भोलू की मारपीट के कारण ही स्वर्ग सिधार गई। भोलू का अपनी पत्नी के प्रति यह व्यवहार न केवल शोषण को दिखाता है। अपितु घरेलु हिंसा का भी उदाहरण प्रस्तुत करता है। शोषण की इसी छटापटाहट से त्रस्त सुशीला कहती है कि-

"सुशीला (सहसा फूत्कृत्य रूदन्ती) - कथय कथय तावत्। यत्किमपि मनसि स्यात् तत् कथय। तथाविधा एवाहम्। तव कृते किं किं न मया सोढम्। आदिवसं आरात्रि व्यग्रास्मि गृहकार्ये-कस्य कृते ? तथापि डाकिनी अहम्। सर्वदा मया तव अन्यायः सोढः। किं प्राप्तं मया विवाहानन्तरम् अस्मिन् गृहे, वद तावत्- किं मया प्राप्तुम् ?"[4]

बहुत बार लोग इनमे तंग आकर लोग नौकरी घर रिश्ते और दुनिया तक छोड़ जाते हैं। जिसे कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने 'प्रतीक्षा', 'सोमप्रभम्', 'सुशीला' नाटक में क्रमशः बताया है। कविवर ने अपने नाटको में शोषण के विरूद्ध अपना मत समझाने का प्रयास किया है कि बेहतर होना गलत नहीं है, किन्तु इस बदलाव हेतु जीवन से खिलवाड़ करना स्वयं को तनाव में रखकर खुद को क्षति पहुँचाना निन्दनीय है।

अक्सर देखने को मिलता है, कि पारिवारिक ईष्र्या या पड़ौसी अथवा साथ रहने वाले की जलन की भावना आपसी सहयोग के स्थान पर एक-दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति में परिवर्तित हो जाती है और यहीं से शोषण की शुरूआत हो जाती है। आपसी तानाकशी कब शोषण का रूप ले लेती है। सामान्यतः पता भी नहीं चल पाता है। जिसके कारण बहुत सी मानसिक सकारात्मकता, नकारात्मकता में परिवर्तित हो जाती है। डा.राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने इसी परिवर्तन को प्रतीक्षा एकांकी में प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार पड़ौसी की बातों को सुनने के पश्चात् कल्पना की मां अपनी ही बेटी के प्रति नकारात्मक सोचने पर मजबूर हो जाती है।
"भामा - अथ किम् ? भवत्या दूरभाषं कार्यं करोती न वा ?
श्रीमती भाटिया - तत् तु द्योदिनादेव मृत तिष्ठति। युष्माकं करोती किं कार्यम ?
भामा- न न । अधुनैव मृतम। कल्पना स्वसहकार्मिणाः श्रीवास्तवस्य गृह गता। तत् सम्पर्कः कर्तुमिष्यते स्म।
श्रीमती भाटिया - समयोऽतीव दारूणः। रात्रीर्जायते। कठोरीभूत योजवा तव कन्या। हयः कि जातम् श्रुतं न वा ?
भामा - किं जातम् ?
श्रीमती भाटिया - स उद्योगपति वर्तते सी.एस.सन्तानी। तस्य पुत्री प्रतिनिवर्तते स्म। तामुत्थाप्य गतवन्तः।
भामा - अरे! के ?

श्रीमती भाटिया- प्रखरे दिने उत्थाय गतवन्तः। सर्वे दृष्टवन्तः। पश्यत्सु जनेषु उत्थाप्य तां नीतवन्तः।

भामा - अरे, के ?

श्रीमती भाटिया - सा चीत्करोषि स्म ।

भामा- परन्तु के नीतवन्तस्ताम् ?,

श्रीमती भाटिया - अरे के के इति किं पृच्छसि। किमहं जानामि के ते। ये केऽपि स्युः। बहवः संचरन्ति। विदेशेऽपि दिने संचरन्ति का कथा रात्रेः। तथापि जनाः स्वपुत्र्योऽस्यं) वेलायामापि बहुर्गुन्तुम ददाति। भवतु, किं मम् ? बहुकार्य वर्तते। गच्छाम्यहम्।"[5]

किन्तु आचार्य जी ने शोषण का दूसरा पक्ष भी सुशीला नाटक में प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण नाटक में 'सुशीला' एक शोषित स्त्री के रूप में बताई गई। परन्तु नाटककार ने सुशीला के साथ छाछ बेचने वाली स्त्रियों का सखीत्व वाला रूप भी बताया है। जब वे सुशीला की छाछ की हँडिया फुट जाने पर उसके पति भोलू से बचाने के लिए उसकी मदद करती हैं ।

"सुशीला - भग्नं मम भाण्डम् । विलुलितं मम तक्रम।

स्त्री 4 - सत्यमाह इयम्। भग्नमस्या भाण्डम्। विलुलित सर्वं तक्रम्। अधुना कि भविष्यति ?

स्त्री 1 - अत्याहितं जातम् । परं क्रि क्रियते ?

स्त्री 2 - न किमपि कुर्तु शक्यते। भोलुकस्य ज्ञात यदस्याः तक्रभाण्ड भग्न ताहे न स मर्षयिष्यति-

(सुशीला सहसा फूत्कृत्य रोदिति।)

स्त्री 1 - अरे, पश्यत पश्य। रोदिति खल्वियम्।

स्त्री 5 - अयी सुशीले, अलं रूदितेन। सर्वम् उत्पन्नं स्यात्।

स्त्री 2 - एवं कुर्मः स्व-स्व भाण्डेभ्यः स्वल्पं स्वल्पं तक्रमादाय अस्मै ददमः। तत्र वर्तते कुम्भुकारपल्ली। तत¨ मृद्भाण्डमापि एक क्रीत्वा दद्मः।

स्त्री 4 - तथापि जनीथ युयं भोलुकस्य प्रकृतिम। यदि कथांचित् तेन ज्ञातं पातितमनया भाण्ड विकीर्ण च तक्रमिति तदा भृशमिया स ताडयिष्यति कुट्टयिषति।"[6]

नाटककार ने अपने नाटकों में समाज के उस सत्य को उजागर किया है, जहाँ शोषण का प्रारम्भ घर परिवार में आपसी मजाक और फिर तानाकशी से होता है। प्रारम्भ में यह सब किसी भी सामाजिक के लिए सहनशील हो सकता है, किन्तु अधिक हो जाने पर यह शोषण बन जाता है, चाहे वह मानसिक रूप में हो या शारीरिक रूप से।

'प्रतीक्षा' एकाकीं के माध्यम से लेखक ने यही बताया है कि परिवार में आपसी व्यवहार व विश्वास की सकारात्मकता की महती आवश्यकता है।

भारतीय समाज में प्रचलित जाति प्रथा के कारण वर्ग विशेष का शोषण होता रहा है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी 'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाटक में इसी शोषण के विरूद्ध संघर्ष व परिवार में आदर्श प्रेम की स्थापना की है। नाटक का नायक निरंजन प्रतिभाशाली होते हुए भी अपनी मंजिल तक नहीं पहुँचने दिया जाता है। क्योंकि समाज के कुण्ठित लोग अपने ईगो के कारण अपने से श्रेष्ठ होते हुए भी गुरूजी के पास सामान्य तरीके से अध्ययन से भी वंचित कर देते हैं। उसे अन्य विद्यार्थियों की भाँति सामान्य जीवन से परे अपना जीवन जीना पड़ता है। अन्य लोग उसकी प्रतिभा का हनन करते हैं तथा उसे गुमराह करते हुए उसका शोषण करते हैं।

आचार्य त्रिपाठी जी ने नाटकों में समाज का वह स्वरूप दिखाया है, जहाँ शोषित एक डर से जीता है। जिसके नकारात्मक परिणाम देखने को मिलते हैं। सिर्फ लोगों की तुच्छ सोच के कारण ही शोषित वर्ग को दुष्परिणाम झेलने पड़ते है, किन्तु समाज के लोग अपने क्षणभर के आन्नद के लिए किसी की भावनाओं से खिलवाड़ करना कब बन्द करेंगे।

अन्ततः आचार्य जी के द्वारा रचित नाटकों के अध्ययन के पश्चात् निष्कर्षतः यही ज्ञात होता है, कि आपसी समझ की आवश्यकता समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए है। स्वयं कि तरक्की हेतु किसी को नीचा दिखाना उसे प्रताडित कर उसका शोषण करना सही नहीं है।

सामाजिक शोषण वह विष है, जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैलता है। जिसका अन्त भी इसी प्रकार से व्यक्ति-दर-व्यक्ति होता है। नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वर्तमान समय में समाज में स्वस्थ मानसिकता की

आवश्यकता है, जो व्यक्ति को विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए हो।

(ग) भ्रष्टाचार

समाज के विभिन्न स्तर व क्षेत्र में कार्य करने वाले व्याक्तियों को जिस निष्ठा व ईमानदारी से कार्य करने का कर्तव्य होता है तथा उनसे जो अपेक्षा की जाती है। उसका न होना ही भ्रष्टाचार कहलाता है।

भ्रष्टाचार समाज में समय विशेष में उत्पन्न होने वाली घटना नहीं होकर चरित्र व नैतिक मूल्यों के पतन, कानून व्यवस्था की शिथिलता, दोषपूर्ण शासन व्यवस्था आदि का परिणाम है। सामान्यतः भ्रष्टाचार शब्द उस मनोवृति या व्यवहार को इंगित करता है जो देश की सामाजिक, सांस्कृतिक व वैधानिक दुर्दशा को बढ़ावा देती है।

विभिन्न शब्द कोषों तथा विश्वकोषों में भ्रष्टाचार को अलग-अलग आयामों से दर्शाया गया है-

कन्तईज आक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार ''रिश्वत अथवा असंवैधानिक और अनुपयुक्त साधनों से गलत या अनैतिक कार्य की और उन्मुख होना तथा सही और नैतिक कार्यो से विरत होना ही 'भ्रष्टाचार' है।''[7]

"कालिन्स जेम इंग्लिश डिक्शनरी" में रिश्वत में शामिल होना, नैतिक दृष्टि से गलत होना, विचलन अथवा त्रुटि के कारण अविश्वसनीय होने को भ्रष्ट कहा गया है।''[8]

''सार्वजनिक जीवन में ऐसी स्थिति जब जनहित की उपेक्षा करके सार्वजनिक शक्ति का प्रयोग निजी लाभ, पक्षपात या वर्ग विशेष को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से किया जाता है। इस व्यवहार में कानून तथा नैतिक मानदंड़ों की स्पष्ट अवहेलना होती है, अतः इसे निन्दनीय माना जाता है।''[9]

"जो सही है अथवा जो मूल नैतिक स्वरूप है उससे अलग हटना भ्रष्ट व्यवहार है।"[10]

''भ्रष्टाचार पर कार्य करने वाले ट्रांसपरेंसी इंटरनेशनल ने सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकारियों, नौकरशाहों एवं राजनीतिज्ञों के उस व्यवहार को जिसमें वे

अनुचित तथा असंवैधानिक रूप से स्वयं को समृद्ध बनाने के लिए अपने पद का दुरूपयोग करते हैं, को भ्रष्टाचार कहा है।''[11]

इस प्रकार से भ्रष्टाचार के द्वारा व्यक्ति अपने विशिष्ट कर्तव्यों का उल्लंघन जान बूझकर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लाभ प्राप्ति हेतु करते हैं।

भ्रष्टाचार वही कर सकता है, जिसके हाथ में किसी प्रकार की शक्ति हो तथा वह उचित व अनुचित का लाभ उठाना जानता हो। इसलिये राक ने कहा है,- ''भ्रष्टाचार सामान्य नैतिकता पर विपरित प्रभाव डालता है, क्योंकि वह अविश्वास और आस्थाहीनता की अनुभूतियाँ बढ़ाता है और इस प्रकार के सामाजिक विघटन की एक स्थिति का निर्माण करता है जबकि सामाजिक समस्याओं पर अन्य प्रकार के अपराधों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम होता है।''

भारतीय लोक जीवन में भ्रष्टाचार के दंश से कोई क्षेत्र अछूता नहीं रहा है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने विभिन्न स्वरूपों को अपने नाटकों में बताया है। जहाँ एक ओर सभ्य समाज है, वहीं दूसरी ओर सफेद पोश भ्रष्टाचारी जिसका अस्थित्व राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत रूप में अपने पैर पसारे हुए है। नाटककार ने आज समाज के उस स्वरूप को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है जहाँ भ्रष्टाचार शिष्टाचार बन चुका है। जिसका दुरूपयोग भ्रष्ट लोग स्वसुख के लिए करते है। सुशीला 'नाटक में राज्यपद की लालसा के कारण राजनैतिक भ्रष्टाचार स्पष्ट दिखाई देता है, ''मृत्यु के मुख में बैठा हुआ काशी के राजा मणीभद्र का भाई क्षय रोग से ग्रासित होने पर भी कृष्णपाल के राजा बनाये जाने का विरोध करता है तथा स्वयं राजा बनना चाहता है अन्त में भ्रष्ट तरीके से कृष्णपाल व सुशीला को मृत्यु दण्ड सुनवाकर राजा बन जाता है और मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है।'

1. राजनैतिक व प्रशासानिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार -

राजनैतिक भ्रष्टाचार का बोलबाला सदियों से देखने को मिल रहा है। स्वतन्त्रता के पश्चात् तो यह हमारे देश में और भी अधिक फलफूल रहा है। संयोग वश कोई शासक ईमानदार हो तब भी उसके अधीनस्थ पद का लाभ उठाकर मनमाना भ्रष्टाचार करते हैं।

'धीवरशाकुन्तलम्' नाटक में धीवर द्वारा राजा की अंगुठी लोटाए जाने पर राजा उसे अंगुठी के मूल्य के समान धनराशि प्रदान कर स्वयं के ईमानदार व उदार होने का परिचय देते हैं। किन्तु भ्रष्ट राजतन्त्र के उपासक राजा राजपुरूष धीवर को रोककर मनुहार पूर्वक प्राप्त धनराशि में से अपना भागांश माँगने लगते है, और इतना ही नहीं धीवर द्वारा राशि के तीन हिस्से कर देने पर भी वे संतुष्ट नहीं होते बाल्कि उसे मदिरापान कराके उसके हिस्से की राशि भी हड़प लेते हैं -

"श्यालः - एष राजा अङ्गुलीकमूल्यसम्मितो धनराशिरपि प्रसादी कृतः। (मुद्राणां पोटलीमर्पयति।)

धीवरः - अनुगृहीतोऽसि। (इति पोटलीं गृह्णाति)

श्यालः - धीवरः। त्वमस्माभिः प्रपीड़ितः। अन्यथा मा चिन्तय। अस्माभिस्तु राजकार्यवशादेव तथा कृतम् ।

धीवरः - एवमेव भर्तः। एवमेव। अधुना गच्छामि। (इति गन्तुमिच्छति)

सूचक जानुकौ - धीवर। हे प्रिय धीवर!

धीवरः - (स्थित्वा). अपरमपि किमप्यवशिष्यते ?

उभौ - महतरस्त्वं प्रियवयोऽस्मांक संवृतः।

धीवरः - एवमेव।

सूचकः - अस्माकमपि किंचित् सुमनोमूल्यं भवतु अस्माद् धनराशेः।

धीवरः - किन्तु अयं राशिस्तु राजा मह्यं प्रसादीकृतः।

सूचकः - अरे प्रिय मित्र! न जानासि त्वम् - अस्माकम् भागांशो भवति।

जानुकः - (राजश्यालमुपसृत्य)- भर्तः। एतत् सुमनोमूल्यमने- नास्माकं प्रियसुहृदा धीवराजेन स्वेच्छया समर्पितम्। (त्रयोऽपि धनराशिं परस्परं विभज्य गृह्णन्ति।)

श्यालः - हे मात्स्यिक महामणे! हे मीनजीवन निर्मीलन प्रकटितपरम-पुरूषार्थ! हे वरूणपुत्र! इदानीमस्माकं प्रीतिपात्रं स्नेहभाजनम् आस्पदं त्वं जातोऽसि। तदेहि शौण्डिकापणमेव गच्छामः भवत्विदानीं कादम्बरीसख्यमस्माकम्।

(त्रयोऽपि धीवरं परिवार्य परिक्रमन्ति। नेपथ्ये शौण्डिकापणगीतम्।)

पिबन्त सन्ततम् ..... जपत सन्ततम्।।

श्यालः - प्राप्ता वयं शौण्डियापणम्। जानुकसूचकौ। अनयतं मास्त्यिकमहाश्रेष्ठिनः कृते चषकम्।

(सूचक जानुकौ चषकानानयतः)

सूचकः - (चषकं राजश्यालाय अर्पयन्) स्वैरं पिबतु भर्ता। अयं मास्त्यिकमहाश्रेष्ठी अतीवदारः। सुराया मूल्यमयमेव दास्यति।"[12]

यही नहीं देश में होने वाले चुनावी माहौल, घौटाले व झूठे वादों पर भी कविवर ने दृष्टिपात किया है। भ्रष्ट नेता चुनाव के समय उचित- अनुचित वादे करके अपने पक्ष में वोट डालने हेतु जनता पर समस्त वादे व जनता की आवश्यकताओं को अनदेखा कर भ्रष्टाचार की राह अपना कर अपना उल्लू सीधा करने लग जाते हैं तथा जनता भी विभिन्न पूर्वाग्रहों व राजनैतिक प्रपंचों के कारण स्वयं को बँधा हुआ पाती है व भ्रष्टाचारी नेता जनता को झूठे अश्वासन देखर मूर्ख बनाने का कार्य करते है।

"विघ्न- कि कुर्मः? देशसेवाया व्रतं गृहीतम्। मध्यावधि निर्वाचनमिदमापतितम्। अतः पुनरपि सेकया अवसरं प्राप्तुमिच्छामि। श्रीमतां मतं मत्कृते निपततु पेटिकायाम्।

"सूत्रः - ममं हस्तौ शृंखलाबद्धौ। कथमहं मतं ददानि ?

विध्नः - आसां शृंखलाना विषये अहमवश्यं त्वरितमेव यथोचितं करिष्यामि।

सूत्रः - अश्वासनमेतत् शृण्वतो मे अतीतानि युगानि।

विघ्नः - अये भवान् शृंखलाभ्यो विभेति ? अहं भवतां सेवकः। अहं शिथिलयामि एताः (एकां श्रृंखला - शिथिलीकृत्य तस्य दक्षिणं हस्तमुत्थापयन्) पश्यन्तु भवान् अयं हस्तः। प्रसरति न वा? अयं क्रान्तिकरो भवतां दक्षिणः हस्तः। अयं महान् हस्तः अयं मतपत्रे मुद्रामर्पयिष्यति तेन क्रान्तिर्भविष्याति। हे हस्तदक्षिण! मतं मतपेटिकायं जीवातवे विसृजरे परतन्त्र एव।

सूत्रः - परं मम मुक्तिः कदा भविष्यति ?

नेताः - भविष्यति । अवश्य भविष्यति। तद् विषये लोकसभाया स्थित्वा चिन्तनं करिष्यामः । अचिरमेव कामपि व्यवस्थां श्रीमतां मुक्त्ये विधास्यामः।[13]

पद की लालसा अनुचित करवाने से भी नहीं रोकती है। मृत्यु शय्या पर लेटा हुआ व्यक्ति भी राजा बनने की चाह रखता है। राज्य पद की इसी लालसा को डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने सुशीला नाटक में दर्शाया है। साधारण दिखने वाले छोटे से व्यक्ति से लेकर उच्च पद प्राप्त व्यक्ति तक हर कोई पद की

लोलुपता में भ्रष्टाचारी बन जाता है, राजनीति की इसी गंदगी की ओर आचार्य जी ने ध्यान आकर्षित किया है।

'सुशीला' नाटक में प्रथम देवशर्मा अपने पुत्र को राजा बनाने की घोषणा करते हैं। किन्तु वहीं सुशीला उसके चाचाजी के यहाँ चैनपुर चलने के लिए कहती है कि उनके पास खूब जायदाद है, जो उनके मरने के बाद हमारी हो जायेगी, दूसरी ओर काशी के राजा मणिभद्र का क्षय रोग ग्रसित भाई कृष्णपाल के राजा बनाये जाने पर आक्षेप करते हुए बीमार होने पर भी स्वयं राजा बनना चाहता है। अन्त में वह राजनैतिक भ्रष्टाचार का सहारा लेकर कृष्णपाल और सुशीला को मृत्यु दण्ड सुनवा देता है, तथा स्वयं राजा बन जाता है। और बीमारी वश मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है।

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने मशकधानी एकांकी के माध्यम से भी राजनैतिक भ्रष्टाचार को इंगित किया है। हास्य के माध्यम से आचार्य जी ने पतनोन्मुख वर्तमान राजनीति को बताया है। नैतिकता विहीन राजनीति में प्रत्येक नागरिक को चैतन्य करने का प्रयास स्तुत्य है। एकांकी के अन्त में सूत्रधार के माध्यम से जन सामान्य के क्रोध को प्रस्तुत किया है। वह श्रेष्ठी के मूर्खतापूर्ण व्यवहार से त्रस्त हो जाने पर धैर्य का त्याग करते हुए कहता है कि क्या आप जानते हैं, कि हमारे राष्ट्र में अराजकता का मुख्य कारण इसी प्रकार के व्यक्तियों के हाथों में सत्ता होना "किं जनासि आस्मिन राष्ट्रे सर्वधा अराजकता जाता इति।"[14]

'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाटक में लेखक ने वर्तमान और भविष्य की सबसे बड़ी समस्या जल संकट पर भी दृष्टिपात करते हुए लिखा है, कि जनतन्त्र प्रणाली यद्यपि गाँव-गाँव में नहर पहुँचाना चाहती है। राजकुमारी के सहयोग से इस कार्य को क्रियान्विती भी मिलती है किन्तु कार्य के मध्य में आने वाले सत्ता के भ्रष्टाचारी आधिकारी के कारण उत्पन्न हुए संघर्ष को यथार्थ अभिव्यक्ति मिली है।

2. धार्मिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार -

धर्म के नाम पर होने वाले अनैतिक कार्यों को धार्मिक भ्रष्टाचार की श्रेणी में रखते है। लोग मन्दिर धर्मशालायें धार्मिक आयोजन आदि के नाम पर भ्रष्ट

आयोजन करते हैं। चाहे वो इनमें नशे का सेवन हो चढ़ावें के प्रसाद का बाजरीकरण या महिलाओं से दुव्र्यवहार हो धर्म के नाम पर चढ़ाया गया पैसा अधर्म के कार्यों में लगा दिया जाता है। धार्मिक स्थानों पर भोली-भाली जनता के झुठे किस्से सुनाकर मनमाने ढंग से वसूली की जाती है।

आचार्य जी ने गणेशपूजन एकांकी में धर्म के इसी स्वरूप व स्वाथता के भ्रष्टाचार का चित्रण किया है। स्वार्थ के वशीभूत बुलाकीराम जैसे लोग धर्म की आड़ में स्वार्थ सिद्धि हेतु प्रयत्नशील होते हैं। वे धार्मिक उत्सव को भी अश्लीलता का पर्याय बनाने में शर्म महसूस नहीं करते अधिक चन्दा वसुली हेतु अश्लील वीडियों पिक्चर का सहारा लेते हैं। लोगों की कलुषित मनोवृत्ति भ्रष्टाचार तथा धार्मिक भावनाओं के साथ खिलवाड़ तीनों समस्याओं की और ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास नाटकार ने किया है-

"बुलाकिराम - सर्वे शान्ता भवन्तु । कृपया सर्वे शान्तास्तिठन्तु। भवद्भिः श्रीमद्भिर्मान्यैः सम्मान्यैर्दर्शकमहोदयेर्यत् पृष्टं, तदेव विनिवेदयामि। चलचित्रमस्माभिः प्रदर्शयिष्यते गणेशपूजानन्तरम्। तस्य चलचित्रस्य नाम वर्तते- 'तेरा हुस्न मेरी दोलत इति।'

(दर्शकेषु कोलाहलः शीत्कृतिध्वनिः तालिकावादनं च) कृपया सर्वे शान्तातिठन्तु। एक महत्वपूर्णा सूचना देया। कृपया शान्ता भवन्तु। एकः आवश्यकः अनुरोधः। कृपया शान्तु भवन्तु। एकः आवश्यकः अनुरोधः। कृपया शृणवन्तु- अस्य चलचित्रस्य नाम्ना मया स्मृतम्। मया एतत् स्मृत यदस्मिन् संवत्सरे गणेशपूजायाः कृते पर्याप्त धनसंग्रहों न जातः। पश्यन्तु भवन्तः। कियान व्ययः आयोजने भवति- संजायां, पूजायां, चलचित्रप्रदर्शनाय विडियोविक्रेतुः कृते भाटक प्रदाने एवमादिषु-

"दर्शकः 2 - मम् गृहाद् त एव बलात् पंचशन्नीतवन्तः।

दर्शकः 1 - पुरतस्तेषमियमेव दशाभूत सर्वेषाम। भवन्तः किमपि न कथयन्ति गणेशोत्सवव्याजेन मे लुण्ठाकाः अस्मान् वंचयन्ति ।

दर्शकः 4 - कि वाच्या भ्रातरः यदि किमापि कथायामस्तर्हि ते कलहलयन्ते।

बुलाकीरामः - अत एव प्रार्थयामि। यैः गणेशपूजायाः कृते द्रव्यसङ्ग्रह- स्वाशंदानं विहितं, इदानीमपि तथा कुर्वन्तु। गणेशोत्सव समितेः कोशाध्यक्षाः लम्बोदरामिश्रवर्या अत्रैव सन्ति। त प्राप्तिचिटिकामपि दद्युः।

दर्शकः 3 - प्राप्तिचिटिका तु दीयते, किन्तु प्रतिवर्ष कियान् राशिः प्राप्यते। कियान् च व्ययोः भवतिः इति न सूच्यते।

बुलाकीरामः - कृपया शान्तास्तिष्ठन्तु। एतत् धर्मकार्यं वर्तते, अत्र मुक्तहस्तं सहयोगो विधेयः। अत्र का कृपणता। भगवता गणेशनाम्ना दतस्य तु महत् पुण्यफलं। स्यात्। अनेन भवतामेव लाभः।"[15]

'सुशीला' नाटक के अनुशीलन से दृष्टिगत होता है, कि धर्म का केन्द्र समझे जाने वाले, मोक्षदायिनी स्थल के रूप में पुराणों में विख्यात मथुरा और काशी जैसी देव स्थली में भी ग्वालिनों द्वारा छाछ बेचना सुरक्षित नहीं है। अन्यायी, बलात्कारी व चोरों के डेरे वहाँ भी विद्यमान है। विश्वनाथ के मन्दिर जाने वाले रास्तों पर वैश्याओं को जमावड़ा रहता है। नाबालिक कन्याऐं जबरदस्ती कोठों पर बिठा दी जाती है तथा प्रजा का रक्षक राजा स्वयं भी उन वेश्याओं में रमण करता है।

'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाट्क के माध्यम से डा. राधावल्लभ त्रिपाटी जी ने वर्तमान में समाज में शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न भ्रष्टाचार व विडम्बनाओं की ओर ध्यानाकर्षित करते हुए श्रेष्ठ शिष्य के लिए श्रेष्ठ गुरू के आभाव को दर्शाया है। शिक्षक वृन्द में उत्पन अंहकार, आलस्य, कामचोरी, मिथ्याजल आदि को रूपायित करने का स्तुत्य प्रयास नाटक में किया गया है। शिक्षक की चाटुकारिकता के माध्यम से अपना ध्येय सिद्ध करने वाले क्राच्छ्रायण एवं चान्द्रायण जैसे पात्रों की कमी नहीं है। जिनके कारण अत्याधिक विद्वान पंचानन जैसे गुरू भी अपने धर्म से विचलित होने से बच नहीं पाते हैं तथा अपने ही शिष्यों से पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाने के लिए विवश हो जाते हैं ।

3. आर्थिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार -

रूतबे के कारण गरीब का आर्थिक नुकसान करना, व्यापार में रिश्वत, झूठे प्रचार व विज्ञापन, टेक्स चोरी, कम तौलना, मिलावटी सामान का विक्रय, रिश्वत के द्वारा ठेके लेना, उधार न चुकाना, आदि आर्थिक भ्रष्टाचार की श्रेणी में आता है। जिसमें आत्म घृणा व अपराध की भावना दिखलाई पड़ती है, जो समाज में अनुचित प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें 'सुशीला' नाटक

में एक ग्वालिन के माध्यम से बताया है कि धनवान की स्त्री हो या पुरूष अधम ही होते हैं । बामनों की स्त्रियाँ इस प्रकार छाछ लेती हैं, जैसे कि दान ले रही हो, और ठाकुरों की स्त्रियाँ उधार लेती है जो कभी नहीं चुकाती। सुशीला व्यंग्य करती हुई कहती है -

''इदानीन्तनाः क्षत्रियाः ऋणं कृत्वा तक्रं पिबन्ति न घृतम्।''[16]

सामग्री के विषय में जानकारी के अभाव में व्यापारी वर्ग द्वारा ग्राहक को वांछित वस्तु न देना अथवा उससे वास्तविकता को छिपाकर वर्तमान में एक बड़ा बाजार खड़ा हो गया है। किसी प्रकार शिक्षित व जागरूक शहरी लोग इस बाजारवाद के प्रति सजग हो जाते हैं, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों के भोले-भाले लोग प्रायः प्रयत्नपूर्वक इसके शिकार बना दिये जाते हैं, जिसका उदाहरण हमें आचार्य त्रिपाठीकृत 'धीवर-शाकुन्तलम्' नाटक में देखने को मिलता है। जब धीवर स्वर्णागुंठी को बेचने के लिए जाता है तो उसे असली अँगुली को बदलकर नकली अँगुठी देने का प्रयास श्रेष्ठी द्वारा किया जाता है तथा धीवर द्वारा स्वर्ण अंगुठी माँगने पर उसके ऊपर चोरी का आक्षेप लगा कर उसका अपमान किया जाता है।

''श्रेष्ठी - इदं तव ?

धीवरः -एवमेवम्। श्रेष्ठिन कः सन्देह ? ममैवैतत्। कियन्तं राशि भवान ददाति एतस्य कृते ?

श्रेष्ठी - एतस्य कृते ? (विमृस्य) - एतस्य कृते चतुरः पंच वा पणकान् दास्यामि।

धीवरः - (साश्चर्य सखेदं च) -किम् किम् चतुर पंच वा पणकान् ? श्रेष्ठिन! सवर्णस्येदमङ्गुलीकम्।

श्रेष्ठी- (उच्चैहसन्)- केन कथितं सुवर्णस्य ? बन्धे सत्यं एवमतीव मुग्धोऽसि। कुतस्तवम् ?

कीदृशस्ते आजीवः।

धीवर: - मम आजीवः कोऽपि स्यात्। त्वमङ्गुलीयकस्य सत्यं मूल्यवद।

श्रेष्ठी - सत्यमेव वदामि बन्धो! सत्यमेव वदामि भ्रातः! मास्ति मिथ्यालवलेशोऽपि अस्माकं व्यवसाये । एवं किमवगच्छसि इदमङ्गुलीयकं शुद्धसुवर्णाणिर्मितम् ?

धीवरः - अथ किम् अथ किम् ? शुद्धसुवर्ग निर्मितमेव।

श्रेष्ठी - (उच्चैर्हसन्) सत्यं मुग्धोऽसी। अरे भ्रातः अरे बन्धो! एतदङ्गुलीयं ताम्रनिर्मितम्। उपरि उपरि स्वर्ण जलं निवेशितम् । पश्य, महाकविः कि कथयति। किं कथयति महाकवि:?

- हेम्न: सलंक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि का। महाकवेर्वचसि तव श्रद्धः नास्ति मूर्ख।

धीवरः - श्रेष्ठिन् भवांस्तङ्गुलीयंक यां प्रत्यपर्यतुं।

श्रेष्ठीः - प्रत्यर्पयामि। किं में तव अङ्गुलीयकेन। नय एतत्। नय, नय। (धीवरदतमङ्गुलीयकं प्रच्छाय अपरमङ्गुलीयकं तस्मै ददत्) - नय।

धीवरः- श्रेष्टिन ? की करोषि ? ईदरास्तव आजीवः ?

मदीयमङ्गुलीयकं प्रच्छाय अन्यदेव अङ्गुलीयकं ददासि ? मत्स्यान यथा वडिशे गृहणामि तथा त्वां निग्रहीष्ये देहि मम अङ्गुलीयम। (इति ग्रीवायां गृहीत्वा ताडयितुमुद्यतः)।

श्रेष्ठी- रे रे रे कि करोषि ? पश्यन्तु। एषः चोरों एवं लुण्ठाकः मां मारयति।"[17]

4. सामाजिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार -

सामाजिक भ्रष्टाचार से तात्पर्य सामाजिक सम्बन्धों में भ्रष्ट क्रियाओं को बढ़ाने से है। विधवा पुनर्विवाह कानून के लागू होने से पूर्व भारत में यौन भ्रष्टाचार का फैलाव अधिक था। विधवा पुनर्विवाह को आज भी समाज सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता है परिणाम स्वरूप बहुत सी विधवाओं को ताउम्र वैधव्य भोगना पड़ता है। स्त्री का पुनर्विवाह होना ही प्रायः समाज में घृणित माना जाता है, किन्तु डॉ. त्रिपाठी जी ने 'सुशीला' नाटक में सुशीला के विवाह को एक नवीन आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। नाटक में स्त्री पुरूष के एकांकी जीवन से बेहतर पुनः घर बसाने पर जोर दिया गया है।

सामाजिक भ्रष्टाचार का दूसरा स्वरूप वहाँ दिखाई देती है। जहाँ पैसे के बल पर अधिक उम्र के आदमी के साथ कम उम्र की लडकियों का बेमेल विवाह करवा दिया जाता है। इस प्रकार के बेमेल विवाह भ्रष्टाचार फैलाते हंै और सुलझे हुए विवाह भी दहेज प्रथा में भ्रष्टाचार फैलाते है। दहेज के कारण भी बहुत सी लड़कियों को ससुराल में जीवन भर नाना प्रकार की यातनाओं को भोगनें के लिए

विवश होना पड़ता है। कई पिता कन्या की शादी में दहेज एकत्रित करने के लिए अपनी नौकरी व्यापार आदि में भ्रष्ट तरीकों का सहारा लेते हैं।

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी विरचित 'सोमप्रभम्' एकांकी की प्रसंगिकता समाज को उसी भ्रष्टाचार का आईना है, जिसके कारण पीढ़ियों से हमारा देश त्रस्त है। वर्तमान समय में दहेज के लोभी भ्रष्ट सास-ससुरों द्वारा किए गये वधूदहन जैसे कूर कृत्यों को लेखक ने एकांकी का आधार बनाया है। एकांकी के माध्यम से लेखक ने बताया कि आधुनिक पढ़ा लिखा समाज भी सामाजिक भ्रष्टाचार के दंश से मुक्त नहीं हो पाया है। जिसके कारण पुत्र-पुत्री के भेद को भी प्रभावी स्वर मिलते है। स्त्रीयों के साथ होने वाले इस सामाजिक भ्रष्टाचार को लेखक ने सहज और सूक्ष्म दृष्टि से पाठको के समक्ष प्रस्तुत किया है।

"विमला - अम्ब किम् आदिशसि ?

श्वश्रु - प्रातः कालिक कार्यजात सम्पादयति। इदानीमपि चायपेयस्य नास्ति कापि कथा। तव दुरात्मा पिता आगत्य साधयिष्यति किं चायं। येन काकिणि अपि न दत्ता"।[18]

इतना ही नहीं भ्रष्ट सामाजिक मानसिकता वाले सास-ससुर क्रूरता पूर्वक पैसे के लालच में बहु को जला देते हैं। उसका चित्रण भी कवि ने सहज ही किया है।

श्वश्रुः- पश्यत पश्यत अस्या दौरात्मा दुर्भागयाः। किं किं दुष्कृत्यमियं न करोती ? सम्मुखमेव प्रत्युत्तरमपि ददाती जिह्वा चालयतीयं मत्समक्षम्।

श्वसुरः- (सक्रोधम्) अहो! अस्या दुस्साहसम्।

(श्वसुरः श्वसुर तां न पश्यत: उभौ सकौर्यं सहीस्त्रभाव विमला निभालयन्तौ तामुपसर्पतः। सोमप्रभा प्रविश्य एतत् पश्यति विमला- अम्ब! पितः न मया किमपि अपराद्ध सत्येन शपामि। किमति युय मामेव पश्यथ ? नहीं नहीं न मां ताडयितु मर्हन्ति भवन्तः। (उभो जिघासया बलाद् विमलां गृहीत्वा प्रधर्षयतः)।

सोमप्रभा (भयग्रस्तेनतिमन्दस्वरेण) अम्ब-अम्ब

(श्वसुरो तामपश्यन्तौ विमला कर्षत:)

श्वश्रूः- नयत एना महानसम इय तनैव ज्वलयतु।"[19]

5. व्यक्तिगत भ्रष्टाचार -

व्यक्तिगत भ्रष्टाचार का तात्पर्य व्यक्तिगत दुर्बलताओं के कारण उत्पन्न हुए भ्रष्टाचार से है। यद्यपि इससे न हो तो अन्य लोगों को कोई हानि नहीं होती है और ना ही इनका कोई प्रभाव उन पर पड़ता हैं किन्तु व्यक्ति के स्वयं के चरित्र का पतन हो जाता है। इस प्रकार का विघटन और दुर्बलताएँ वर्तमान समय में सर्वत्र व्याप्त है। यही कारण है कि आधुनिक समय में सम्बन्धों में असन्तुलन उत्पन्न हुआ है। मदिरापान, जुँआ खेलना वेश्यागमन, यौन, दुराचार आदि व्यक्तिगत भ्रष्टाचार के प्रमुख कारण है। जिससे शनैः शनैः व्यक्तिगत भ्रष्टाचार का पतन हो जाता है तथा आर्थिक आवश्यकता बढ़ जाने के कारण व्यक्ति भ्रष्ट उपायों से धन एकत्र करने को तत्पर हो जाता है। इस प्रकार के लोग भ्रष्टाचार के ही रूप व्यक्ति बढ़ाते हैं। जिसका निरूपण कविवर ने 'धीवरशाकुन्तलम्' नाटक में किया है। जब धीवर की ईमानदारी से प्रभावित होकर राजा उसे अंगुठी के मूल्य के समान राशि पुरूस्कार स्वरूप प्रदान करते हंै, किन्तु चारित्रिक रूप से भ्रष्ट राजा के सेवक मदिरा पान करने के लिए उससे जबरन अपना हिस्सा माँगते हैं। इतना ही नही हिस्सा दे देने पर भी वे धीवर को शराब पीलाकर उसके हिस्से के रूप में उसके पास बची शेष राशि को भी वे भ्रष्ट तरीके से ही हड़पना चाहते हैं ।

वहीं गणेश पूजनम् एकांकी में भी बुलाकीराम गणेश पाण्डाल में गणेश वन्दना के स्थान पर श्रेष्ठी की वन्दना करवाकर अपना उल्लू सीधा करना है।
डा. राधावल्लभ जी ने 'मुक्ति' एकांकी में भ्रष्टाचार के इस स्वरूप को प्रतीकात्मक प्रहसन के रूप में प्रस्तुत किया है। मंनोरजनपूर्ण शैली में इस नाटक में आचार्य ने बताया है कि जंजीर में आबद्ध सूत्रधार मंच पर स्थित है। वह स्वयं की बद्ध स्थिति से क्षुभित है। भिखारी, नेता, आयोजक आदि आकर अपनी स्वार्थ सिद्धि उनसे चाहते हैं, परन्तु उसे मुक्त कोई नहीं करना चाहते किन्तु अन्त में भीख न लेकर पोलिश का कार्य करने वाले एक लड़के को एक रूपया देने से उसकी जंजीर गिर जाती है और वह मुक्त हो जाता है। व्यक्तिगत भ्रष्टाचार की और कटाक्ष करने वाले इस नाटक का मूल उद्धेश्य भी आचार्य जी ने यही बताया है कि व्यक्ति को कर्म करते हुए ही अपनी मुक्ति की ओर आश्वस्त होना चाहिए।

'सुशीला' नाटक में भी एक ग्वालिन के माध्यम से आचार्य जी ने बताया है, कि स्त्रियाँ उधार छाछ लेती है, किन्तु किसी घर मे मर्द छाछ लेता है, तो

तुरन्त मूल्य दे देता है, परन्तु उसकी दृष्टि भ्रष्ट ही होती है। एक दिन सुशीला को घर वाले ने हाथ पकड़कर अंन्दर खिचनें की कोशिश की थी। लेकिन इस बात को इसलिए दबा दिया गया क्योंकि वह घर पर बताती तो बाहर निकलना बंद हो जाता और बस्ती में बताती तो उसकी छाछ बिकना बंद हो जाती। न चाहते हुए भी भ्रष्टाचार को देख कर अनदेखा कर देने की मजबूरी की भी यहाँ आचार्य त्रिपाठी जी ने संकेत किया है। वर्तमान समाज पर दृष्टिपात करें तो यही सब देखने को मिलता है, जहाँ अपराधियों को तो पूजा जाता है तथा जिसके साथ अपराध हुआ है उसका जीना दुष्कर हो जाता है।

(घ) दलित समस्याऐं -

हमारा देश विविध धर्मावाम्बियों का निवास हैं। यहाँ हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई जैन, पारसी आदि विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग लम्बे समय से रह रहे हैं। इनमें हिन्दूओं की हमारे देश में बहुलता है, यहीं कारण है कि यहाँ को अधिकतम साहित्य का आधार हिदूत्व ही है, हिन्दूओं की वर्ण व्यवस्था वैदिक काल से ही जटिल रही है। प्राचीन वर्णव्यवस्था के अनुसार हिन्दूओं को 4 भागों ब्राह्मण, क्षत्रिय, शुद्र, वैश्य के रूप में विभाजित किया गया है। इस व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण को समाज में श्रेष्ठत्व प्रदान कर उन्हें ही समाज में प्रभावशाली बनाया गया, किन्तु शुद्र को शेष तीनों जातियों का सेवक माना गया। शनैः शनैः शूद्रों में भी विभिन्न जातियों तथा उपजातियाँ बन गई। इन जातियों को दलित माना जाने लगा तथा वेदाध्ययन से वंचित कर दिया गया। वर्ण भेद की इसी भावना ने इतना प्रगाढ़ रूप ले लिया कि निम्न वर्ण के लोगों के लोगों की छाया को भी पाप समझा जाने लगा । दलित न केवल सामाजिक सुविधाओ से अपितु सामाजिक रूप से बराबरी के सम्मान से भी वंचित होते गये।

दलित शब्द की उत्पति संस्कृत की 'दल्' धातु से हुई है। जिसका अर्थ है तोड़ना, हिस्से करना, कुचलना आदि। "मानक हिन्दी कोश में 'दलित' का अर्थ दलिद्धर दरिद्र, गया बीता और बहुत ही निम्न कोटि को कहा गया है।"[20] संस्कृत हिन्दी शब्द कोश में दलित का अर्थ दलन किया हुआ गिरा हुआ और अविकसित कहा गया है।"[21] मानक हिन्दी कोश में दलित का अर्थ है- "जिसका दलन हुआ हो

मसला या रौदा गया हो जो दबाया गया हो अर्थात कुचला गया हो अर्थात जिसे पनपने और बढ़ने नहीं दिया गया हो ओर ध्वस्थ या नष्ट किया गया है। अर्थात् दलित वर्ग समाज का वह निम्नतम वर्ग है जो ऊँचे वर्ग के लोगों के उत्पीड़न के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत ही हीन दशा में हो जैसे दास प्रथा सामंतशाही व्यवस्था में कृषक और पूँजीवाद व्यस्था में मजबूरी।"[22]

अस्पृश्यता जातिभेद शोषण और दासता सामाजिक असमानता के शिकार रहे दलितों ने भारत में समाजिक परिवर्तन हेतु प्रत्येक दिशा में प्रयास किए व आन्दोलन चलाये। आधुनिक भारत मे फुले से लेकर कांशीराम आदि विभिन्न नेताओं ने आन्दोलन के माध्यम से राजनैतिक दलितों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधारने का अथक प्रयास किया परिणाम स्वरूप इनकी स्थिति में आंशिक सुधार हुआ आज भी विभिन्न माध्यमों से इनकी स्थिति में सुधार हेतु प्रयास किए जा रहे हैं, किन्तु आज कई गुटों मे बँटकर यह आन्दोलन अलग-अलग राज्य मे सक्रिय रूप से जारी है। दलित आन्दोलनों में दलित समाज के पढे लिखे लोगों को दलित साहित्य सृजन हेतु प्रेरित किया गया तथा दलित साहित्य व आन्दोलन एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हुए दलितों के संघर्ष में सहयोगी रहे यहीं से सवर्ण साहित्यकारों ने भी दलित साहित्य पर अपनी लेखनी चलाने का प्रयास किया हिन्दी, बंग्ला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में दलित समस्याओं को केन्द्र में रखकर साहित्य सृजन किया गया। यद्यपि संस्कृत में दलित साहित्य सृजन की न्यूनता दिखाई पड़ती है फिर भी डा. राधाकृष्ण त्रिपाठी जी ने अपने साहित्य में दलित समस्याओं को प्रकाश में लाने का सफल प्रयास किया है। वह भी ऐसे समय में जब दलित साहित्य सजृन का ठेका दलित साहित्यकारों ने ले रखा है। ऐसे में सवर्ण लेखक आचार्य त्रिपाठी जी द्वारा दलित समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाकर उसे अपने साहित्य का अंग बना लेना उनकी नीर-क्षीर विवेक बुद्धि को तो प्रमाणित करता ही है। साथ उनके अन्तर्मन मे 'निहित सर्वजन सुखाय' की मानवीय भावना को भी उजागर करता है।

आचार्य जी द्वारा लिखित 'धीवर-शाकुन्तलम्' में देखा जा सकता है। धीवर की ईमानदारी व सत्यनिष्ठता को अनदेखा कर उसे पुनः पुनः गालियों से सम्बोधित किया जाता है। आचार्य त्रिपाठी बताते हैं कि किस प्रकार दलित हाने के

कारण उसके द्वारा सत्य प्रणयकथा बता देने पर भी उस पर अविश्वास तथा शक करके उसका उपहास उड़ाया जाता है -

"सुचकः - कोट्टपालः। राजश्यालः। 'अर्धचन्द्रप्रदानेन तं नुदन् चल अग्तो कुम्भीलक! मलिम्लुच।

धीवरः - हे! हे! किमर्थ धक्कयसि। अहं चलामि स्वयेमेव।"

xx xx xx xx

"श्यालः - (हसन्) कु-कु-कुसमामिव! साधु-साधु! कीदृशेषु अङ्गेषु ?

धीवरः - किं कथयामि ? तस्या अधरः किसलयरागः कोमलविटपानु- कारिणो वाहू। मन्ये मानुषीसु तादृशस्य रूपस्य सम्भव एव न स्यात।

सुचकः - (उच्चैहसन्) शृणवन्तु कथामस्य वैधेयस्य।

जानुकः - सर्वथा गल्पं रचयति।

श्यालः - धीवर। सत्यं भणसि ?

धीवरः - सत्यं वदामि । ग्रामे सर्वो जनस्तामभिलषति। परं सा मामेव कामयते। ग्राममुख्यतां पणते। तस्याः पितापि द्रव्यलोभेन ग्राममुख्याय तां विक्रेतुं तत्परः परमहमिदानीं एतत् द्रव्यं दत्वा-प्राप्स्यामि ताम्।

श्यालः - सत्यमेव सा सुन्दरी स्पृहणीया ?

धीवरः - किं भणामि! अनाघ्रातं पुष्पमिव, अलून किसलयमिव, अनाविद्धं रत्नमिव अनास्वादितं मधु इव, पुण्यानां फलमिव विद्येत मदीया शकुन्तला।

श्यालः - (सहसा निवार्य) - किं-कि- कथितम्। का विद्यसे ?

धीवरः - शकुन्तला। ममशकुन्तला। एतदेव नाम तस्याः।

श्यालः - (सकोपम्) अरे पाटच्चर ! नीच ! धीवराधम !"[23]

राजा के सेनिकों द्वारा धीवर के आर्थिक व मानसिक शोषण किए जाने के पश्चात् उसकी त्रस्त मनोदशा का वर्णन धीवर की प्रेमिका शकुन्तला के निम्न संवाद में वर्णित हैं-

धीवरः - (मुखमुन्नीय) शकुन्तले त्वम् ?

शकुन्तलाः - अहं स्वपितुर्गहं विहाय ग्रामात् पलायनं विधाय तव पृष्ठतः समागता। पिता श्वः मे परिणयो ग्राममुख्येन भवितेति निश्चिकाय। (विलोक्य)- केन ताडितोऽसि त्वं प्रिय! एतद् रूधिरं प्रवहति- (स्वांचलेन प्रोछति)

धीवरः - हस्तिनापुरे तत् अङ्गुलीयकं विक्रीय महद्धनं प्राप्य तव पित्रे तत् समप्र्य त्वां प्राप्स्यामीति मनोरथेन अहमत्र समायताः। अत्र तु विद्यते महांस्त्रासः पदे आक्रम्येत मादृशो दीनो जनः।"[24]

कवि की दलित संवेदना का प्रमाण उन्होंने 'तण्डुल प्रस्थीयम्' की रचना करके दिया है। नायक के लिये "अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्"[25] वाली परम्परा का त्याग कर दलित व एक शोषित युवक को अपने रूपक का नायक स्वीकार किया है। जो न केवल एक नायक है, अपितु समाज के ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे समाज आज भी मुख्यधारा से नहीं जोड़ पाता है। नाटक के माध्यम से कवि ने प्राकृतिक, सामाजिक व दलित समस्याओं के परिवेश को दृष्टिगोचर करते हुए अन्तः करण को झकझोर दिया है।

'तण्डुलप्रस्थीयम्' के नायक 'निरंजन' के गाँव में अशिक्षा के कारण अस्पृश्यता जैसी कुरीतियाँ व्याप्त हैं। मूलभूत सुविधाएँ कुछ धनाड्य व उच्च वर्ग के लोगों तक सीमित हैं। अस्पृश्यता के नाम पर एक समूह समाज की मुख्यधारा से वंचित और उपेक्षित हैं। दलितों की इन्हीं समस्याओं की और ध्यानाकर्षित करते हुए आचार्य त्रिपाठी जी बताते हैं कि एक अस्पृश्य(दलित) व्यक्ति को गाँव के मुखिया द्वारा कुएँ से पानी तक नहीं लेने दिया जाता हैं। कोई चोरी छुपे पानी लेनें चला भी जाए तो पकड़ा जानें पर उसे कठोरतम सजा दी जाती हैं। ताकि कोई ओर उनके उपयोग के जल संसाधनों, कुआँ, तालाब आदि का जल उपयोग में लेने की हिम्मत न करें।

"शारदा- अम्ब, यदि नानुचितं मन्यसे, तर्हि कथयतु भवती कथमार्येण वियोगो जाता, क्वार्यो गत आसीत कथमिह प्राप्तः-

धारिणी- पुत्री, किं कथयामि? महती विषादगाथा वर्तते। अष्टादश वर्षाः अतीताः। तस्मिन् दिने मम पुत्रो जनिं लब्धवान्। एते मम मन्दभागिन्याः कृते जलमानेतुं गताः। ततः परं न जानामि एतेषां प्रवृतिम्। भवतीनां प्रसादाददृयैवेनान् प्रेक्षे। मम स पुत्रः यथा तथा शैशवमतिक्रामति तथा तथाऽधिकतरं जिज्ञासते कुत्र में पिता मे पितेति। एकदा मया स भूतार्थ निवेदितः पितर- मन्विष्यानेष्यामि, जलमिहानेष्यामि विद्यां चाभ्यस्य परावर्तिष्य इति प्रतिज्ञाय विहाय ग्राममिमं

गतवान्। ततः प्रभृति न तस्य कापि प्रवृत्तिः। अथाद्य इमे मिलिताः।एते एव जानन्ति कुत्रेमे आलन्नेतावता कालेन।

व्योमकेश: - किं कथयामि ? पत्नीयं मम् यस्मिन दिने पुत्रं प्रासूत तस्मिन् दिनं गृहे जलं नाभूत्। पिपासितायामस्यां जलमादातुमहं गतवान्। शुष्क आसीत् कूपः पच्चक्रोशमासीन्नदी। अहं नदीं यावद् गतः। परन्तु नासीन्नद्यामपि जलं अतोहमं परवृत्यं ग्रामधिपस्य सौधं गतः। तत्र वर्तते कूपः। तस्माद् यावद् जलं निस्सारयितुं यते तावच्चोरोड़ यामिति साभियोगं धृतो ग्रामाधिपेन। तत्रैव स्वभवनें बन्दीकृतोऽहंतेन । अनन्तरं राजसभायां मां नीत्वा स्वर्णकङ्कणमनेन मम चोरितामिति मिथ्याभियोगं दत्वा कारगारे मानसो न्यक्षिपत्। कवि वर्षास्तत्र व्यतीता इति न जानामि। दैवात् तत्र राज्ये राज्यदारिकाया विवाहोऽभूत्। तस्मिन्नवसरे मोचिता मादृशाः बन्दिनः कारागारात्। अहमपि कारागारान्निस्सारितः, परन्त्वेतावता कालेनाहं विक्षिप्तं इव सज्जाताः, न वेद्मि क्व गन्तव्य, किं वा मुक्तेन मया करणीयम् ।"[26]

इतना ही नहीं 'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाटक के द्वारा लेखक ने दलित जीवन व उसके जीवनोत्कर्ष में आने वाले व्यवधान को भी गुरूकुल की व्यवस्थाओं के माध्यम से इंगित किया हैं, तीक्ष्ण बुद्धि होने पर भी नाटक के नायक निंरजन को कक्षा के अन्दर बैठकर अध्ययन नहीं करनें दिया जाता हैं।, यद्यपि वह बाहर बैठकर ही अन्य शिष्यों से अधिक जान लेता हैं, किन्तु लिपि का अभाव उसकी शिक्षा की महत्ता को संस्कारित नहीं कर पाता है। न केवल गुरू पंचानन अपितु उनके शिष्यों का भी वो मात्र सेवक बन कर रह जाता हैं। यहाँ गुरू पंचानन द्वारा चाटूकारी शिष्यों की बातों में आकर निरंजन को पैदल हिमालय पर स्थित जोशी मठ भेजकर उसके जीवन को समाप्त करनें का षडयंत्र भी किया जाता है।

यह घटना क्रम यही प्रदर्शित करता है, कि पंचानन जैसे महान विद्वान भी एक दलित छात्र को न तो समान रूप से शिक्षा दे पाते हैं और न ही उसके साथ न्याय कर पाते हैं तो सामान्य मनुष्य के द्वारा दलितों के साथ उचित व्यवहार की अपेक्षा कल्पनातीत ही लगती हैं। समाज में दुव्र्यवहार व उपेक्षा का शिकार उसे स्थान-स्थान पर होना पड़ता है। समाज के इसी दुव्र्यव्यहार के कारण

उसे अपनी माँ को अकेले छोड़ गाँव में नहर लाने के प्रण के साथ गाँव त्यागने के लिए विवश होना पड़ा।

वर्तमान समय में शिक्षा के क्षैत्र में जड़े जमा लेने वाली अनेक विडम्बनाओं की ओर भी वर्ग विशेष की समस्याओं के द्वारा ध्यानाकृष्ट किया हैं। शिक्षकवृन्द में समाविष्ट आलस्य, अंहकार, मिथ्या शब्द जाल, कामचोरी आदि के कारण चापलुसी करने वाले कृच्छ्रायण व चान्द्रायण जैसे छात्रों के कारण अनेक छात्रों का शोषण होता आ रहा है।

बाहरी आमंत्रण होने पर भी गुरू जी द्वारा आश्रम के सभी शिष्य गुरूजी के साथ जाते हैं, किन्तु निरंजन की उपेक्षा के साथ उसे अनदेखा कर आश्रम के कार्यों के लिए आश्रम में ही छोड़ दिया जाता है।

(ङ) राजनीतिक व्यवस्थाऐं -

राजनीति में आधुनिकीकरण एवं संशोधन की एक विशेष परम्परा का निर्वहण सदियों से होता आ रहा है। आधुनिकीकरण ही राजनीति को विकास की और अग्रसर करता है। स्वतंत्रता के पश्चात् लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह पक्ष और भी अधिक मजबूत होता गया। स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पूर्णरूप से परम्पराश्रित थी अर्थात् कठोर कुरीतियाँ व अन्धविश्वास इसके प्रमुख अंग थे। यह शासन सत्ता किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा संचालित थी।

परम्परागत समाज के पिछड़ा होने के कारण राजनीति का आधार राजतंत्र था जिसमें रुढ़िवादिता, अंधविश्वास, जातिवाद, अशिक्षा आदि के स्वर विद्यमान थे।

राजतांत्रिक व्यवस्थाओं का समाज, संस्कृति व साहित्य से सीधा सम्बन्ध है। देश के सुचारु संचालन व देश-काल के अनुरुप शासन व्यवस्था की समाज में जनाकांक्षा को राजतांत्रिक व्यवस्थाऐं तय करती है। समाज की सहभागिता व स्वीकृति के अभाव में कोई भी राज व्यवस्था प्रभावशाली बन कर अपने निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकती है। अतः राज व्यवस्थाओं का सुचारु और व्यवस्थित होना आवश्यक है। समाज के क्रिया-कलापों का प्रतिबिम्ब साहित्य में दिखाई देता है, यही कारण है, कि साहित्य से राजतांत्रिक व्यवस्थाओं का आंकलन

किया जा सकता है तथा यह समकालीन समाज की राजतंत्रात्मक व्यवस्थाओं को प्रभावित भी करता है।

राजतंत्रात्मक व्यवस्था से तात्पर्य राज्य या शासन और समाज की अपेक्षानुसार गौरवपूर्ण व्यवहार अधिकार एवं कत्र्तव्य सम्पन्न जीवन की प्राप्ति करने से है। राजतंत्रात्मक व्यवस्था के अभाव में अव्यवस्थित राजनीति में पीड़ादायी अनुभव होना स्वभाविक है। प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था के बारे में महाभारत में कहा गया है-

"न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्डयो न दण्डिकः।
धर्मणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।[27]

किन्तु समयानुसार शासन को अधिक मजबूत व उपयोगी बनाने के लिए व्यवस्थित राजव्यवस्था की आवश्यकता होने लगी। समाज में कुछ नियम निर्धारित किए गये जिनका मूल आधार धार्मिक मान्यताऐं थी।

इन "धर्मानुमोदित राज्य व्यवस्था में राजतन्त्र और जनतंत्र दोनों का समन्वय है। तब भी धर्म नियन्त्रित व्यक्ति एक दूसरे के पोषक होते हैं शोषक नहीं।"[28]

धीरे-धीरे इस क्रम में वंशकेन्द्रित राज व्यवस्था का विकास हुआ राजा की नियुक्ति, वंशानुगत होने लगी। आदर्श लोकारंजन के लिए संकल्पित राजा आदर्श राजा की भूमिका को व्यक्त करता है। उत्तररामचरितम् महाकाव्य में राम के राज्याभिषेक के समय यहीं संकल्प लेते हैं -

"स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतोनास्ति में व्यथा।"[29]

राजनीति की समग्र परम्परा दृष्टिगत रखते हुए सारांशतः कहा जा सकता है, कि विस्तृत राजनैतिक परम्पराओं में बहुत बार भारतीय समाज को गुलाम व आजाद होना पड़ा है। अंग्रेजों की गुलाबी और भारतीय राजतंत्रात्मक व्यवस्थाओं ने आम जनता की आकांक्षाओं को कई प्रकार से धाराशायी किया है। बेबस और परेशान आदमी को आत्म हत्या करने, भूख के लिए हड़पने, शिक्षा स्वास्थ्य जैसी सामान्य आवश्यकता के साथ ही मूलभूत आवश्यकताओं से भी वंचित होने के

लिए अभिशप्त होना पड़ता है। परिणाम स्वरूप समाज में स्नेह, सद्भाव सरोकार आदि का अभाव देखा जाने लगा है।

राजतंत्रात्मक व्यवस्थाओं की वृष्टि से कविवर ने 'प्रेमपीयूषम्' नाटक के अन्तर्गत राजाओं के आपसी कलह, युद्ध, चाटुकारिता, बुद्धि चातुर्य, सन्धि प्रस्ताव तथा विवाह के माध्यम से स्वार्थ सिद्धि की प्रवृत्ति के संकेत मिलते है। पराजित राजा द्वारा अपनी कन्या को उसकी इच्छा के विपरित शत्रु राजा को उपहार स्वरूप देकर सम्बन्धों को मधुर बनाना राजतन्त्र की विसंगतियों को उजागर करता है। लालितादित्य द्वारा यशोवर्मा की पुत्री से विवाह हेतु आक्रमण करना तथा ललितादित्य को यशोवर्मा द्वारा अपनी पुत्री शशिप्रभा को देकर अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न राजतन्त्र में स्त्री की अस्मितता पर प्रश्न खड़ा करता है।

राजतांत्रिक व्यवस्थाओं में चाटुकारिता करने वालों को सदैव संरक्षण मिलता रहा है। भवभूति जैसे विद्वान व सिद्ध कवि द्वारा राज्य सभा में काव्य प्रस्तुतीकरण के पश्चात् उससे राजा की प्रशंसा में श्लोक पढ़ने के लिए कहा जाता है किन्तु भवभूति द्वारा ऐसा नहीं किए जाने पर उसे निष्कासित कर दिया जाता है-

"राजा - साधु सुकवे! साधु ग्रथितम्। अपरं किमपि काव्यं न प्रस्तूयताम्।

वाक्पति - कविवर, एष महाराजः साक्षाद् देवाधिदेव इव विराजते भवत्समक्षम्। तदस्य प्रशस्तौ पठ्यतां किंचित् पद्यम्।

भवभूति - भोः नाहं प्राकृतनरं स्तौमि।

वस्तु- (उत्थाय) - महाराज, भृशमुद्दण्डोऽयं कविः। नायं राजसभायां प्रवेशमर्हति।

राजा - (क्रोधं निगीर्य) - भवतु, क्षम्यत एव धृष्ट इदानीम्।

भोः, न भवताऽतोऽग्रे मद्दृष्टिपथागन्तव्यम् ।

(भवभूतिः क्रोधं नाटयति)

राजा- वरं विसृज्यतामियं सभा। (कंचुकीं प्रति) बाभ्रत्य! विश्रान्तुमिदानीमिच्छामि। तदादेशयान्तः पुरमार्गम्।"[30]

इसी प्रकार 'धीवरशाकुन्तलम्'' प्रेक्षणक में भी कविवर द्वारा राजतंत्र में भ्रष्टाचार के तत्कालीन दृश्य को दिखाया गया है। राजा के सिपाही धीवर को पुरूस्कार में प्राप्त धन को हड़पने के लिए उससे मारपीट करते हैं व अपने इस

कुकृत्य को राजतंत्र में सही बताने का प्रयास करते हैं- ''राज पुरूषाणां कृते सर्वस्मिन् धने भागांशो भवत्येव।"[31]

इस प्रकार इस नाटक में राजसेवकों के अपचरित्र का पूर्ण रूपेण यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है।

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने 'सुशीला' प्रेक्षणक में राजतंत्र में शासक वर्ग की वासना, कुलिप्सा व कामुकता का वर्णन यथार्थता से किया है। इसका जीता जागता उदाहरण राजा सबलसिंह है, जो कि न केवल पाखण्डी अपितु झूठा व मिथ्यावादी राजा है। जंगल में सुशीला के पुत्र को खोजनें में मदद के झूठे आश्वासन देकर वह सुशीला को अपने चंगुल में फँसाकर उसे अपनी भोगेषणा का साधन बनाने का भरकस प्रयास करता है। किन्तु स्वयं को असफल देखते हुए वह कहता है- ''अस्मादृशां पापानां कारणादियं धरणी रसातलं गता स्यादिदानीं यावत।"[32]

नाटककार राजतांत्रिक व्यवस्थाओं राजाओं की प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए प्रकाश में लाते हैं, कि राजाओं की यह दुष्प्रवृत्ति और भी अधिक भयानक हो जाती है, जब राजतंत्र में भोग-काम को धर्म-अध्यात्म का रूप देकर वैध साबित करने का प्रयास किया जाता है। कृष्णपाल स्वयं अपनी कामुकता पर पर्दा डालते हुए ब्रह्मानन्द की अनुभूति में कामुकता को लपेटते हुए कहता है- ''आनन्द लब्धाऽस्मि। आनन्दाध्वैव इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्द प्रयान्ति, आनन्द संविशन्ति। चेति उपनिषदः कथयन्ति।"[33]

सुशीला उम्र का अन्तर बताकर कृष्णपाल की कामुकता को रोकने का प्रयत्न करती है कृष्णपाल उसे पुरूषार्थ चतुष्ट्य से जोड़ते हुए भोग को अपना अधिकार बताता है-

''नाहं कामये तरूणी। नाहं कामये बालाः। नायं विचारस्य कालः। अयमास्कमं व्यभिचारस्य कालः। विचारः वयं कुर्मो दिवसे, रात्रौ अन्यत् किमपि कुर्मों वयं राजानः। अस्माकं दिनचर्या निर्धारिता वर्तते। धर्मार्थकामा सममेव सेव्या।"[34]

नाटककार ने राजतन्त्र की विसंगतियों कुचेष्टाओं मिथ्या वादिता, स्वार्थान्धता आदि बुराईयों का अन्वेषण अपने नाटकों के माध्यम से कर सुधी

पाठकों को लोकतन्त्र व राजतन्त्र का विश्लेषण करने हेतु नवीन ऊर्जा का संचार किया है।

सन्दर्भ सूची

1. प्रेक्षणक सप्तकम्, सोमप्रभम्, पृ. 6
2. सुशीला, पृ. 5
3. प्रेक्षणक सप्तकम्, सोमप्रभम्, पृ. 10
4. सुशीला, पृ. 13
5. प्रेक्षणक सप्तकम्, प्रतीक्षा, पृ.66
6. सुशीला, पृ. 09

7. CONCISE OXFORD DICT. PG.-45

8. COLLINS GEM ENG. DIC (1995), HARPER COLLINS PUBLICATION OF INDIA, NEW DELHI, pg.114

9. गबा, O.P(2000) विवेकानन्द राजन विज्ञान कोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ. 77

10. एन्साइक्लोपीडिया आफ ला (2003), लक्ष्य प्रकाशन दिल्ली, पृ.66

11. IBID-pg. 272

12. प्रेक्षणक सप्तकम्, धीवर शकुन्तलम्, पृ. 31
13. प्रेक्षणक सप्तकम्-मुक्ति, पृ. 40
14. प्रेक्षणक सप्तकम्-मशकधानी, पृ. 51
15. वही, गणेश पूजनम्, पृ. 43, 44
16. सुशीला, पृ. 8
17. धीवर शाकुन्तलम्, पृ. 28
18. प्रेक्षणक सप्तकम्, सोमप्रभम्, पृ.सं. 6,
19. वही, पृ. 8
20. मानक हिन्दी कोश, रामचन्द्र वर्मा, प्रयाग साहित्य सं. 1964, पृ. 35
21. आदित्येश्वर कौशिक, संस्कृत हिन्दी कोश, दिनमान प्रकाशन, 1986, पृ. 162
22. मानक हिन्दी कोश, रामचन्द्र वर्मा, पृ. 35
23. प्रेक्षणक सप्तकम्, धीवरशाकुन्तलम्, पृ. 30
24. वही, पृ. 34
25. दशरूपक

26. तण्डुलप्रस्थीयम्, पृ. 101
27. महाभारत, शान्तिपर्व, 49/4
28. माक्र्सवाद और रामराज्य, स्वामी करपात्री जी गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ.सं. 57
29. उत्तरामचरितम्, भवभूति 1/12
30. प्रेमपीयूषम्, प्र.अं., पृ. 8
31. धीवरशाकुन्तलम्, प्रेक्षणक सप्तकम्, पृ.सं. 31
32. सुशीला, पृ.सं. 33
33. वही
34. सुशीला, पृ.सं. 29

सप्तम् अध्याय

कविवर डा.राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में स्त्री विमर्श

सप्तम् अध्याय

कविवर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में स्त्री विमर्श

किसी भी युग का देश की सामाजिक स्थिती व दृष्टिकोण का वास्तविक मूल्यांकन स्त्रियों के अध्ययन के अभाव में अपूर्ण ही रहता है। क्योंकि नारी के बिना संसार की कल्पना सारहीन है। विश्व की किसी भी संस्कृति की पोषिका स्त्री को माना गया है। भारतीय संस्कृति की पोषिका स्त्री ही है। भारतीय संस्कृति को विश्व की श्रेष्ठ संस्कृति माना जानें का प्रमुख कारण यही है, कि प्राचीन काल में भरतीय समाज में नारी को उच्चतम स्थान दिया गया। पौराणिक और प्रागैतिहासिक काल पर दृष्टिपात करते हुए विचार किया जाये तो सरस्वती, दुर्गा और लक्ष्मी से लेकर वैदिक कालीन घोषा,अपाला सावित्री जैसी महान स्त्रियाँ तथा उपनिषद् काल की मैत्रेयी जैसी विदुषी महिलाएँ, मध्य और आधुनिक काल में अहिल्या बाई, रजिया, लक्ष्मी बाई, चाँद बीबी जैसी महिला शासकों नें सम्पूर्ण नारी शक्ति को सुन्दर, सफल व बहुत ही सशक्त अभिव्यक्ति दी हैं।

किन्तु उत्थान और पतन प्रकृति शोधन के नियम है, मध्यकाल के आते-आते स्त्री की दशा व परिस्थितियों में परिवर्तन आने लगा। वह कमजोर एवं दयनीय हो गई। समाज में व्याप्त धार्मिक अन्धविश्वास व सामाजिक बुराईयों के आगे उसे घुटनें टेकनें के लिए मजबूर होना पड़ा। उसका स्वतन्त्र अस्तिव लगभग समाप्त सा हो गया। घर की चारदीवारी ही उसका संसार हो गया था।

19वीं शताब्दी का प्रारम्भ स्त्री के लिए एक नया सवेरा लेकर आया। राजाराम मोहनराय, महादेव रानोड, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द विद्यासागर जैसे समाज सुधारकों के अथक प्रयासों के परिणाम स्वरूप स्त्री जीवन में उजाले की किरण पुनः दिखाई देने लगी ।

'स्त्री' शब्द के लिए सर्वाधिक व्यवहार में लाया जाने वाला शब्द है 'महिला' अर्थात् महान, बहुत बड़ी ताकतवाली। संस्कृत के 'स्तृ' धातु से 'स्त्री' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है-विस्तार करना, फैलना। स्त्री के विषय में विनोबा जी ने कहा है- ''इतना उन्नत शब्द, दुनिया की जितनी भाषओं का ज्ञान मुझे है करीब बीस-पच्चीस भाषाओं का उनमें किसी में मिला नहीं। इधर अबला भी कहा उधर महिला

भी कहा। मैं पूरे हिन्दुस्तान में घूमा हूँ, पर मैने अबला- समिति कहीं देखी नहीं, महिला समिति देखी हैं। बहनों नें परीक्षा की है और महिला शब्द चुन लिया है। मतलब स्त्रियों ने तय किया कि हमारी महान शक्ति है, अल्प नहीं। 'महिला' शब्द ही बताता है कि स्त्री के बारे में भारत की क्या राय है और क्या अपेक्षा है।''[1]

(1) विमर्श का अर्थ है- ''बातचीत, विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा, तर्क आदि।''[2]

(2) अंग्रेजी में विमर्श के लिए **'Discourse'** शब्द मिलता है। **Dikscourse means writton or spoken communication of spoken communication or debate.**

अर्थात् यहाँ संवाद और सम्पर्क को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। प्रस्तुत शब्द अर्थविस्तार की दशा को प्राप्त होकर संवाद व संपर्क की अपेक्षा तर्कविस्तारित हो गया।

अतः 'स्त्री विमर्श' स्त्री के जीवन का विमर्श कहा जाता है। जहाँ पुरूष प्रधान समाज में उसके अधिकार व अस्तित्व का चिंतन खोजा जाता है। लिंग भेद व वर्चस्व से परे स्त्री को मानव व मानवीय दृष्टि से देखना ही वस्तुतः स्त्री विमर्श है। भारतीय समाज में व्याप्त लैंगिक विषमता के कारण उत्पन्न हुए स्त्री विमर्श का मूल तात्पर्य स्त्री को आदरांजली देना है। नारीवाद के रूप में उभरने वाली एक वृहद् संकल्पना स्त्री-विमर्श है।

साहित्य और विमर्श का अन्तः सम्बन्ध, सदियों से चला आ रहा है। बहुत बार विभिन्न पहलुओं पर बहस के दौरान कुछ ऐसे विचार उद्भूत हो जाते हैं, जो साहित्यकार को लिखनें के लिए उद्वेलित करते हैं। स्त्री के विषय में गंभीर और विषम परिस्थितियों में आज स्त्री-विमर्श की प्रांसगिता और भी अधिक विस्तार को प्राप्त हो गई है। स्त्री जीवन के विभिन्न पहलू सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक नैतिक आदि पर चिन्तन-विमर्श कर स्त्री विरोधी प्राचीन धारणाओं को समाप्त किया जा सकता है। नामवर सिंह के मत में 66 विमर्श का मतलब किसी एक वस्तु के बारे में लोगों के बातचीत करने के तरीके या सोचनें की पद्धति से है। ये तरीके मिलजुल कर लोगों की सामान्य धारणा को बनाते है।''[3]

स्त्री-विमर्श ने हजारों वर्षो से चले आ रहे पितृसत्तात्मक विमर्श, सिद्धान्तों, प्रतिमानों के समक्ष चुनौति खड़ी कर दी है क्योंकि इन सिद्धान्तों के निर्माता पुरूष ही थे वैदिक काल में स्त्री को पुरूष द्वारा रक्षति बताते हुए 'मनु' ने कहा था-

'पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने
पुत्रश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वतन्त्रामहिति।''[4]

आचार्य तुलसीदास जी ने भी रूचियों को पराधीन मानतें हुए उनके विषय में लिखा है-

"ढोल, गवाँर, शूद्र, पशु, नारी ।
सकल ताड़ना के अधिकारी ।।"[5]

वर्तमान समय में विमर्श जब स्त्री के साथ जुड़ता है, तो वह स्त्री पर स्त्री होनें के नाते होनें वाले कुठराघातों, दमन से मुक्ति तथा स्त्री की मनुष्य के रूप में पहचान बनानें के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। स्त्री-विमर्श स्त्री के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। स्त्री- विमर्श स्त्री के नैतिक उत्थान की नहीं अपितु समाज व सत्ता में उसके स्थान की भी अपेक्षा करता है। मृणाल पांडे के अनुसार'' अगर विचार करना है तो स्त्री के संदर्भ में नहीं, शक्ति के संदर्भ में भी विचार करना होगा। क्योंकि मूलतः जो पीड़ा है वह शक्ति के असंतुलित वितरण से उपजी विभिन्न प्रकार की विसंगतियों एवम् कष्टों को लेकर है।''[6] स्त्री विमर्श स्त्री को स्त्री के अधिकारों व दायित्वों का बोध कराता है। तथा उसे स्वयं के प्रति जाग्रति प्रदान करता है। "जब तक नारी केवल नारी है, व्यक्ति नहीं, तब तक वह पुरूष की दासता के लिए अभिशप्त है।''[7] स्त्री-मुक्ति और स्त्री अस्मिता के प्रत्युत्तर में ही स्त्री-विमर्श की आवश्यकता होती है। क्योंकि किसी भी समाज के सुसंस्कृत होनें की परिचायक नारी ही होती, किन्तु नारी के गौरवमयी स्थान की महत्ता कम होनें लगती है तो नारी से सदैव संघर्ष किया है। यद्यपि हमारी संस्कृति में नारी को छः गुणों से युक्त माना गया है

''कार्येषु मंत्री करणेषु दासी
भोज्येषु माता, शयनेषु रम्भा
धर्मानुकुला क्षमया धरित्री
भार्या चा षड्गुण्यवतीह च दुर्लभा।"[8]

यदि हम संस्कृत साहित्य पर दृष्टिपात करें तो नारी की व्याख्या समाजानुकूल तथा पुरूष की आवश्यकतानुसार की जाती रही है। प्राचीन समय में भी किसी न किसी रूप में स्त्री साहित्य का अंग बनी रही है। उसे हर समय आवश्यता के अनुकूल अलग-अलग रूप में स्वीकार किया गया है यद्यपि भारतीय मान्यताओं में उसे पुरुष की सहायिका माना गया है, किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में उसकी नकारात्मक अवधारणा को ही बल देकर अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न कि गई है-

"केनापि रामेण त्यक्ता केनापि नलेन निर्वासिता।

केनापि दुष्यन्तेन वंचिथा केनापि हरिशचन्द्रेण विसृष्टा।।"[9]

वहीं आदिगुरू शंकराचार्य जी ने तो स्त्री को नरक का द्वार तक कह दिया-

"द्वाररास्ति नरकस्य नारी"[10]

यही नहीं संस्कृत समाज में शताब्दियों की परम्परा रही है- शास्त्रार्थ, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो उसमें भी स्त्री पर बात नगण्य सी ही है, कहीं स्त्री की भूमिका है भी तो वह उपेक्षित ही है। कतिपय महाकवियों कालिदास, भवभूति व बाणभट्ट को छोड़ दे तो लगभग सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में पुरूषवादी दृष्टिकोण व पुरूष के वर्चस्व का ही आख्यान प्राप्त होता है। समस्त धर्मशास्त्र व स्मृतियाँ पुरूषों द्वारा रची गई हैं यही कारण रहा है कि स्त्री की भूमिका पर जितनी चर्चा हो सकती थी उतनी नहीं हुई है जितनी तात्कालीन स्त्री प्रधान समाज में कि जा सकती थी। उदाहरण स्वरूप् देवऋण, पितृऋण और ऋषि ऋण के साथ मातृ ऋण भी हो सकता था क्योंकि सृष्टि की प्राणभूता तो सृष्टि के प्रारम्भ से स्त्री ही तो है, किन्तु पुरूष ने स्त्री को जिस रूप में देखा उसकी उसी रूप में व्याख्या कि है।

डा. शीला रजवार के अनुसार- "नारी के सम्बन्ध में जितनी भ्रांतियाँ मिलती है, उतनी कदाचित ही किसी अन्य विषय पर मिलती होगी"।[11]

धर्मपाल के अनुसार- "देव, ऋषि, मुनि, अवतार अथवा पुरूष सभी ने नारी की भत्-र्सना की, उसमें अवगुणे देखे और स्वयं को सर्वश्रेष्ठ जतानें की गाथाएँ लिखी और कही। यही पक्षपात पूर्ण विचार धारा नारी को पद-दलित करने में सफल हुई और नारी आज भी इसी का शिकार है।"[12]

स्त्री की स्वतंत्रता वैदिक काल तक सीमित रही है उस समय की स्त्री शिक्षित थी तथा समाज में उसका भी स्थान गौरवपूर्ण था, किन्तु उत्तर वैदिक काल में उसकी अवनति का युग प्रारम्भ हो गया। वह पुरूष के अधीन होकर घर तक सीमित हो गई। तत्पश्चात् उपनिषद् तथा सूत्रकाल तक की यात्रा में स्त्री की स्थिति निरन्तर पतन को प्राप्त होती रही, यद्यपि जैन और बौद्धकाल में उसकी स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ, किन्तु मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमणों से भयभीत स्त्री चारदीवारी में कैद हो गई।

माना जाता है कि स्त्री विमर्श पर चर्चा का स्वरूप तब तैयार हुआ जब 1956 में ''संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अंतराष्ट्रीय महिला वर्ष मनाया गया। इस महत्वपूर्ण वर्ष के पश्चात् स्त्री- विमर्श से सम्बन्धित बहुत से पहलू दृष्टिगोचर होनें लगे। इस संदर्भ में कहा गया है कि -'' स्त्रीवाद विमर्श न मजाक है, न अपवाद। वह इस समय हमारे देश काल और पूरी दुनिया से जुड़ा है।वह हमारे समय की जरूरत है। वह समग्र और सांस्कृतिक विमर्श है।"[13]

आधुनिक युग की स्त्री में पुन: एक नवीन चेतना का संचार हुआ है। विकास के क्षेत्र में स्त्री विमर्श नवीन मोड़ ले रहा है।

''आज सारी दुनिया में स्त्री की पहचान की जद्दो-जहद ध्रुवीकरण की शक्ल ग्रहण कर चुकी है। स्त्री की अस्मिता को केन्द्र में लाने का श्रेय महिला-आंदोलन और दृश्य, माध्यमों को जाता है। महिला-आंदोलनों और संघर्षो का ही नतीजा है कि स्त्रियाँ आज गर्व के साथ अपने हक की लड़ाई लड़ रही है। एक जमाना था जब स्त्रियाँ चुप थी। आज स्त्री ने चुप्पी तोड़ने का बीडा उठा लिया है, बल्कि यों कहे कि स्त्रियों को चुप रखने वालों की विदाई की वेला आ गई है, स्त्री-अस्मिता के संघर्ष को प्रभावी बनाने के लिए जरूरी है कि स्त्रियाँ बोले, लिखे और एक मनुष्य और स्त्री के रूप में अपनी स्थिति को उसे बदले और नए विकल्पों का निर्माण करे।''[14]

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों का स्त्री सम्बन्धी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करें तो नारी के बिना सम्पूर्ण विश्व ही सारहीन दिखाई देता है। कविवर ने स्त्री विमर्श के माध्यम से नारी के संघर्ष को उजागर किया है जहां विश्व की किसी भी संस्कृति के विकास का मापदण्ड स्त्री को माना जा सकता है। आचार्य जी ने इन नाटकों में दिखाया है, कि स्त्री में देवी की शक्ति, ऋषियों का धैर्य और

ज्ञान है। वह चारों दिशाओं को आलोकित करने वाली है, किन्तु दीपक तले अँधेरा न हो जाये इसलिए कविवर ने नाटकों के माध्यम से स्त्री वर्ग को सचेत करने का भी स्तुत्य प्रयास किया है। उसे अभिमानी के स्थान पर स्वाभीमानी बनाना आचार्य जी का उद्देश्य रहा है। ताकि वह अंधविश्वासों और रूढ़ियों को तोड़ने का साहस करे। उन्होंने स्त्री के सभी रूपों में उसके स्वाभिमान, धैर्य, साहस, कर्तव्यनिष्ठा, चारित्रिक, बल विपत्ति को भाँप लेने की दूरदर्शिता की शक्ति का यत्र-तत्र वर्णन बहुत ही सहज अभिव्यक्ति के रूप में किया है। आचार्य जी ने अपने वृहत् साहित्य सृजन में नाटकों के माध्यम से नारी शक्ति का समर्थन मनु के इस वाक्य "यत्र नार्यस्तु पूज्यते, रमन्ते तत्र देवताः"[15] के साथ किया है। उन्होंने तत्कालीन समाज में स्त्री की उच्च स्थिति का भी समर्थन किया है।

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में स्त्री माता, पुत्री, बहन, पत्नी साम्राज्ञी, प्रत्येक रूप में अपनी सशक्त विचारधारा से विकासशील व शिक्षित समाज को गति प्रदान करते हुए अपने सशक्त व्यक्तित्व का परिचय देती है। सुशीला नाटक की नांदी ही कवि ने ऐसे शब्दों से गुम्फित की है, जिसमें चहुँदिशि स्त्री विर्मश का स्वरूप परिलक्षित होता है। स्त्री के अन्तर्बाह्य स्वरूप को दर्शाने में यह अत्यधिक सफल लगती है।

"दुःखं येन सुखेन सारसहजं सम्मिश्रण सङ्गुम्फितम्,
आकाशः पवनस्तया च धरणी सम्मेलिता चाश्रुभिः।
क्रोधाग्नौ च सुपाच्य तद्धि सकलं यो लीलया निर्ममे
नारीं कामपि तामपूर्वरचनां तस्मै नमो वेधसे।।[16]

इस पूरे प्रेक्षणक की कथावस्तु में स्त्री-विमर्श के ही स्वर दिखाई देते हैं। स्त्री को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य की मुख्य धारा में लाने के अथक प्रयास किए जाते हैं, किन्तु आज भी पुरूष प्रधान समाज में वह भोग्या की दृष्टि से ही देखी जाती रही है।

आचार्य जी ने अपने नाट्यसाहित्य में स्त्री के कोमल रूप का वर्णन तो किया ही है किन्तु इनके नाट्यों की स्त्री विचारशीला, तर्क-वितर्क के साथ निर्णय करने वाली तर्क के साथ स्वयं के जीवन का परीक्षण कर समाज से बातचीत करने वाली है। यद्यपि वह संघर्षशीला अवश्य है किन्तु वह स्वयं को सिद्ध करने

में भी कोई कसर नहीं छोड़ती हैं। जीवन में पग-पग पर आने वाली समस्याओं का न केवल वह डट कर सामना करती है, अपितु वह विमर्श करती हुयी दिखाई देती है। जिसे विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है-

वैदिक युग से लेकर अद्यतन शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य रहा है, ज्ञान का प्रकाश जो जीवन पथ के प्रत्येक रास्ते का प्रकाशित कर सके। वैदिक शिक्षा का उद्देश्य मनुष्यता के पूर्ण विकास से था। फिर चाहे अध्येता पुरूष हो या स्त्री।

वैदिक युग में शिक्षा की एक ऐसी विशिष्ट प्रणाली का निर्माण किया गया जो किसी भी सामाजिक परिवर्तन से प्रभावित नहीं हुई। आज हजारों वर्षों के उपरान्त भी शिक्षा की ज्योति हमारे देश में सतत् प्रज्जवलित हो रही है। इस शिक्षा की प्रमुख विशेषता थी कि स्त्रियों को भी पुरूष के समान शिक्षा ग्रहण करने का पूर्ण अधिकार था। वैदिक काल स्त्री शिक्षा का स्वर्ण काल रहा है। तब नारी शिक्षा चरमोत्कर्ष पर थी।

वेदों में नारी को ब्रह्मा भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य है, कि वह स्वयं विदुषी है और अपनी सन्तान को भी सुशिक्षित बनाने के लिए प्रयासरता है। ब्रह्मा को ज्ञान का अधिष्ठाता माना जाता है। उसे ही ज्ञान-विज्ञान में श्रेष्ठता प्राप्त है। इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान में निपुणता प्राप्त कर लेने के कारण स्त्री को ब्रह्मा कहा गया है- ''स्त्री हि ब्रह्मा बभूविध।''[17]

''स्त्री को सरस्वती का रूप मानते हुए उसे विराट् अर्थात् विशेष तेजोमयी भी कहा गया है। वह अपने ज्ञान से प्रतिष्ठित हो और विष्णु की तरह आदर प्राप्त करें।[18]

समय के साथ स्त्री का महत्त्व कम होने लगा। परिणाम स्वरूप ईसा पूर्व 200 वर्ष के लगभग स्त्री के लिए शिक्षा का अधिकार भी कम होता गया।

यद्यपि अति प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक स्त्री शिक्षा अबाध गति से चल रही है। बालकों के समान बालिकाओं का भी उपनयन संस्कार करवाया जाता था। स्त्रीयों को साहित्य, नृत्य, संगीत, वाद-विवाद, काव्य, रचना, दर्शन आदि विषयों की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था होती थी।

वैदिक काल स्त्रियों के लिए स्वर्णिम काल था। तब शिक्षा व समाज दोनों ही स्थान में नारी की स्थिति सम्मान जनक थी। उस समय सिद्ध पुरूष व ऋषियों ने तत्कालीन स्त्रीयों में आश्चर्य जनक दैवीय शक्तियों का प्रतीक मानकर उनमें

देवत्व की स्थापना की। वास्तविक रूप में देखा जाए तो नारी पुरूष की। प्रेरणा रही है। वह पुरूष को भौतिक एवं जगत में सर्वतोन्मुखी सृजन हेतु प्रेरित करती है।

नारी वस्तुतः स्नेह, प्रेम और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था कि "नारी को अबला कहना उसका अपमान करना है।

आज के शैक्षणिक वातावरण में स्त्री को समान अधिकार तो प्राप्त हो गये किन्तु विभिन्न क्षेत्रों में बहुधा उसे पीछे हटना पड़ता है। वर्तमान की तुलना वैदिककालीन समानाधिकार से की जाए तो निःसंदेह वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति पुरूषों की अपेक्षा अधिक सम्मान जनक थी। किन्तु समय के सापेक्ष स्थितियाँ बदलती गई। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा ही एक मात्र सशक्त साधन है, जो अंधकार की और से हमें प्रकाश की और ले जा सकता है। समूची मानव जाति की प्रगति शिक्षा के मूलमंत्र पर ही निर्भर है। कहावत भी है -"यदि आप एकवर्षीय योजना बना रहें तो ध्यान लगाइये और पांच वर्ष की योजना निर्मित की है, तो पेड़ लगाइये किन्तु यदि भविष्य की सुदृढ़ योजना बना रहे हैं तो बच्चों को शिक्षित बनाइए।"

परिवार में बच्चों को शिक्षित करने के लिए उनके आप-पास के परिवेश को सुशिक्षित करना अत्यावश्यक है, क्योंकि बच्चा अपने जीवन की शुरूआत यहीं से करता है। इसी कारण माँ का शिक्षित होना बहुत आवश्यक है। एक सुशिक्षित स्त्री सम्पूर्ण परिवार को शिक्षित कर सकती है। यही कारण है कि नारी शिक्षा की आवश्कता एवं महत्व स्वयं अपनी प्रासंगिता सिद्ध करते हैं।

एक बालक की शिक्षा से एक बालिका की शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। पं. जवाहरलाल नेहरू का कथन है कि- "एक बालक की शिक्षा का अर्थ एक व्यक्ति की शिक्षा है, किन्तु एक बालिका की शिक्षा का अर्थ पूरे परिवार की शिक्षा होती है।"

(क) नारी शिक्षा

वर्तमान समय प्रतिस्पर्धा का युग है। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ होने वाली नारी शिक्षा की मुहिम के परिणाम स्वरूप सामाजिक जीवन मूल्यों में बहुधा सुधार हुआ है। नारी अकुशल क्षेत्र में कार्य करके मेहनत मजदूरी

के द्वारा अपने परिवार का सहयोग सदियों से करती रही है। किन्तु प्रतिस्पर्धा के इस युग में नारी ने प्रत्येक क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दी है।

न केवल पारिवारिक दायित्वों अपितु सामाजिक विकास के कुशल संचालन हेतु शिक्षित नारी की महती आवश्यकता है। बालक की प्रथम शिक्षा का प्रारम्भ उसकी माँ की गोद में होता है। जिसका प्रमाण वीर माता जीजा बाई ने प्रस्तुत किया है, उनकी ही शिक्षा के कारण परमवीर शिवाजी इतिहास में अमरता को प्राप्त हुए। एक सुशिक्षित माँ अपने बच्चे में अन्तर्निहित शक्तियों को पहचान कर उसे सही दिशा दे सकती है। अतः स्त्री की शिक्षा से विहिन सुविकसित एवं सशक्त राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती है।

"मुझे साठ अच्छी माताएं दो में तुम्हें एक अच्छा राष्ट्र दूंगा" रूसी लेखक की यह कहावत निश्चय ही स्त्री शिक्षा के उच्च आदर्शों को प्रदर्शित करती है। यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा की स्त्री चाहे तो सृष्टि की काया पलट सकती है। आज स्त्री को न तो मध्यकाल की रमणीयों की तरह पर्दे में बन्द करके रखा जा सकता है और न ही बंद किये जाने की आवश्यकता है। कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने नाटकों के स्त्री पात्रों की यही विशेषता उन्हें अन्य नाटकों से इतर बनाती है, कि उनके नाटकों में स्त्री पात्र भी शिक्षित व सजग है, जो समाज में परिवर्तन लाने का हौंसला रखती है।

'सोमप्रभम्' रूपक में नारी के निर्यातनात्मक सामाजिक दुखावस्था का चित्रण है। प्रेक्षणक की प्रमुख पात्र विमला को ईक्कीसवीं सदी में उच्च शिक्षित होने पर भी नारी होने का अभिशाप झेलना पड़ता है किन्तु संघर्षशील होते हुए भी उसे सहनशीला दिखाया गया है। वह शिक्षित होने के कारण चुप रहती है। अपनी पुत्री को वह सही गलत की पहचान करना सीखाकर अपनी शिक्षा की प्रासंगिता सिद्ध कर देती है। अन्ततः एक शिक्षित माँ की पुत्री होने का परिचय वह छोटी उम्र में ही सजग नागरिक के रूप में देती है और घर में अपनी माँ पर हो रहे अत्याचार को देखकर चुपचाप पुलिस को बुलाकर ले आती है। अन्ततः अपनी शिक्षा और सूझबूझ के कारण उसकी माँ सुशीला की जान बचा लेती है।

'प्रतीक्षा' नाटक की प्रमुख पात्र कल्पना को भी कवि ने उच्च शिक्षित स्त्री के रूप में प्रस्तुत किया है। शिक्षित होने के कारण वह परिवार की आर्थिक हालत को संभालने में मदद कर पाती है। साथ ही उसकी छोटी बहन का अध्ययनरता

होना स्त्री शिक्षा की और संकेत करता है तथा आचार्य जी को स्त्री शिक्षा का पोषक व समर्थक रूप में स्थापित करता है।

'प्रेमपीयूषम्' के द्वितीय अंक में जब शशिप्रभा मनोविनोदनार्थ महल से बाहर जाने की इच्छा प्रकट करती है तो उसकी सखी प्रियंवदा शशि प्रभा द्वारा गृहीत शिक्षाओं का स्मरण उसे करवाती है -

"शशिप्रभा- सखि, अन्तः पुरस्यावरोधे वत्र्तमाना कदाचिदेवमुद्विग्ना भवामि। कीदृशमिदं जीवितम् ? सततमहमुत्तङ्गप्रासादेषु बन्दिनीव वसामि। कदाचिद् बहिर्गमनमपि सम्भवति तर्हि तदपि सुवर्णै सुखगृथितप्रतिसीरिकाभिरवरूद्धायां शिविकायामेव। अहं तून्मुक्तसमिरणे प्रणितुमिच्छामि-इच्छामि च प्रसादेभ्यों बहिवत्र्तमानं जगदवलोकयितुम्।

प्रियंवदा - भत्रि! अन्तः पुरेऽयं बहवः सन्ति मनोविनिपुणा काव्यकलामर्मज्ञा च। अन्याश्च बहवो भवत्यो दास्यो विद्यन्ते मनोविनोदाय तासु तासु कलासु निपुणाः अपरं चात्र क्वचिच्छुकसारिकाभिः सलापः क्वचित् कन्दुकक्रीड़ा....।"[19]

शशिप्रभा के साथ-साथ उसकी परिचारिकाओं का भी कला नीति-निपुण होना स्त्रीयों के उच्च शैक्षणिक स्तर को दर्शाता है। बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन देना नाटककार का लक्ष्य रहा है। स्त्री-पुरूष को एक दूसरे के पूरक कहा गया है। पुरूष के जीवन का अभिन्न अंग है स्त्री, अतः खुशहाल व आदर्श दाम्पत्य के लिए स्त्री-पुरूष दोनों का शिक्षा पर समान अधिकार है। 'प्रेमीपीयूषम्' के द्वितीय अंक में भवभूति कहते हैं-

"नारी नार्म नरस्य शैवधि रहे। देदृ यथा जीवनं।।"[20]

(ख) नारी स्वातंत्र्य -

भारतीय संस्कृति से विमुक्त समाज में स्वतंत्र अस्तित्व का कोई स्थान नहीं है। सम्बन्धों के जाल में व्यक्ति अपनी पहचान तक विस्मृत कर देता है। हमारे ईर्द-गिर्द के समाज में पारस्परिकता व पूरकता का विशेष महत्व है। 'स्व' का त्याग कर देना निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति का आधार हो सकता है। जिसे अधिकांशतः स्त्रीयों पर ही लागू किया जाता है। किन्तु डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने आज की नारी की स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, नारी मुक्ति की गूंज के

स्वरों को अन्तः तल की गहराई में महसूस किया है। नारी मुक्ति की गूंज उनके नाट्य सृजन में अधिक पल्लवित हुई है। नारी की इसी स्वतन्त्रता को लेकर अनेक संस्थाएं उठ खड़ी हुई है तथा नारी की आवाज का और भी बुलन्द कर रही है। किन्तु वास्तविक रूप से देखा जाए कि नारी स्वातंत्र्य क्या है, तो देखने में आता है भारत में आधुनिक युग के साथ ही नई चेतना, शिक्षा व पश्चिम के प्रभाव में परिणाम स्वरूप एक नवीन बौद्धिक वर्ग का जन्म हुआ। यह वर्ग मानवाधिकारों को अधिक महत्व देने लगा। इसी के फलस्वरूप स्त्री के प्रति नयी चेतना व नयी प्रेरणा का सूत्रपात हुआ। नारी स्वातंत्र्य की जिस भावना का सूत्रपात आजादी से पूर्व में हो चुका था यद्यपि वह आन्दोलन नहीं बन सका किन्तु स्त्री को स्वतन्त्र रूप से सोचने विचारनें की शक्ति अवश्य दे गया। महात्मा गाँधी ने एक बार कहा था- **"हमारे समाज में स्त्रियों को गुलाम की तरह जीना पड़ता है और उन्हें यह भी पता नहीं चलता कि वे गुलामों का जीवन जी रही हैं। इस स्थिति से उन्हें मुक्ति मिलनी चाहिए।"**

हमारा भारतीय संविधान स्त्री को भी पुरूष के समकक्ष स्वतन्त्रता प्रदान करता है। देश की न्याय व्यवस्था भी स्त्री के पक्ष में है किन्तु फिर भी वास्तविकता इससे भिन्न है। सामाजिक स्तर पर स्त्रियों की स्वतन्त्रता की अवधारणा पर भौतिकवादी जीवन दृष्टि, उपभोक्तावादी संस्कृति और बढ़ती हिंसा ने प्रश्नचिन्ह लगा दिए हैं। समाज की विचारधारा में स्त्री आज भी जड़ है, उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती है। उसे दोयम दर्जे की नागरिकता दी जाती है। इसका निषेध करना ही नारी स्वतंत्रता का मूल है। विश्व यूरोप के नारीवाद से व्यापक प्रभावित हुआ है। "भारतीय और पाश्चात्य चिंतन में यह अन्तर है, जो पश्चिम में उसका स्वर उग्र प्रतिरोध का था, किन्तु भारत में वह जागरूकता के रूप में उभर कर आया। पश्चिम में यह समस्या व्यक्तिगत स्तर पर शारीरिक और मानसिक रूप से पुरूष निर्भरता से मुक्ति की समस्या है, जबकि भारत में यह समस्या सामाजिक संस्कारों और रूढ़ियों से उबरने की है।"[21]

स्त्री विमर्श में नारी की स्वतन्त्रता और अस्मिता दोनों के स्वर तो हैं ही साथ ही विरोध के आक्रामक तेवर भी है। पुरूष ही उसे दोयम दर्जे की और उपेक्षित बनाने वाला है। पुरूष एक ओर उसे देवी कहकर सम्मान करता है, वहीं दूसरी ओर उसका शोषण भी करता है "आखिर नारी अस्मिता क्या है ? वस्तुतः

यह पुरूष के समान स्त्री का समान अधिकार है, स्त्री के प्रति विवेकमूलक दृष्टिकोण है तथा स्त्री द्वारा पुरूष के वर्चस्व का प्रतिरोध है। नारी की अस्मिता का अर्थ है स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में बदलाव, जिसमें स्त्री का दृष्टिकोण भी शामिल है।"[22]

"यथार्थतः 'विमर्श' चिन्तन का एक रूप है, जिसमें गहनता से गुण दोषों की परख की जाती है। 'नारी विमर्श' की प्रेरणा का सूत्र स्त्री और पुरूष के भेदभाव में निहित है। प्रायः स्त्री को दोयम दर्जे की नागरिक माना जाता है, जबकि भारत में यह समस्या दोहरी हो जाती है। भारत में वैज्ञानिक दृष्टि से नारी पूज्य है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पूज्यभाव लुप्त है। पुरूष अपना, वर्चस्व स्थापित करने के लिए कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देता है।"[23]

नारीवादी स्वातन्त्र में स्वनिर्णय को प्राथमिकता दी जाती है। पुरूष का विरोध न होकर पुरूषवादी मानसिकता का विरोध नारी स्वातन्त्र्य को सफल बनाता है।" दोषी पुरूष नहीं, वह पितृ सत्तात्मक व्यवस्था है, जो जन्म से मृत्यु तक पुरूषों को एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर हैं।"[24]

स्त्री और पुरूष के बीच के अन्तर को प्रायः संस्कृत साहित्य में नकारा ही गया है। आधुनिक संस्कृत साहित्य में नारी का जो चित्रण हुआ है वह कहीं यथार्थ है, तो कहीं उपदेशात्मक। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटकों में स्त्री स्वतन्त्रता के लिए कहीं संघर्षरत, कहीं अस्तित्व की रक्षा हेतु प्रयासरत है। नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व को प्रतिष्ठित करने में नाटकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह की है। 'प्रेमपीयूषम्' नाटक में पुरूष प्रधान समाज में स्त्रियों की दुर्दशा की बानगी राजकुमारी शशिप्रभा की इस दशा से मिल जाती है-

"शशि. - सखि अन्तः पुरस्यावरोधे वर्तमाना कदाचिदेवमुद्विग्ना भवामि। कीदृशं जीवितम् ? सततमहमुत्तुङ्ग प्रासादेषु वन्दिनीव वसामि। कदाचिद्यदि बहिंर्गमनपि सम्भवति तर्हि तदपि सुवर्ण सूत्रगथित प्रतिसीरिकाभिरवरूद्धायां शिविकायामेव। अहं तु तून्मुक्त स्मीरणे प्रणितुमिच्छामि। इच्छामि च प्रासादेभ्यो बहिर्वर्तमानं जगदलोकयितुम्।"[25]

उन्मुक्त हवा में साँस लेना किसको मनभावन नहीं है ? किन्तु पुरूष प्रधान समाज द्वारा शशिप्रभा को वन्दिनी बना लेने वाली मनोवृत्ति स्त्री के नैसर्गिक अधिकार छीननें के लिए पर्याप्त जान पड़ती है। स्त्री चेतनता की उड़ान

को जकड़ लेने वाले पुरूषसत्तावादी समाज से इस नाटक के बहानें नाटककार ने स्त्री स्वतन्त्रता के लिए आह्वान किया है। इस आह्वान के नेतृत्व की डोर आचार्य जी ने ज्ञाननिधि भवभूति व शशि प्रभा के हाथों में थामी है। शशिप्रभा समाज व परिवार की समस्त पाबन्दियों का सामना करते हुए चुनौतीपूर्वक भवभूति से विवाह करती है। यद्यपि राजा उपहार रूप में शशिप्रभा को ललितादित्य को देकर अपना हारा हुआ राज्य प्राप्त करना चाहता है। परन्तु ज्ञाननिधि शशिप्रभा की चुनौती का समर्थन करते हुए राजा को समझाते हैं, कि बलपूर्वक स्त्री को परतन्त्र बना कर उसके सुख छीननें का अधिकार आपकों नहीं है- ''राजन् न खलु स्वार्थाय बालिकायाः सुखं बलीकर्तुम् युक्तम्। त्वं स्वयमेव प्रत्यक्षीकृत्य ज्ञानयसि कीदृशोऽभवत्या श्रीकण्ठे भाव बन्धः।"[26]

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने 'प्रतीक्षा' प्रेक्षक में नारीवाद के ऐसे अन्तःसंघर्ष को प्रस्तुत किया है जहाँ प्राचीनता व नवीन स्वातंत्र्य के मिश्रण से नवीन समस्याऐं जन्म लेती हैं। नाटककार ने समाज की उस मूल समस्या की ओर ध्यानाकर्षित किया है, कि भावेश जैसे पालकों की चिन्ताग्रस्त मनःस्थिति वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्वभाविक है, क्योंकि नारी स्वतंत्रता का दायरा सीमित करने में समाज का नैतिक पतन महत्वपूर्ण है। मनुष्य की मानसिक दुर्वासनाओं के कारण इतना पतनोन्मुख हो गया है कि मासूम बालिकाएँ भी समाज में असुरक्षित है। 'प्रतीक्षा' प्रेक्षणक में चित्रित यह दृश्य समाज के इसी स्वरूप को उजागर करता है-

''अष्टादशवर्षीयां तरूणीं ग्रामादागतां नगरे अन्तातः केचन तस्कराः बलादपनीतवन्तः, गान्धीनगरे विंशवर्ष देशीयों यौवनोन्मत्तः कश्चन् रामगोपालो नाम प्रतिवेशिनः कन्यां षड्वर्षदेशीयाम् (विरम्य) ओह! वृत्तपत्रेष्वेवमेव अनर्गलं वृत्तं प्रकाश्यते। अथवा कालं एव एतादृशः। घोरकालः।[27]

कल्पना वर्तमान समय में अपनी अस्मिता, स्वतन्त्रता व अस्तित्व के लिए संघर्षरत नारी की प्रतिनिधि पात्र है, जो समाज के समक्ष प्रश्न खड़ा करती है कि ''क्या स्त्री होना अभिशाप है ? किन्तु अन्त में पिता भावेश का यह उत्तर -

"अतिस्नेह पापशंकी इति न्यायेन यदन्यवा चिन्तितं तत्र त्वां प्रत्यविश्वासात, अपितु आत्मनोदौर्बल्यादेश तदलमन्यथा ग्रहीत्वा।"[28]

"सुशीला" प्रेक्षणक में सुशीला एक सामान्य स्त्री की आत्मवेदना को व्यक्त करती है" कि वह समाज में रिश्तों के कारण ही पहचानी जाती है जिसका स्वार्थ है वह उतना उसे पहचानता है, किन्तु स्वतन्त्र स्त्री के रूप में उसे पहचाना ही नहीं गया-"काऽहं ननु विस्मृतवती। काऽहमासम्! मया नैकानि रूपाणि विधृतानि। अहं जानामि, अहं राज्ञी जाता, अहम् सेविका जाता।"[29]

'सुशीला' नाटक का सम्पूर्ण कथानक सुशीला के रूप में आम स्त्री के ही इर्द-गिर्द घुमता रहता है। सम्पूर्ण कथानक में नारी जीवन में उत्पन्न होनें वाली त्रासदी का जिम्मेदार पुरूष को ही ठहराया गया है। नाटक के प्रारम्भ में पाँचों स्त्रियों के संवाद से पुरूषों की स्त्रियों के प्रति कलुषित मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं- "कश्चिद् गृहे कश्चन् पुरूषो ग्रहणाति तक्रं स तत्कालं मूल्यं ददाति। परन्तु तस्य दृष्टिः अहो बलवद विभेमि तस्याः।"[30]

कृष्णपाल सिंह को सुशीला वेश्या लगती है, किन्तु कामुकता के क्षणों में वही वेश्या उसे तेजस्विनी लगती है- "अहो, अहो! वीरांङ्गनानामपि तेजः नायी, तेजास्विता इदं ते रूपं दृष्ट्वा ज्ञातवानहं यत् त्वं काऽपि अन्यैव। अन्यादृशी ते मुखच्छाया...नारि त्वयि प्रीतोऽस्मि।" इन सभी सन्दर्भों में यही स्त्री-विमर्श दिखाई देता है, कि स्त्री का स्वतन्त्र रूप है ही नहीं वह पुरूष की वासनाओं की बन्दिनी है। पुरूष अपनी आवश्यकता व सुविधा से तय करता है, कि स्त्री का कब, कौनसा रूप स्वीकरणीय है। उसके चरित्र को पुरूष की दृष्टि तय करती है, स्त्री की स्वतन्त्रता के साथ यह छल सदियों से चलता आ रहा है।

किन्तु आचार्य त्रिपाठी जी की दृष्टि में न्याय स्त्री के पक्ष में है। कृष्णपाल सिंह स्त्री पुरूष के सहचर से हुए अपराध में पुरूष को भी समान रूप से बताते हैं - "इयं स्वार्थलिप्सा इयं क्रूरता, इयं च प्रवंचना पुरूषाणां संसारे वर्तते। नारी भवति ममतायाः मूर्ति।"[31]

(ग) नारी सशक्तिकरण

सशक्तिकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा स्व-जागरूकता, कार्यशीलता, सजगता, स्वतन्त्रता के साथ व्यक्ति स्वयं के विषय में निर्णय लेने में अपने आप

को समर्थ बनाता है। इस विचारधार के दृष्टिकोण से देखा जाए तो नारी सशक्तिकरण उसके सर्वांगीण विकास का बहुआयामी दृष्टिकोण है। किसी भी राष्ट्र के उत्थान-पतन में स्त्री की सक्रिय भागीदारी होती है, एक राष्ट्र का सम्पूर्ण विकास तभी सम्भव है जब वहाँ की महिलाओं को उचित सम्मान व यथोचित सशक्त बनाने में वहाँ के समाज की सक्रिय भागीदारी हो। सशक्तिकरण के तहत नारी अपने स्वावलम्बन, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक विभिन्न स्तरों के प्रति संघर्ष कर उचित पायदान प्राप्त करती है। क्योंकि निर्बल को सशक्त बना देना ही उसका सशक्तिकरण है। एक पूर्ण सशक्त उसे ही कहा जा सकता है जिस पर घरेलू या सामाजिक दबाव न हो। किन्तु इस स्थिती में स्त्रियों के विषय में सशक्तिकरण की भूमिका और भी प्रबल हो जाती है। महिला सशक्तिकरण का सामान्य सा अर्थ निकाले तो यही निकलता है, कि महिला को सर्वतोन्मुखी शक्ति सम्पन्न बनाना है। जिसकी शुरूआत विचारों से होती है, निर्णय लेने की क्षमता व स्वतन्त्रता इसका बड़ा मानक है।

भारतीय इतिहास पर इस परिप्रेक्ष्य में दृष्टि डाले तो ज्ञात होता है, कि प्राचीन काल में हमारे यहाँ स्त्री की सामाजिक स्थिति अत्यन्त उच्चावस्था में थी, किन्तु महाभारत काल के पश्चात् यह स्तर नीचे गिरने लगा और मनु काल तक आते-आते उसे असहाय व निर्बल मानकर अनदेखा किया जाने लगा। अनामिका ने स्त्री के वर्तमाना परिप्रेक्ष्य के विषय में लिखा है कि "आज भी स्थिति बदली नहीं है, पढ़ी-लिखी तेजस्विनी स्त्रियाँ बहुधा अकेली रह जाती हैं।[32] यह अकेलापन उन्हें आत्मसाक्षात्कार का अवसर देता है, जिससे वे पितृ सत्तात्मकता की जंजीरे तोड़ती हुए देखी जा सकती है।

अरस्तु का कथन है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना मनुष्य की कल्पना नहीं कि जा सकती है।"

जब समाज से मनुष्य है तो, मनुष्य की कल्पना नारी के बिना सम्भव नहीं। नारी के द्वारा ही मनुष्य में प्रेम का प्रस्फुटन होता है। यही प्रेम रूपी साधना गार्हस्थ्य जीवन में भगवत् प्राप्ति का एक सोपान है। स्त्री ही मनुष्य के जीवन में आदर्शवाद की स्थापना करती है। आदि कवि वाल्मिकी ने तो यहाँ तक कहा है, कि पुरूष की आत्मा नारी है। कवि के इस व्यापक चिन्तनालोक से ही नारी सशक्तिकरण की पुष्टि होती है-

"आत्मा हि द्वारा सर्वेषां, दारसंग्रहवर्तिनाम्।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति।।"[33]

कवि वाल्मिकि ने रामायण में स्त्री के प्रखर तेजस्वी होनें का वर्णन विभिन्न स्थानों पर किया है। स्त्रीत्व गरिमा व दिप्ती को कवि राम के वन गमन के समय पुष्ट करते हुए गुरू वशिष्ट के मुख से कहलवाते हैं कि सीता को वन में नहीं जाना होगा। वह अपनी शक्ति का उपयोग करते हुए राम के अधिकृत आसन पर बैठेगी-

"न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्।।"[34]

यह कहकर वाल्मिकी ने स्त्री शक्ति का समर्थन किया है, कि वह स्व तेजस्विता से रक्षित है। आवश्यक नहीं है कि वह किसी पुरूष के आश्रय में रहे।

"इमामपि विशालाक्षीं रक्षिता स्वेन तेजसा।"[35]

प्राचीन ऋषि मुनियों ने भी स्त्री को शक्तिस्वरूपा माना है। हमारी संस्कृति के प्राचीन संविधान में मनुस्मृति में भी नारी सशक्तिकरण का भाव पल्लवित होता है-

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सार्वास्तत्राफला क्रिया।।"[36]

नारी सशक्तिकरण के इसी भाव को पोषित करने का स्तुत्य प्रयास कविवर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने अपने नाटकों में किया है। 'सुशीला' नाटक के नान्दी में ही नारी सशक्तिकरण की भावना को नाटककार ने अधिक पुष्ट किया है। विधाता ने नारी की रचना करने में दुःखों का ढेर लेकर पंचतत्वों को गुम्फित करके, अश्रुओं से ढेर को साना तथा क्रोध रूपी भट्टि में उसे तपाकर स्त्री की रचना की-

"दुखः येन सुखेन सारसहजं सम्मिश्रय सङ्गुम्फितं
आकाशः पवनस्तथा च धरणी सम्मेलिता अश्रुभिः।।
क्रौधाग्नौ च सुपाच्य तद्धि सकलं यो लीलया निर्ममे।
नारीं कामपि तापपूर्वरचनां तस्मै नमो वेधसे।।"[37]

"सोमप्रभम्" नाटक की प्रमुख पात्र विमला नियति मान कर एक स्त्री के रूप में प्रताड़ित होती रहती है। एक तरफ वह परम्परा स्वरूप सास की अनुचित गालियाँ सुनती है।

"अयि रण्डे कुत्र मृतासि।"[38]

वहीं दूसरी और वात्सल्यता पूर्वक पुत्री सोमप्रभा के प्रति अकेले दायित्व निभाती है। वह कच्ची सूत के झूले पर झूलते हुए गिरती है, किन्तु उफ तक नहीं करती है। जहाँ मैथिलीशरण गुप्त का स्त्री विषयक यह दृश्य साक्षात् होता है। जिसमें उन्होंने स्त्री जीवन के प्रति गहरी संवेदना प्रकट की है

"अबला जीवन तेरी हाय कही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"[39]

यद्यपि विमला नौकरी पेशा स्त्री है उसका पति बाहर रहता है, वह सास के साथ रहते हुए उनकी सेवा करती है, तथापि उसके सास-ससुर दहेज के लिए बारम्बार प्रताडित करते रहते हैं। यहाँ तक की उसे रसोई में जलाकर जान से मारने को उद्धत हो जाते हैं। यह पुरूष प्रधान समाज की सत्यता है, कि वह स्त्री से आर्थिक सहयोग की तो अपेक्षा करते हैं, किन्तु उसकी आर्थिक आजादी को सहन नहीं कर पाते हैं। यही सब दृश्य कवि के मन में विषाद उत्पन्न कर देते हैं। नेपथ्य में से कवि की करूणा स्पष्ट सुनायी देती है-

"क्षणे-क्षणे प्रबर्धते धनाय हिंस्रता खरै
र्विलोप्यतेऽतिनिर्दयं च जन्तुभिर्मनुष्यता।
विभाजितं जगद्द्विधा, निहन्यते च घातकै-
रतीव दैन्यमागतास्ति साधुतामनुष्यता।।"[40]

'प्रतीक्षा' एकांकी में स्त्री से दोहरी अपेक्षा का वर्णन आचार्य जी ने किया है। एक ओर समाज आशा रखता है, कि स्त्रियाँ शिक्षित होकर स्वावलम्बी बनें तथा सामाजिक दायित्वों को निभाने में अपनी हिस्सेदारी निभाये किन्तु दूसरी ओर देखा जाए तो पुरातन परम्पराओं के अंधानुकरण व पूर्वाग्रह से ग्रसित मानसिकता स्त्रियों को पुरूष के बराबर स्वतन्त्रता न देखकर उसकी सशक्तता का दायरा सीमित कर देती है।

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी 'तण्डुप्रस्थम्' नाटक में नाटक की नायिका को मनुष्यता तथा स्त्री सशक्तिकरण की जीवन्त प्रतिमा के रूप में स्थापित किया है। इसी कारण संघर्षशील नाटक अंत में सुखान्त हो गया है। शारदा 21वीं सदी की उड़ान भरने वाली नारियों में सशक्तिकरण की मशाल जलाती है। आज नारी पुरूषत्व के प्रशस्त विकास मार्ग के लिए लालायित है, वरना पंचानन मिश्र की भार्या भानुमति को पुरूष वेश धारण करने की विवशता नहीं होना चाहिए थी। शारदा अपने दृढ़ भावों की अभिव्यक्ति उस समय दे देती है, जब भानुमति द्वारा वटुकवेश धारण करने पर उपहास की स्थिति उत्पन्न होती है, तो शारदा समस्त वृतान्त को जानकर कह उठती है, नारी की सार्थकता पुरूष की प्रतिच्छवि बनने में नहीं बल्कि नारी के रूप में रहकर स्व आत्म तेज विस्तार में निहित है-

"नारीत्वं प्रविहाय स्वं पुरूषस्य प्रतिच्छविम्।
क्रीडनीयतां चाप्ता सा नारी ननु कीदृशी।।"[41]

"सुशीला" प्रेक्षणक में नाटककार ने स्त्री के जीवन की प्रत्येक हलचल, उसकी व्यस्थता, मनोद्वन्द्व, विवशता, सूक्ष्म मनोदृष्टि, शक्ति-सामथ्र्य आदि को परख कर समाज के सम्मुख रखा है। लेखक न केवल नारी जीवन के कष्ट, सहिष्णुता तथा संघर्ष व प्रतिरोध की क्षमता के आगे नतमस्तक है, अपितु उसके दैनिक संघर्ष को सशक्तिकरण में रूपायित करने के लिए भी प्रयासरत है।

समूह की पाँचों स्त्रीयों द्वारा अपनी श्रम-साधना के लिए गाया जाना वाला उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी का गीत जिसमें वे बताती हैं कि उन्हें सुबह से साँझ और साँझ से सुबह तक एक पल का भी विश्राम नहीं है-

"सन्ध्याकाले दुग्धाः गावः
दुग्धं प्राप्तं दोहम् दोहम्।।
ज्वलिता चुल्ली दुग्धं क्वथितम्।
सर्वं दुग्धं दधि संजातम्।
संजातं दधि, दधि मथितम्।
तक्रमिदं तक्रमिदं निर्मितम्।।"[42]

सुशीला एक सहनशीला भार्या है, जो गृहस्थ जीवन में सभी कष्टों को सहते हुए भी अपने कर्तव्यों का निर्वाह करती है।

"गृहे अन्नस्य कणोऽपि नास्ति। दुग्धं न निस्सरति मम वक्षसः।"[43]

सुशीला के घर में अन्न का कण मात्र भी नहीं है, तथापि वह विचलित न होकर अपने धर्म और कत्र्तव्यों को निभाती है। परन्तु माँ होने के नाते वह क्रोधपूर्वक पति से गाँव छोड़कर चाचा के यहाँ चलने के लिए कह देती है। वे गाँव छोड़कर जाते हैं किन्तु दुर्भाग्यवश सुशीला पति व पुत्र दोनों से बिछुड़ जाती है, किन्तु वह धैर्य का अवलम्बन नहीं छोड़ती है। एक पत्नी के लिए पति और पुत्र दोनों का बिछुड़ जाना निश्चय ही कष्टप्रद व विषम परिस्थिति है। लेकिन सुशीला इस दुःख की अग्नि में तपती है और चिन्ताग्रस्त रहती है, तभी वहाँ पर राजा सबलसिंह आता है व उससे संवाद करता है-

"सबलसिंहः - त्वं कः

सुशीला - त्वं कः।

सबलसिंह - अहं सबलसिंहोऽस्मि।

सुशीला - अहं प्रबलसिंहोऽस्मि।।[44]

फिर भी सबलसिंह उसे आतंकित करता है, तो वह स्पष्ट कह देती है कि -"मुझे मेरे पति के आगे सब ऐरे गैरे ही लगते हैं।" सुशीला के इस साहस से प्रभावित हुआ सबल सिंह कहता है कि **"हे! भारतीय नारि! धन्यासि त्वम्। तवैव कारणात् जगत् अवस्थितम्।"[45]**

इस संवाद से सुशीला की निडरता प्रमाणित होती है, सुशीला निर्जन वन में दुःखी होकर भी राजा के समक्ष साहसिक भाषा में प्रत्युत्तर देती है। शक्ति सम्पन्न सुशीला राजा सबलसिंह पर छुरिका से प्रहार करती है। जिससे राजा की मृत्यु हो जाती है-

"सबलसिंहः - अन्तस्त्वां द्रक्ष्यामि। सवंते साहसं निस्सारयामि तव देहात्।

स्थास्यति करालकारागारे। कः कोऽत्र ? गृह्यतामियं पिशाची। मामेव चक्षुषी दर्शयति।

सुशीला- वस्त्रेषु गोपितां छुरिका निष्कास्य सबलसिंहस्य वक्षसि प्रहरति।

सबलसिंहश्चीत्करोति।"[46]

आचार्य त्रिपाठी जी का मानना है, कि स्त्री में तेज व जिजीविषा की अपार शक्ति है जिससे वह जीवन में आने वाले तमाम संघर्षों का सामना निडरता पूर्वक करती रहेगी-

"स्त्री आत्मनैवात्मानमुद्धरेत्। आत्मनैव तया जीवितत्यम्।"[47]

वह स्वयं विश्वासेन कहती है कि पुरूष सत्ता दम्भ में कितनी ही शक्तिशाली दिखायी दे वह स्त्री को नष्ट नहीं कर सकती-

"यज्जीविष्यति स्त्री मरिष्यति पुरूषः।"[48]

सुशीला का शौर्य भारतीय स्त्री की प्रतिनिधि सीता की छवि का स्मरण कराते है-

"श्याम सरोज दाम सम-सुन्दर
प्रभु भुज करिकर सम दशकन्धर।।"[49]
सो भुज कण्ठ कि तव असि धोरा
सुनु सठ अस प्रवानपन मोरा।"[50]
"सुन दशमुख खद्योत प्रकाशा
कनहुँ कि नलिनी करहि विकासा।।"[51]

वह स्वयं भी कह उठती है- "तस्या दशाननधिष्ठितायां लंकायां सीतेव शीलं रक्षितुं ना शक्नुवम्।।"[52]

इस घटना के विषय में आचार्य त्रिपाठी जी का यही संदेश प्रतिध्वनित होता है, कि जिस स्त्री को अबला कहकर ललकारा जाता है वही स्त्री विषम परिस्थिति में अपने अदम्य साहस का परिचय दे देती है जिसके प्रतिरोध को रोक पाना सम्भव नहीं होता है। नाटककार की स्त्री के प्रति न्यायिक दृष्टि का पक्ष भी इस नाटक में कृष्णपाल सिंह के इस कथन में चमत्कृत हो जाता है जब वह स्त्री-पुरूष के सहचर अपराध में पुरूष को भी अपराधी बताते हुए कहता है- "इयं स्वार्थलिप्सा इयं क्रूरता, इयं च प्रवंचनां पुरूषाणां संसारे वर्तते। नारी भवति ममतायाः मूर्ति।"[53]

भारतीय संस्कृति शास्त्र तथा समाज के दर्पण का चिन्तन स्त्री को द्वितीय शक्ति तथा पुरूष की आत्मा बताता है-

"आत्मा हि दारा सर्वेषां, द्वार संग्रह वर्तिमान्।
आत्मेयमिति मत्वा, रामस्य पालयिष्यति।"[54]

मनुस्मृति भी स्त्री के सम्मान व सफलता को समाज का सम्मान बताती है।

समाज, साहित्य और हमारे सांस्कृतिक केन्द्र भले ही स्त्रीयोचित्त सम्मान के लिए प्रयासरत हो, किन्तु स्त्री अस्मिता से जुडे अनेक ऐसे प्रश्न है जिन्हें न केवल नारी स्वयं अपने आस-पास प्रतिपल तलाश रही है, बल्कि डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जैसे साहित्य व संस्कृति के उपासक मनीषी भी इस सेवा में अपनी लेखनी के माध्यम से योगदान दे रहे है। शास्त्र और लोक के मध्य नारी दुर्दशा की जो खाई है उसे काटने का सशस्त प्रयास कविवर ने 'सुशीला' नाटक के माध्यम से किया है। वास्तविक रूप से लोकतन्त्र की स्थापना के पश्चात् ही स्त्री साहित्य की सफल परिणिती भारतीय धरातल पर हुयी है। डा. चन्द्रा सवायर स्त्रीमयी दृष्टि का सामाजिक महत्व स्पष्ट करते हुए लिखती है-

"भारत जैसे एक परम्परागत समाज में, सत्ता शास्त्र, लोकमत और पुरूष की अधिनता में जीती स्त्री को अपने व्यक्तित्व एवं अस्तित्व की स्वतंत्रता के लिए जैसा कठिन संघर्ष करना है, उसे पुरूष की दृष्टि से नहीं पहचाना जा सकता है।"[55]

डा. त्रिपाठी जी ने अपने नाटकों में यह प्रश्न पुरजोर रूप से उठाया है, कि हमारा समाज नारी के कौनसे रूप को स्वीकार व अस्वीकार करता है तथा अस्वीकार की स्थिति में वह किस प्रकार अन्तर् द्वन्द से गुजरती है।

सन्दर्भ सूची

1. स्त्री-शक्ति, विनोबा, सर्व सेवा प्रकाशन राजघाट वाराणसी, पृ.7
2. राजपाल हिन्दी शब्दकोश, प्रकाशन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ. 128
3. हंस-नामवर सिंह के साक्षात्कार से अगस्त 2004, पृ. 195
4. मनुस्मृति, 9/3 अध्याय, मनोज पब्लिकेशन नई दिल्ली, पृ. 479
5. रामचरित मानस, तुलसीदास
6. 'वागार्थ' मृणालपांडे के लेख दिस.2003, पृ. 88, संपा.-खेमानी कुसुम
7. रजवार डा. शीला, 'स्वातंत्रयोत्तर कथा साहित्य में नारी के बदलते संदर्भ, दिल्ली इस्टर्न बुक लिंकर्स, पृ. 74
8. स्त्री विमर्श, विनय कुमार, पाठक, भावना प्रकाशन, दिल्ली-110091, पृथम सं. 2005, पृ.सं. 06
9. ऋषे क्षुब्ध चेतांसि - हर्षदेव माधव, पृ.सं. 65
10. कल्याण, नारी अंक, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत्-2061, पृ. 128
11. हिन्दी शोध के नये प्रतिमान-हिन्दी सा. निकेतन, 16 साहित्य विहार बिजनौर (उ.प्र.) शोध दिशा 18, पृ. 287
12. नारी एक विवेचन-धर्मपाल, पृ. 01
13. हिन्दी शोध के नये प्रतिमान-हिन्दी सा. निकेतन, 16 साहित्य विहार बिजनौर (उ.प्र.) शोध दिशा 18, पृ. 228
14. स्त्री अस्मिताः साहित्य और विचारधारा, भूमिका-जगदेश्वर चतुर्वेदी, पृ. 07
15. मनुस्मृतिः
16. सुशीला, पृ. 04
17. ऋग्वेद, 8/33/19
18. अर्थववेद, 14/2/15
19. प्रेमपीयूषम्, डा. राधावल्लभ त्रिपाठी, द्वि.अं. पृ. 11
20. प्रेमपीयूषम्, डा. राधावल्लभ त्रिपाठी, द्वि.अं. पृ. 14
21. त्रिशंकु और अन्य कहानियाँ, मन्नू भण्डारी, पृ. 16
22. स्त्री विमर्श-कलम और कुदाल के बहाने-रमणिका गुप्ता, पृ. 86
23. ममता कालिया, उत्तर प्रदेश पत्रिका (स्त्री विशेषांक) मई-2003, पृ. 209

24. पंचशील शोध समीक्षा, (त्रैमासिक पत्रिका) सं. डा. हेतु भारद्वाज, जनवरी-मार्च, 2009, पृ. 112
25. प्रेमपीयूषम्, अंक-2, पृ. 11
26. वहीं अंक-2, पृ. 42
27. प्रतीक्षा-प्रेक्षणक सप्तकम्, पृ. 61
28. वही, पृ.71
29. सुशीला, पृ. 4
30. वहीं , पृ. 20
31. सुशीला, पृ. 33
32. अन्यथा (पत्रिका) अंक 11 पृ.सं.-117
33. वाल्मिकी रामायण, 2/37/24
34. वहीं, 2/37/23
35. वहीं, 6/106/15
36. मनुस्मृति, 3/56
37. सुशीला, प्रेक्षणकम् (नान्दी), पृ. 04
38. सोमप्रभम्, प्रेक्षणकम्, पृ. 04
39. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त
40. सोमप्रभम्, प्रेक्षणकसप्तकम्, पृ. 16
41. तण्डुल प्रस्थम्, अंक 8, पृ. 79
42. सुशीला, पृ. 5
43. वही, पृ.11
44. वही, पृ.18
45. वही, पृ.5
46. वही, पृ.24
47. वही, पृ.81
48. वही, पृ.8
49. रामचरितम्, गोस्वामी तुलसीराम-सुन्दरकाण्ड
50. वही
51. वही

52. सुशीला, पृ. 20
53. सुशीला, पृ. 32
54. वाल्मिकी रामायण, 2/37/24
55. हंस - अक्टूबर, 1994/35

अष्टम् अध्याय

डा.राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में समसामयिकता

अष्टम् अध्याय

डा.राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में समसामयिकता

समसामयिकता से तात्पर्य समयबोध से होता है अर्थात् मनुष्य के स्वयं के जीवित समय का बोध। समसामयिकता के अन्तर्गत समकालीन जीवन के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि पक्ष लक्षित किए जाते हैं। इसमें समयगत चेतना का सम्बन्ध होता है। समसामयिकता वर्तमान परिवेश में होने वाली सामाजिक ऐतिहासिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक सभी प्रकार की हलचलों के लिए पर्याय बन गयी है। समसामयिकता युगबोध के साथ वर्तमान समय की प्रवृत्तियों को समझने में भी सहायक है। लेखक के अनुभवों से पाठक के अनुभवों का साक्षात्कार करने का सीधा माध्यम समसायिक साहित्य ही होता है।

यद्यपि समसामयिकता इतिहास परक प्रक्रिया है, जो निरन्तर गतिमान व परिवर्तित होती रहती है। किसी भी युग में क्रियाशीलता के द्वारा संलग्न जीवन पद्धति तथा उसके प्रभावों से प्रभावित अन्तर्भावों का वर्णन ही समसामयिकता के लिए पर्याप्त नहीं है, अपितु समय के सापेक्ष विगत प्रक्रियाओं को संशोधित करने की प्रक्रिया भी समसामयिक साहित्य में आवश्यक है।

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने अपने जीवन में जो कुछ देखा व महसूस किया, वही उनकी रचना का विषय बनता गया। कविवर की नाट्य रचनाऐं पूर्णतः समसामयिक हैं, जो समय की आवश्यकता के साथ ही समाज में प्रगति को प्रशस्त करने वाली है। नाटकार ने प्राचीनता का अतिक्रमण करके अभिनव का सृजन कर अपने नाटकों में प्राचीनता को आधुनिक जामा पहनाया है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने अपने नाटकों में लोक दृष्टि और लोक संवेदना को प्रस्तुत करते हुए लोगों के पारिवारिक व सामाजिक जीवन की समस्याओं को चित्रित किया है।

कविवर ने अपनी रचनाओं में जन-मानस की किसी न किसी आकांक्षा व अभिलाषा का चित्रण किया है। एक ओर कवि ने सामाजिक यर्थाथ का अनावरण किया है, वहीं दूसरी और रचनाकार ने उसके प्रति अपनी मानसिकता को भी

व्यक्त किया है। आचार्य त्रिपाठी जी की रचनाओं का समसामयिक अध्ययन निम्न आधार पर किया जा सकता है।

(क) वर्ग भेद -

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी ने समाज में जो अनुभूत किया है, उसे ही अपने नाट्य साहित्य में उकेरा है। प्राणीयों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त होने पर भी संतोष का अभाव होने के कारण मनुष्य जाति में भी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए उसने जाति, वर्ण, वर्ग आदि का सहारा लिया। जिसके परिणाम स्वरूप अनेक मनुष्यों को मनुष्यता से वंचित कर दिया गया।

'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाटक में निरंजन के परिवार को जाति वर्ग के कारण ही पानी शिक्षा जैसी मूल आवश्यकता से वंचित होना पड़ा। यदि यह जातिगत भेदभाव न हो तो मानव-मानव में अन्तर करना स्वतः ही बंद कर देगा। वर्तमान में मनुष्य की जातियों के साथ सम्प्रदायवाद का भी उदय होता जा रहा है। यद्यपि जाति व्यवस्था प्राचीन समय-समय से चली आ रही व्यवस्था है। लोग सालों से इसकी आलोचना करते हैं, लेकिन फिर भी देश में सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में इसकी एक मजबूत पकड़ है।

निरंजन के गुरू के द्वारा निरंजन जैसे योग्य व होनहार छात्र के साथ किया गया व्यवहार आज के शैक्षणिक ढ़ांचे को प्रस्तुत करता है। जहाँ उच्च शिक्षित वर्ग भी जातिवाद के दंश के प्रहार से अपने विचारों को नहीं बचा पाया है, दूसरी और जातिवाद के कारण उत्पन्न आरक्षण व्यवस्था से प्रतिभाओं का हनन हो रहा है। इस नाटक के माध्यम से जातिप्रथा का विरोध व वर्गभेद की समाप्ति की ओर पाठकों का ध्यानाकर्षित करना ही नाटकार का लक्ष्य रहा है। चान्द्रायण और कृच्छ्रायण का यह संवाद अस्पृश्यता जैसे क्रूर भाव को ही अभिव्यक्त करता है।

"कृच्छ्रा. - (सक्रोधम्) अरे चन्द्रायण नृपशो! मलिम्लुच! पिशाच! अन्धोऽसि किम् ?
चान्द्रा. - अरे! गालिं किमर्थं ददासि मह्यम् श्लायक!

कृच्छ्रा. - कथं कथं श्यालक इत्याह! गालिसहस्त्रं ते दास्यामि! मूर्ख चक्षुषी ते स्तः काचगोलकद्वयं वा ? अहं स्नात्वा ध्यात्वा शुचिना मनसा अत्र आगच्छामि पंक्तिपावनो ब्राह्मणः। असवन्त्यजः सूरदासो मयि गोमयं क्षिपति!

चान्द्रा. - (साधिक्षेपम्) अरे मामन्त्यजं सूरदासं च व्यपदिशसि ?

कृच्छ्रा. - (सोत्प्रासम्) तर्हि किं त्यपदिशानि ? हरिजन इति ?

आचार्य जी भूख के प्रबल रूप को भी बताया है। काल कोई भी हो किन्तु भूख का प्रबलरूप किसी को भी नहीं देखता है। नाटककार ने इस 'बुभुक्षा' को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

"न मातो तातो मे न खलु कश्चित् परिजनः।
स्मायातो जातः कथमयमहौ मे परिणयः।
अजानन्नीतो भ्रमित रह लीलापशुसमं,
बुभुषा मामेषा विकलकरणं नर्तितवती।।"

(ख) वर्तमान राजनीति -

साहित्य और राजनीति का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः एक सच्चा साहित्यकार जिस राजनैतिक परिवेश में जीता है। उसकी झाँकी उसके साहित्य में समालोचन के साथ दिखाई देती है। वर्तमान में राजनीतिक प्रपंचों का समाज में मानवीय मूल्यों के निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी राजनैतिक गतिविधियों को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करने वाले सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर कटाक्ष करते हुए, वर्तमान राजनीति के प्रति असंतुष्टि जाहिर की है। वर्तमान की राजनीति के प्रति जनमानस का ध्यान आकृष्ट करना नाटककार का लक्ष्य रहा है। किसी कवि को महान बनने के लिए आवश्यक है कि वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि से समाज व राष्ट्र की प्रत्येक स्थिति को निरीक्षण कर उसका वर्णन अपने साहित्य में कर सके परन्तु आज के समय में प्रत्येक स्थान राजनीति का वर्चस्व है। छोटे बाबू, व कर्मचारी व अधिकारी सभी स्वयं के बंगला गाड़ी, शाही ठाठ, बेनामी सम्पत्ति के लिए राजनेताओं से मिलकर राजतंत्र को मलिन बनाने में संलग्न है। इसे कविवर ने 'धीवर शाकुन्तलम्' एकांकी में बताया है। राजनैतिक दबाव बनाकर राजा के लोग ईमानदार धीवर को

चोर व श्रेष्ठी को सही साबित करने का प्रयास करते हैं। वर्तमान बुद्धिवादी युग में चिन्तनशीलता की अपार सम्भावनाऐं है,किन्तु चिन्तन केवल भौतिकवादी वस्तुओं तक सिमट कर रह गया है। राजनीति में केवल प्रेयस् की भावना बलवती होती जा रही है, श्रेयस का प्रायः अभाव ही दिखता है जो आधुनिक मानव की प्रगति में बाधक है। 'प्रेमपीयूषम्' नाटक में तेजस्वी कवि प्रतिभा के धनी 'भवभूति' राज दरबार में राम स्रोत का वाचन करते हैं, किन्तु राजा दरबार में स्वयं की प्रशंसा सुनना चाहते है। यही कारण है, कि भवभूति को दण्ड का भागी बनना पड़ता है। वर्तमान राजनीति में भटकाव की यही स्थिति चाटूकारिता के बल पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की होड़ पैदा करती है। अन्याय पूर्ण उत्पीड़न राजनीति को विश्वसनीय नहीं बना सकता है। राजनैतिक उलझनों के कारण व्यवस्थाओं के आन्तरिक पहलूओं में सुधार की अपेक्षा नहीं कि जा सकती है। प्रजातंत्रिय व्यवस्थाओं में भी प्रत्येक राजनेता अपनी सन्तानों के लिए येन-केन प्रकार से सत्ता में स्थान बनाने के लिए तत्पर रहता है। विश्व की राजनीति के लिए कान्य कुब्ज नरेश यशोवर्मा व कश्मीर के राजा ललितादित्य के मध्य उत्पन्न राजनैतिक द्वेष का समाप्त होना तथा ललितादित्य का क्षमा याचना करना विश्व शांति समझौतों से साम्य स्थापित करता है।

(ग) सामाजिक चेतना-

साहित्य समाज का दर्पण है, समाज में होने वाली गतिविधियों के प्रति सजगता व सापेक्षता साहित्य सृजन को नई गति प्रदान करती है। वहीं दूसरी और साहित्य में वह क्षमता निहित है जो विश्रृंखलित समाज में भी नवीन चेतना का संचार करने का अपार सामथ्र्य रखती है। नाटककार राधावल्लभ त्रिपाठी जी के अनुसार मनुष्य को समाज में रहते हुए सदैव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयत्न करते रहना चाहिए। स्वयं की इच्छापूर्ति हेतु कुत्सित राह पर चलने से स्वयं को रोकना चाहिए। आचार्य जी ने भाग्यवादिता को त्याग कर कार्यशीलता की प्रवृत्ति को महत्त्व देकर भरत मुनि के नाट्य प्रयोजन दुःखी, सन्तप्त व श्रमित सभी प्राणियों के सभी दुःखों का नाश कर उनके जीवन में आल्हाद भरने का अनुसरण किया है-

"दुःखार्तानां श्रमार्तानाम् शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्ति जननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।।
धम्र्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्द्धनम्।
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद्भविष्यति।।

दहेज प्रथा आज के समय में समाज में व्याप्त एक बड़ा दंश है। दिन-प्रतिदिन दहेज की माँग के कारण बारात का वापस लौट जाना, कन्या पक्ष द्वारा दहेज कम देने के कारण कन्याऐं घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं। यहाँ तक की उन्हें जान से मारने तक के प्रयास भी किये जाते है। जिसे हम प्रतिदिन समाचार-पत्रों की सुर्खियों में देख सकते हैं। सोमप्रभम् प्रेक्षणक के द्वारा नाटककार ने समाज की इस कटुता के प्रति ध्यान आकृष्ट कर निराकरण की अपेक्षा पाठकों से की है। किन्तु टी.वी., इन्टरनेट, मोबाइल व विद्यालयों के माध्यम से आज के नौनिहालों में आने वाली तेजस्विता की सराहना करना भी लेखक ने अपना कत्र्तव्य समझा है। अपने दादा-दादी द्वारा माँ विमला को जलाने का प्रयास करते हुए देखकर नन्हीं सोमप्रभा द्वारा पुलिस को घटनास्थल पर बुलाकर ले आना व उसकी माँ विमला की जान बचा लेना आज के बच्चे की सजगता व सूझ को परिलक्षित करता है।

'धीवर शाकुन्तलम्' एकांकी के द्वारा आचार्य त्रिपाठी जी ने समाज के उस स्वरूप को प्रस्तुत किया है। जहाँ गरीब व्यक्ति की ईमानदारी को भी संदेहपूर्वक देखा जाता है, जबकि एक गरीब जाति धर्म को नहीं जानता, वह जानता है, तो बस इतना की किसी प्रकार आज की आवश्यकता की पूर्ति हो जाए। जिसका उदाहरण कविवर ने 'तण्डुलप्रस्थीयम्' के नायक निरंजन के रूप में प्रस्तुत किया है।

भागदौड़ से आबद्ध आज का समय प्रतिस्पर्धा का युग है यहाँ हर कोई इसलिए दौड़ रहा है ताकि अपने घर, परिवार को और भी अधिक सुदृढ़ और सम्पन्न बनाया जा सके। 'मुक्ति' प्रहसन में हास्यपूर्ण प्रेक्षणक के रूप में यही संदेश पाठकों को दिया है कि अपने, घर, परिवार व समाज के प्रति दायित्व निर्वाह करने को ही 'मुक्ति' की संज्ञा दी है।

समाज कंटक के रूप में स्वार्थी तत्वों का स्थान-स्थान पर बोलबाला है, ये वे लोग होते है जो समाज के समक्ष चिन्तक, समाज-सुधारक, समाज सेवी, धर्म प्रचारक आदि की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने के अलावा कोई अन्य कार्य नहीं करते हैं, किन्तु समाज के समक्ष सफेद पोशी के रूप में धुन भी भाँति उस क्षति पहुँचाते हैं। ऐसे ही स्वार्थी तत्त्वों को आधार बनाकर आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'गणेशेपूजनम्' एकांकी की रचना की है, जहाँ जनता ईश्वर व धर्म के नाम पर गणेशोत्सव के आयोजन के लिए चंदा देती है, किन्तु बुलाकीराम जैसे धर्म के पाखण्डी व्यक्ति द्वारा उसका इस्तेमाल धर्म के स्थान पर अनुचित कार्य में व्यय करके किया जाता है, जिससे लोगों की भावना पर कुठाराघात होता है। किन्तु इस कृत्य के पर्दा उठने पर जनता विरोध करती है व गत वर्ष के व्यय का भी हिसाब माँगने लगती है। यह समाज में शिक्षा के सरोकार को प्रदर्शित करता है, क्योंकि आज जिस समाज में हम निवास कर रहे हैं वहाँ गलत का विरोध होना अत्यावश्यक है।

21वीं सदी का आंकलन प्रगतिशीलता के युग की दृष्टि से किया जाता है। सुख-सुविधा व विचारों के खुलेपन के साथ ही समाज में व्याप्त हिंसा व अत्याचारों का भय अधिक व्याप्त होने लगता है। स्त्री शिक्षा के प्रति समाज की धारणा में अवश्य परिवर्तन आया है, किन्तु आज भी पुरूषों के बराबर की स्वतन्त्रता का अभाव है। यही कारण है, कि घर से बाहर जाने वाली स्त्रीयों के थोड़ा भी वापसी में विलम्ब हो जाने पर माता-पिता का मन-मस्तिष्क भी विभिन्न प्रकार की आशंकाओं से भर जाता है तो फिर औरों का तो कहना ही क्या ? 'प्रतीक्षा' एकांकी में कल्पना के कार्यालय से नहीं लौटने पर नगर में व्याप्त हिंसा व अत्याचारों के भय तथा बिजली गुल हो जाने के साथ आँधी व वर्षा से कल्पना के पिता का मन आतंक के डर से घिर जाता है। अन्ततः उन्हें अपनी पुत्री के लौट आने पर अपने अविश्वास पर पश्चाताप् होता है।

आधुनिक समय में स्त्री के संघर्ष की कहानी का प्रतीक 'सुशीला' नाटक की नायिका सुशीला का चरित्र है। पुरूष सत्ता का प्राधान्य प्रायः सभी जगह देखा जा सकता है। समाज का एक वृहत् समुदाय पुरूष की सत्ता को स्वीकार करता है, किन्तु समय के सापेक्ष स्त्री-पुरूष की सत्ता को समभाव से देखने वालों की भी कमी नहीं है। यद्यपिइ स बात से नकारा नहीं जा सकता की आज की स्त्री पुरूष

की बराबरी करके भी पुरूष की भोगेषणा की वस्तु है। एक स्त्री जीवन की व्यथा, विसंगति, संघर्ष, जिजीविषा और अन्ततः स्त्री के लिए नियति के विधान की सांकेतिक व्यंजना की साम्यता को नाटककार ने स्थापित किया है।

स्वाभिमानी व्यक्ति कभी भी चाटूकारिता में विश्वास नहीं रखता है, किन्तु समाज का व्यवहारिक पक्ष यह रहा है कि ऐसे लोगों को तिरस्कार झेलना पड़ता है और तिरस्कृत व्यक्ति किस प्रकार अपना आत्मबल खोनें लगता है। इसका प्रतिबिम्ब 'प्रेमपीयूषम्' नाटक में प्रस्तुत किया गया है। आज भी एक स्त्री के धर्म का पालन, गुरू की आस्था का पालन, गुरू का महत्व, बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन का स्वरूप समाज की संरचना का हिस्सा जिसको प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से 'प्रेमपीयूषम्' सुशीला व तण्डुलप्रस्थीयम् नाटकों में देखा जा सकता है।

वर्तमान समाज में आई विकृतियों के विरोध में दाम्पत्य जीवन के उतार चढ़ाव, प्रेम की परिणिति विवाह के रूप में तथा किसी प्रकार से दाम्पत्य रूपी वट वृक्ष को प्रेम रूपी अमृत से सिंचित करके खुशहाल जीवन का उदाहरण भी मिलता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में एक युवा पुत्री के अन्तर्मन की स्थिति को माँ के लिए समझने की महती आवश्यकता है। एक माँ किस प्रकार पुत्री के अन्तर्मन के भावों को जानकर उसे शांत करती है। इसका उदाहरण 'प्रेमपीयूषम्' नाटक में इंदुमति व शशिप्रभा के संवाद के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

कन्या दान को ही महादान मानने वाले समाज की जडें कब भौतिक वस्तुओं व आर्थिक दहेज ने खोखली कर दी कि समाज समझ ही नहीं पाया। समाज ने पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण कर स्वयं को आधुनिक तो कह दिया, किन्तु आज भी न जाने कितनी ही स्त्रीयाँ दहेज की आग में झोक दी जाती है। बल्कि पढ़े-लिखे सभ्य समाज में न केवल पुत्र के विवाह में दहेज मिलना अपितु पुत्री के विवाह में दहेज देना भी सामाजिक प्रतिष्ठा का विषय बन गया है। 'सोमप्रभम्' एकांकी में कवि ने इस सामाजिक जहर का वर्णन प्रबलता से पाठकों के ज्ञानचक्षुओं के समक्ष फैलाया है जिससे वे दहेज रूपी गरल से होने वाले सामाजिक नुकसान को समझ सके जहां उच्चशिक्षित कामकाजी औरत पारिवारिक व आर्थिक दोहरी जिम्मेदारी को वहन करते हुए भी दहेज की लपटों मे जलने को मजबूर है।

(घ) नारीवादी चेतना-

मन के सपनों के लिए एक वास्तविक मंत्र बताया गया है। "नवो नवो भवति जापमानस्तथधी रासः। कनय उन्नयस्ति। अर्थात नवीनता को पकड़ना ही मन का लक्षण है। 21 वीं सदी नवीनता के प्रत्येक क्षेत्र को स्वयं में आत्मसात किए हुए है। ऐसे समय में सदियों से चले आ रहे स्त्री संघर्ष के परिणाम भी समाज के समक्ष सकारात्मक रूप में प्रस्तुत हुए है। आज उनके अस्तित्व, अधिकार, सामाजिक उत्पीड़न, मौन, नैतिकता, ग्रामीण स्त्रीयों का भी स्वावलंबन, स्वातन्त्र्य, शिक्षा सभी में परिवर्तन देखा जाने लगा है। नवयुग को आधुनिक लड़कियां अपने जीवन के फैसले स्वयं ले रही है।

कविवर ने 'प्रेमपीयूषम्' नाटक में शशिप्रभा ऐसे ही स्त्रीपात्र का प्रतिनिधित्व करती हुई दिखाई देती है। डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के दृष्टिकोण से देखें तो उनके स्त्री पात्रों में आधुनिक नारी के स्वाभिमान, धैर्य, साहस, कर्तव्यनिष्ठा, चारित्रिक बल की शक्ति का वर्णन अत्यन्त सहज अभिव्यक्ति के साथ किया है। सुशीला नाटक की नांदी में ही नाटककार ने ऐसे शब्दों को गुम्फित किया है जिसमें स्त्री के अन्तर्बाह्य स्वरूप और संघर्ष को समझा जा सकता है।

आज समाज में बेटा व बेटी को शिक्षा के अवसर में असमानता की खाई समाप्त हो रही है वर्तमान समय में स्त्री को शिक्षा के साथ-साथ उच्च शिक्षा के अवसर भी प्राप्त हुए है। किन्तु उनकी दुखावस्था आज भी देखी जाती है। नाटककार ने 'सोमप्रभम्' एकांकी की मुख्य पात्र विमला को 21वी सदी की उच्च शिक्षित कामकाजी स्त्री के प्रतिनिधी पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है, जो शिक्षित होने के कारण ससुराल की यातनाओं के आगे नतमस्तक होकर चुप है। स्त्री की दोहरी जिम्मेदारी की साम्यता को आचार्य जी बहूत ही सूक्ष्मता से इसमें बताया है।

आधुनिक नारी का पुरूष के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलनें वाली बातें अब पुरानी हो गई हैं। विभिन्न मायनों में वह पुरूष को पछाड़ कर अग्रिम पंक्ति में उपस्थित है। अपने घर परिवार की आर्थिक जिम्मेदारी अपने कन्धों पर लेना स्त्री के लिए आज आम बात है। शिक्षित स्त्री के रूप में 'प्रतीक्षा' एकांकी की प्रमुख पात्र कल्पना वहीं दुसरी ओर 'सुशीला' नाटक की अशिक्षित पात्र 'सुशीला' अपने

घर परिवार की आर्थिक जिम्मेदारी अपनें कन्धों पर लिए संघर्ष करती हुई दिखाई देती हैं।

परन्तु आधुनिकता का जामा पहनें समाज स्त्री की सुरक्षा की गारंटी आज भी नही दे पाया है। 'सुशीला' नाटक में ईमानदारी व मेहनत से घर-घर छाछ बेचनें वाली स्त्रीयों के प्रति पुरूषों की कुदृष्टि जिसमें राजा स्वयं भी लिप्त हो जाता है। लड़कियों का अपहरण, जबरन उनकी आबरू लूट लेना, जालसाजी कर उनसे विवाह करनें की खबरे नित्य समाचार पत्रों में देखी जा सकती है। 'प्रतीक्षा' एकांकी में कल्पना समाज के समक्ष अपनी अस्मिता, स्वतन्त्रता व अस्तित्व के लिए संघर्षरत नारी की प्रतिनिधि पात्र है, जो समाज के समक्ष प्रश्न खड़ा करती है कि "क्या स्त्री होना अभिशाप है?"

नाटककार की आत्मवेदना यही है कि आज भी स्त्री समाज में रिश्तो के कारण ही पहचानी जाती है, स्वतन्त्र रूप से स्त्री के अस्तित्व को कोई पहचानता ही नहीं । आधुनिकता का दिखावा करनें वाले पुरूषों के लिए वह किसी न किसी क्षण वासनाओं की बन्दिनी मात्र है। जहां पुरूष अपनी सुविधा से तय करता है, कि उसे स्त्री का कब, कौनसा रूप में स्वीकारना है। क्योंकि स्त्री ने पुरूषवेश तो धारण कर लिया है किन्तु पुरूष जैसी तेजस्विता का अभाव उसमें देखा जा सकता है। 'तण्डुलप्रस्थीयम्' नाटक में गुरूपत्नी भानुमति द्वारा वटुकवेश धारण करनें का वृतान्त जानकर शारदा कह उठती है- "नारी की सार्थकता पुरूष की प्रतिच्छवि बननें में नहीं बल्कि नारी के रूप में रहकर स्व-आत्म तेज विस्तार में निहित है।" समाज, साहित्य और हमारे नारी उत्थान कार्यक्रम भलें ही स्त्रीयोचित सम्मान के लिए प्रयासरत हो, फिर भी स्त्री अस्मिता से जुड़े अनेक ऐसे प्रश्न है, जिनके उत्तर स्त्री तलाश रही है। ऐसे सभी प्रश्नों को अपनें नाट्य साहित्य के माध्यम से आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें सुधी पाठकों व समाज के समक्ष रखा है।

(ड) 'धार्मिक दृष्टि -

'धर्म' में आस्था को विश्व पटल पर भारतीयता के पर्याय के रूप में देखा जाता है। यद्यपि धर्म का सूक्ष्मावलोकन करने पर कर्तव्य-अकर्तव्य का समीचीन बोध ही धर्म है, किन्तु समय व परिस्थिति के सापेक्ष प्रायः धर्म का आधुनिक अभिप्राय ईश्वरोपासना मात्र रह गया है।

वर्तमान परिस्थितियों में सर्व सम्पदा से सम्पन्न व्यक्ति भी ईश्वरोपासना हेतु मन्दिर मस्जिद, गिरजाघर आदि में प्रस्तुत होता है। क्योंकि आज के समय पर दृष्टि डाले तो पूजा व उपासना स्थल ही धर्म-कर्म के साधन मात्र रह गये है। रूप-यौवन, सम्पदा, वैभव से युक्त होने पर भी राजकुमारी का अपने मनोभावों की पूर्ति हेतु देवी के मन्दिर जाना आज के धार्मिक भावों के साथ साम्यता स्थापित करता है। जहां गरीब से लेकर बड़े-बड़े धनाड्य लोग किसी भी कार्य की निर्विघ्नता व अपने मनोरथ की सिद्धि हेतु अपने धार्मिक पूजास्थलों पर नतमस्तक होते देखे जाते हैं। वृहत् वैभवशाली धार्मिक स्थल इसी धार्मिकता के गवाह स्वरूप है। वहीं धर्म के नाम पर दुराचार करके जनता की धार्मिक भावना के साथ खिलवाड़ करने वाले बहुरूपिये आज हर गली मोहल्ले में देखने को मिलते हैं जो धर्म के प्रति मिथ्या आडम्बरों का चोला ओढे हुए है। 'गणेश पूजनम्' एकांकी में बुलाकीराम का चरित्र ऐसे ही बहुरूपियों के चरित्र के प्रतिनिधि पात्र की साम्यता रखता है।

इतना ही नही झूठे साधू वेशधारी लोग धर्म का दिखावा कर आजकल भोली भाली स्त्रीयों को अपने चंगुल में फंसा कर उनके साथ व्याभिचार करते हैं। अनैतिक कार्यों को करने के लिए ये महिलाएं विवश होती चली जाती है। बड़े-बड़े मठ, मिशनरीज व्यभिचार के केन्द्र बने हुए हैं। यही कारण है कि नाटककार ने 'सुशीला' नाटक में मोक्षदायिनी काशी, मथुरा जैसी नगरियों को भी स्त्रीयों द्वारा छाछ बेचने के लिए सुरक्षित नहीं बताकर पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है। विश्वनाथ के मन्दिर पर वेश्याओं का जमावड़ा व छद्मपूर्वक नाबालिक लड़कियों के देह शोषण की विकृतियां बताकर आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने आधुनिक धर्म के स्वरूप को अभिधा के रूप में वर्णित किया है। साथ ही नाटक में बहुसंख्यक समाज में आस्था के प्रतीक पवित्र कार्तिक मास व शिवाराधना का जो स्वरूप् 'सुशीला' नाटक में दिखाया है उसे कार्तिक महिनें में समूचे भारतवर्ष में विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। कार्तिक स्नान के रूप में पवित्र नदियों में अपनी आस्था की डूबकी लगाने वालों की भीड़ इसका प्रमाण है। जिसे नाटककार ने सूक्ष्मावलोकन के साथ अपनें नाटकों में स्थान दिया है।

उपसंहार

उपसंहार

शोध निष्कर्ष का प्रतिपादन

धर्म, कला, विज्ञान, संस्कार, आचार-व्यवहार, सहयोग, संस्कृति आदि से सम्पन्न देववाणी को सम्मुलास के साथ आधुनिकता के नवीन आयाम देने वाले कवियों में आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी विशेष स्थान पर विराजित हैं। कविवर का नाट्य साहित्य सामाजिकता के धरातल पर सभी आयामों को अपने कलेवर में समेटे हुए है। समाज के पुरातन व आधुनिक स्वरूप की प्रशंसा व बुराइयों को उदात्त भाव से प्रस्तुत करने वाले कविवर ने जनमानस में अपना विशेष स्थान बनाया है। समय के सापेक्ष युगानुसारी साहित्य का लेखन कविवर को सार्वभौम कवि सिद्ध करता है। आचार्य जी ने मानव मात्र को ध्यान में रखते हुए आधुनिक ही नहीं बल्कि पुरातन सामाजिक परिवेश की भी संसृष्टि अपने नाटकों में की है। आमजन की आदर्शमूलकता, उदारता, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक समस्याओं का वर्णन कविवर की लेखनी नें अति सूक्ष्मता से किया है। अपनी आंखो देखी का विचार-विश्लेषण सहज अभिव्यक्ति के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करनें की सशक्त प्रवृत्ति उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है। अपने नाट्य साहित्य में सामाजिक चिन्ता को मूल में रखते हुए मानववाद, दलित चिन्ता, शोषित व उपेक्षित वर्ग के अधिकारों की चिन्ता, नारीचिन्ता, समाज की कुरीतियाँ , भारतीय परम्परा, पर्यावरण प्रेम, राजनैतिक विकृतियां, जनचेतना, सामाजिक मूल्य व संस्कार आदि के समाधानों का अन्वेक्षण किया है। यही कारण है कि कविवर भी 'साहित्य का प्रयोजन मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं।' त्रिपाठी जी का सम्यक् सामाजिक, दर्शन व विश्लेषण दलितों, शोषितों, स्त्रीयों, धार्मिकों में जागरण का शंखनाद कर उन्हे पुनर्नव करने का भरपूर सामथ्र्य रखता है।

इनके नाट्य साहित्य प्रेमपीयूषम्, प्रेक्षणकसप्मकम्, तण्डुलप्रस्थम् व सुशीला प्रेक्षणक में सामाजिक परिशीलन की दृष्टि से मूल्यांकन करने पर निष्कर्षतः कह सकते है कि उनका समग्र नाट्य साहित्य आधुनिक समाज का विभिन्न दृष्टियों से वर्णन प्रस्तुत करने के साथ ही मार्गदर्शन भी करता है।

'प्रेमपीयूषम्'नाटक में ऐतिहासिकता, भौगोलिक सम्पन्नता तथा तत्कालीन राजनैतिक परम्परा की जीवन्त झांकी प्रस्तुत है। नारी की स्वतन्त्रता के प्रति आक्रोश,

प्रकृति उपासना, बलि आदि कुप्रथाओं का विरोध भी इस नाटक मे परिलक्षित है। प्रेमरूपी अमृत के सिंचन से जीवन की सभी जड़ताओं की समाप्ति के साथ आनन्दपथ का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः प्रेम को ही आचार्य जी ने सर्वोच्च आराधक तत्व माना है। समाज में दया, करूणा, ममता, सद्भाव, आत्मिकता, समता की स्थापना में प्रेमरूपी अमृत का विशेष योगदान है। प्रेक्षणकसप्तकम् में समाज के इन्द्रधनुषी रंग आचार्य जी के कला कौशल के परिणाम स्वरूप ही उपस्थित हुए हैं। 'सोमप्रभम्' प्रेक्षणक में पुरूष के साथ कदमताल मिलाने वाली स्त्री के प्रति समाज की दोहरी मानसिकता के कारण उसके विरूद्ध रचे जानें वाले षड़यन्त्रों, चक्रव्यूह को नग्न कर उसमें जागृति को संचार किया गया है।

'मेघसंदेश' के माध्यम से नाटककार को समाज को संदेश है, कि असंतुलित पर्यावरण के प्रति सौरभ के समान आत्मीयता व ऋतुजा की आवश्यकता है। इस प्रेक्षणक के माध्यम से आचार्य जी ने पर्यावरण चेतना का संचार किया है। 'धीवरशाकुन्तलम्'में तत्कालीन राजव्यवस्था की अनुचित प्रवृतियों के द्वारा दैनिक वेतन भोगी मछुआरे के शोषण का चित्रण है। भ्रष्टाचार के विपक्ष में भ्रष्टाचार उन्मूलन हेतु सामाजिकों की इच्छा शक्ति में विरोध की ज्वाला प्रदीप्त कर जनचेतना के स्वरों को मुखरित किया गया है। 'मुक्ति'एकांकी में जंजीरो में जकड़ा हुआ सूत्रधार सामाजिक दायित्वों को ही नैतिक कर्तव्य मानने का संदेशवाहक है। आम आदमी का प्रतीक सूत्रधार जाति, सम्प्रदाय भाषा, क्षेत्र, रूढ़ियों व आलस्य की मजबूत बेड़ियों से बंधा होने के कारण अकर्मण्यता को अपनाकर स्व आत्मशक्ति का ही विस्मरण कर चुका है, किन्तु कवि उसे दायित्व बोध करवाकर जनमानस में कर्म की उपासना का आदर्श प्रस्तुत करना चाहते हैं। 'मशकधानी'में दलित व शोषकों के प्रति सामाजिक चिन्ता को व्यक्त किया गया है। मच्छर को रोकने हेतु प्रयत्न करने पर भी वह श्रेष्ठि की मशकधानी में प्रवेश कर जाता है, इस स्थिती में श्रेष्ठी द्वारा गाली-गलोच की जाती है। जिसके कारण सामाजिक शुद्धता खतरे में दिखाई देती है। श्रेष्ठि की प्रतिक्रिया शोषक व शोषित के मध्य सामाजिक अराजकता की खाई उत्पन्न कर खतरों की चेतावनी देती है। 'गणेशपूजनम्'प्रेक्षणम में जन समुदाय में व्याप्त पाखण्ड, शोषण, भ्रष्टाचार आदि की जड़ो की आरे ध्यानाकर्षित किया गया है। धर्म की आड़ में न जाने कितने स्वार्थलिप्सित लोग समाज में विभिन्न प्रकार की विसंगतियों को उत्पन्न करते हैं। सामाजिक विषाक्तता के विरोध में जनचेतना का आह्वान है। 'प्रतीक्षा'एकांकी में आधुनिकता की आड़ में होने वाले दुष्परिणाम स्वरूप समाज के नैतिक पतन की ओर कवि

ने ध्यानाकर्षित किया है। कल्पना जैसी आज अनेक स्त्रीयां है जो स्वयं के घर-परिवार के लिए संघर्ष कर रही हैं, किन्तु साथ ही अपनी अस्मिता के लिए भी संघर्ष करने को मजबूर है। स्त्री सुरक्षा की गारंटी नही देने वाले युगीन समाज से नारी चिन्ता की अपेक्षा नाटककार नें की है। 'तण्डुलप्रस्थम्'नाटक में जल समस्या से उत्पन्न संघर्ष के माध्यम से संभावित जलसमस्या की दूरदर्शिता के भावों को सुदृढ़ता प्रदान की गई है। जीवन मूल्यों के अपेक्षित उन्नयन के संकेत भी यहां परिलक्षित हुए है। नाटककार ने शोषण, अशिक्षा व अज्ञान के विरोध में निरंजन जैसे स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मानसिकता वाले, परिवार-पर्यावरण व परिवेश के प्रति सजग सेवा समपर्ण से युक्त, श्रम साधक, दया-समता से युक्त परिवार व समाज की मनोवांछित उन्नति के उपासक को प्रस्तुत किया है जो अपनी समस्त प्रतिरोधी शक्तियों पर विजय पताका फहरा देता है। समाज में अपनी स्वच्छ आकांक्षाओं को अपने संघर्ष से मथनें वाले ऐसे युवा निश्चित ही नवनीत को ग्रहण करनें वाले होंगे, समाज के राग, शोक, भूख, दुःख उन्हे विचलित नही कर सकते है।

'सुशीला'नाटक सामाजिक संघर्ष में जिजीविषा का ताना बाना बुनती हुई स्त्री संघर्ष की मशाल स्वरूप है। सामाजिकता के विभिन्न आयामों का परिशीलन आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने सुशीला के माध्यम से किया है। गरीबी, नारीवादी संघर्ष, धार्मिक केन्द्रो की दूषितता, जातीय व्यवस्था से मूल्य संघर्ष तक, आर्थिक उहापोह, पुत्र लालसा, आर्थिक स्वायत्तता आदि का प्रतिबिम्ब इस नाटक में दिखाया गया है। भारतीय सामाजिक वातावरण में सदियों से चली आ रही परम्पराओं के परिणाम स्वरूप दुःखों व परेशानियो में आबद्ध मनुष्य इन्हें नियती व ईश्वर का प्रसाद मानकर आत्मसात् कर लेता है, फलस्वरूप परिवार को आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक दुराग्रह का शिकार होना जनसाधारण के जीवन का हिस्सा बन गया है। इन्हीं के मध्य संघर्ष की प्रवृत्तियों को आचार्य जी ने गति प्रदान की है सम्पूर्ण नाटक में समाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक पीड़ा से मुक्ति का उपाय खोजती हुई सुशीला समाज के समक्ष एक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत होकर गहन संदेश प्रेषित करती है। दुर्भाग्यवश अपने ही पुत्र की काम वासना का शिकार उसे बनना पड़ता है। परन्तु अन्त में सच्चाई ज्ञात होने पर कृष्णपाल द्वारा स्वयं व सुशीला के लिए दण्ड स्वरूप् राज्य द्वारा प्रायोजित प्रायश्चित स्वरूप दोनो की अग्नि परीक्षा में सुशीला का सुरक्षित बच जाना अग्नि गर्भा सीता के संघर्ष की कहानी का स्मरण कराता

है। अन्ततः कविवर स्त्री चेतनता का शंखनाद करते हुए कहते है कि- "स्त्री तू आत्म तेज को प्रकट करती हुयी इस संघर्ष में हिम्मत मत हारना।"

इस प्रकार डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी के नाटको में सामाजिक परिशीलन की दृष्टि से अनुसंधान के पश्चात में निष्कर्षत कह सकती हूँ कि कविवर का नाट्य साहित्य समाज के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए उसमे निहित संस्कार, रीति रिवाज, परम्पराओं, पुरूषार्थचतुष्ट्य, धर्म, ईश्वरोपासना, पर्यावरण-प्रेम, शोषण, भ्रष्टाचार, दलित चेतना, राजतांत्रिक व्यवस्थाओं, नारी शिक्षा, नारी स्वातंत्र्य, नारी सशक्तिकरण, दहेज प्रथा, अशिक्षा, मूल्यहीनता आदि का सूक्ष्मावलोकन करते हुए 'असतो मा सद्गमय' के नाद के साथ सामाजिकों के लिए श्रेय व प्रेय का मार्ग प्रशस्त करता है।

शोध सारांश

शोध सारांश

भाषा, समाज, सभ्यता और संस्कृति की अन्तः साक्षी होती है तथा साहित्य समाज का दर्पण। कवि की क्रान्त दृष्टि के माध्यम से जो प्रतिबिम्ब समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, उसके द्वारा जनाकांक्षाओं को अभ्युदय का आलोक प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य के मूल में हमारे वेद हैं, जिनमें हमारा भारतीय चिन्तन और सांस्कृतिक सोच है, जिसमें प्राणी मात्र में ईश्वरीय सत्ता के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि साहित्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का अनुकरण इस भूतल पर प्राणियों की आनन्द पिपास को शांत करता रहा है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने भी कहा है-

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे।।[1]

संस्कृत साहित्य हमें मानव मूल्यों की समरसता की प्रसविनी में प्रवाहित करता हुआ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सागर से मिलाते हुए व्यक्तिगत चिन्तन से ऊपर उठकर विश्वकल्याण अर्थात् लोकहित की भावना से जोड़ता है। यद्यपि नाट्य शास्त्र में शिवतत्त्व (लोककल्याण) एवं उपयोगितावाद समाज के सर्वाधिक हित के द्योतक है, जो मानवीय मूल्यों की समरसता की स्थापना करते है।

समय की कसौटी पर खरे उतरने वाला आचार्य त्रिपाठी कृत समीक्ष्य नाट्य साहित्य समाज में कल्याण का मार्ग प्रशस्थ करने के साथ ही साथ सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का सम्बल व संरक्षण करने वाला है।

कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा के धनी महामहोपाध्याय डा. त्रिपाठी जैसे मनीषी, लोकशास्त्र समन्वयक, व्यक्ति-चेतना से समष्टि तक के शोध यात्रा जीवन के आदर्श और यर्थात् का समन्वय कर काव्य रचना करने में निष्णात् बहुश्रुत व अतुल्य परमादणीय कविवर का नाट्य पुरातनता में समेंटे हुए है। आचार्य त्रिपाठीकृत प्रथम नाटक प्रेमपीयूषम् का प्रकाशन 1971 में संस्कृत परिषद् सागर से प्रकाशित किया गया। नाट्य रचना के इसी क्रम में तण्डुलप्रस्थम्, प्रेक्षणक सप्तकम् नामक नाट्य संग्रह तथा सुशीला, नामक नाटकों का प्रणयन व प्रकाशन हुआ है। समीक्ष्य नाट्य साहित्य भाव सौन्दर्य की महती विशेषताओं को अपने

कलेवर में समेटे हुए है। नाटककार ने अपने नाट्यों में मानव जीवन की व्यथा, विसंगति, संघर्ष, जिजीविषा और नियति के विधान की सांकेतिक व्यंजना की है तथा वर्तमान समाज में व्याप्त समस्याओं का चित्रण किया है। विश्व बन्धुत्व की भावना, राष्ट्रीयता तथा सामाजिक समरसता ही इन नाटकों के आराध्य तत्व हैं। जिनमें आर्य संस्कृति, संस्कार, जीवन-दर्शन, शोषण, वर्ण व्यवस्था, जमींदार से लेकर जनतांत्रिक व्यवस्था, संघर्ष, जिजीविषा शिक्षा-नीति, नारी-जागरण, पुरूषार्थ, चतुष्ट्य, आश्रम, मनोरंजन, त्याग-तपोवन आदि विषयों का वर्णन सामाजिक सरोकार की दृष्टि से किया गया है।

समीक्ष्य नाटकों पर लिखे गये शोध-प्रबन्ध में विषय सामग्री का विभाजन अध्यायों में किया गया है। इन्हीं अध्यायों के विस्तृत विवेचन का सार संक्षेप निम्न प्रकार है-

प्रथम अध्याय 'कविवर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व' इस शीर्षक में जन्म स्थान तथा काल, शिक्षा व शैक्षणिक उपलब्धियाँ, पदभार तथा कार्य क्षेत्र, विदेश यात्रा, पुरस्कार, सम्मान एवं शोध, नाटककार का रचना संसार, विविध संस्थाओं से अकादमिक संबन्ध आदि बिन्दु समाहित है। सांसारिक प्राणी अपने प्रशंसनीय सुकृत्यों से श्रमसाध्य परिश्रम से जगत् को आनन्दित करते हैं। ऐसे विरले ही महापुरूष होते हैं, जो अपनी ज्ञानचक्षु से सामाजिकों को सही राह दिखाते है, ऐसे ही एक महान पुरूष हैं- डा. राधावल्लभ त्रिपाठी। जिन्होंने अपनी काव्यकला से राष्ट्रहित का वह वटवृक्ष तैयार किया है, जो सदियों तक समाज का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा। उनकी रचना धर्मिता व सूक्ष्म दृष्टि का ही फल उनकी विलक्षण काव्य प्रतिभा है। संस्कृत साहित्य के सुधी समीक्षक एवं सुपरिचित कवि आचार्य त्रिपाठी का जन्म 15 फरवरी 1949 को मध्यप्रदेश के राजगढ़ जिले में हुआ। इनके पिता डा. गोकुल प्रसाद जी भी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। संस्कृत के प्रति प्रारम्भ से ही रूचि होने के परिणाम स्वरूप इन्होंने उच्चतर उपाधि डी.लिट् को प्राप्त किया।

आचार्य जी मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर में प्रवक्ता (1971), हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय में व्याख्याता (1973), इसी विभाग में

प्रवाचक (1979), कला संकाय में अधिष्ठाता (1985-86 तथा 1996-98), संस्कृत विभागाध्यक्ष (1980-2001 तथा 2005-2008) रहे।

इन्होंने बैंकाक के भारतीय दूतावास तथा शिल्पाकोर्न विश्वविद्यालय में भी अपनी सेवायें प्रदान की। जर्मनी के हुबोल्त विश्वविद्यालय, हालैण्ड में आयोजित सप्तम् विश्व सम्मेलन (1987) में वियना में अष्ठम् विश्व संस्कृत सम्मेलन, एडिनबरा में 13वें संस्कृत सम्मेलन में भी सफल प्रतिनिधित्व किया। लगभग 18 राष्ट्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठित पुरस्कारों को प्राप्त किया।

नीरक्षीर विवेकी समीक्षक व साहित्यकार डा. त्रिपाठी जी की काव्यधारा आज भी सतत् प्रवाहमान है। उनके अनुसार- ''रचना मुक्ति देती है, योग-साधना, ईश्वर आराधन से मुक्ति होती है या नहीं, यह मुझे विदित नहीं, पर रचना से होती है। मुक्ति वस्तुतः यही है, यही वास्तविकता है।''

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी की प्रमुख संस्कृत रचनाऐं - इसके अतिरिक्त आचार्य जी का अध्ययन व अनुसंधान का क्षेत्र व्यापक रहा है। 'त्रयी', 'चतुष्टयी', 'अर्थगौरवम्', 'दमयन्ती', 'भुवनदीप', 'पूर्वरंग', 'सत्रान्त', 'पागल हाथी', 'जो मिटती नहीं है', 'विक्रमात्यि कथा' इनके द्वारा सम्पादित पाठ्य पुस्तकें है, साथ ही विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन के साथ विभिन्न पुस्तकों का रूपान्तर भी किया गया है। वे स्वयं कहते हैं- ''मैंने लिखा भी बहुत अधिक है, जितना लिखकर छपा है उससे कई गुना अधिक तो अपना लिखा फाड़-फूड़ कर नष्ट भी कर दिया।''

उनकी कृतियों में कहीं भी कृत्रिमता नहीं झलकती है। भावपक्ष व कलापक्ष के सुन्दर समन्वय से युक्त काव्य रचना में विश्रुत उनके कीर्ति-स्तम्भ से आधुनिक संस्कृत साहित्य का क्षितिज विस्तार को प्राप्त होता रहेगा।

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी जी की प्रमुख संस्कृत रचनाऐं

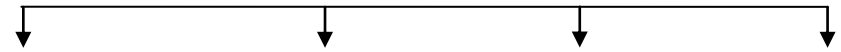

कथा	नाटक	काव्य	काव्य शास्त्रीग्रन्थ
• अभिनव शुक सारिका • विक्रमचरितम् • करूणा • उपाख्यानमालिका	• प्रेमपीयूषम् • तण्डुलप्रस्थम् • सुशीला • प्रेक्षणकसप्तकम् ➢ सोमप्रभम् ➢ मेघसंदेश ➢ धीवरशाकुन्तलम् ➢ मुक्तिः ➢ मशकधानी ➢ गणेशपूजनम् ➢ प्रतीक्षा ➢ मेघसंदेश	• अभिनव काव्यालंकार सूत्र • संधानम् • गीतधीवरम् • सम्पलव • लहरीदशकम् ➢ बसन्तलहरी ➢ निदाधलहरी ➢ प्रवृड लहरी ➢ धरित्रीदर्शन लहरी ➢ जनता लहरी ➢ रोटिका लहरी ➢ नर्मदा लहरी ➢ मृतिकालहरी ➢ प्रस्थान लहरी	• अन्न्यवनिका • बहिर्यवनिका • बहिर्यवनिका • गीत वल्लरी • नमोवाक्

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत 'संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं क्रमिक विकास' का अतिसूक्ष्म में लेखन किया है। काव्य के दो भेद होते है-

(1) दृश्य काव्य

(2) श्रव्य काव्य

श्रव्य काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य आख्यान एवं ऐतिहासिक काव्यों की गणना होती है। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक और

उपरूपकों की गणना होती है। दृश्य काव्य को दृश्य कहे जाने का कारण यह है, कि वह नायक की अवस्था की अनुकृति को दृश्य रूप में मंच पर प्रस्तुत करें।

"अवस्थानुकृति ..... रूपकं तत्समारोपात्।।"[2]

नाट्य शब्द जो रूपकवाची है, सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में शीर्ष स्थान प्राप्त करता है। भरतकृत नाट्यशास्त्र को 'कलाओं का विश्वकोश' कहा जाता है।

अभिनव गुप्त ने रूपक का निवर्चन करते हुए कहा है-

''रूप्यते प्रत्यक्षी क्रियते योऽर्थः।

तद्वाचाकत्वात् काव्याणि रूपाणि।।"[3]

संस्कृत रूपक के 10 भेद स्वीकार किये गये हैं -

(1) नाटक

(2) भाण

(3) प्रकरण

(4) प्रहसन

(5) डिम

(6) व्यायोग

(7) समवकार

(8) वीथी

(9) अंक

(10) ईहामृग

नाट्य भेदों के अति लघूत्तम् लेखन के पश्चात् नाट्य की उत्पत्ति विषयक मतों को जान लेना प्रासंगिक है। नाट्य उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न वाद निम्न हैं -

(1) दैववाद (2) सूक्तवाद

(3) नृत्यवाद (4) पुत्तलिकावाद

(5) छायानाटक वाद (6) वीरपूजा वाद

(7) जवनिकावाद (8) रोक प्रभाव

(9) लोक स्वांगवाद (10) वैदिक अनुष्ठानवाद।

यद्यपि ये सभी मत अपने-अपने स्वरूप में मान्य है, तथापि विभिन्न समीक्षकों ने इन मतों पर अपनी-अपनी समीक्षा लिखी है।

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के विषय में कोई एक मत सर्वग्राह्य नहीं है। यद्यपि वेदों की उत्पत्ति से ही यह धारा प्रवाह्यमान है, वहीं से अभिनय का प्रस्फुटन प्रारम्भ हो गया था।

संस्कृत नाटकों का उद्भव वैदिक काल से स्वीकार्य होने पर भी तात्कालीन नाटक अनुपलब्ध है, किन्तु महाकवि भास के नाटकों के प्रणयन से लेकर अद्यतन संस्कृत नाटकों की धारा अविच्छिन्न गति से प्रवाहित हो रही है। इस नाट्यधारा को हम पाँच युगों में बाँट सकते हैं-

(1) विकास का युग
(2) पूर्ण विकास
(3) ह्रासोन्मुखता
(4) ह्रास का युग
(5) पुनर्जागरण

संस्कृत नाटक के प्रथम रचनाकार भास मानें जाते हैं। पतंजलि के महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बालिवध' नाटकों का उल्लेख है परन्तु वे अप्राप्त है। यद्यपि इस विषय में बहुत विवाद है। किन्तु 1906 में महामहिम गणपति शास्त्री ने त्रावणकोर में भास के 13 नाटकों की सफल खोज की है। भास के परवर्ती शूद्रक अश्वघोष, कालिदास, सम्राट हर्षवर्धन, भवभूति विशाखदत्त, मुरारी, शक्तिभद्र, आचार्य, दामोदर, राजशेखर, दिड्नाग, कृष्णमिश्र, जयदेव आदि भी प्रमुख नाटककार हुए है।

इसी क्रम में आधुनिक नाट्य लेखकों में गोविन्द प्रसाद शास्त्री, विद्याधर शास्त्री, डा. हरिराम आचार्य, डा. देव शर्मा वेदालंकार, कलानाथ शास्त्री, डा. प्रभाकर शास्त्री, डा. नारायण शास्त्री कांकर का नाम उल्लेखनीय है। जिन्होंने अपनी अद्भुत नाट्य रचनाओं से संस्कृत साहित्य को मण्डित किया है।

तृतीय अध्याय 'सामाजिक परिदृश्य का स्वरूप एवं अर्थ' के अन्तर्गत समाज की अवधारणा समाज एक से अधिक लोगों का समुदाय है जहाँ सभी मानवीय क्रियाकलाप करते हैं जिसमें सामाजिक सुरक्षा और निर्वाह का भाव भी

समावेशित रहता है, को स्पष्ट करते हुए विभिन्न समाज शास्त्री व सामाजिक संगठनों के अनुसार समाज की परिभाषाओं को प्रस्तुत किया है। समाज निर्माण के लिए आवश्यक दशाओं समाज की रक्षा, समाज में कार्य विभाजन, समूह की एकता सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता की महत्ता बताई गयी है कि किसी भी एक दशा की प्रतिकूलता होने पर समाज में विसंगतियाँ व अलगाव की स्थिति प्रकट होने लगती है। साथ ही डा. राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित समाज की संरचना भी इस अध्याय में वर्णित है। आधुनिक युग में समाज में संघर्ष दृष्टिगत का होता है । आचार्य त्रिपाठी जी ने अपने नाट्य साहित्य प्रेमपीयूषम्, सुशीला प्रेक्षणकसप्तकम् में सामाजिक समस्याओं को सशक्त आधार के साथ दृश्य पटल पर उतारा है। 'प्रेमपीयूषम्' के उत्कृष्ट नायक-नायिका के चरित्र व भवभूति के स्वाभिमानी व्यक्तित्व तथा स्त्री पुरूष की एक-दूसरे के प्रति पूरकता का वर्णन, 'सुशीला' नाटक में उजागर हुई आर्थिक विपन्नता, नारी शोषण, सामाजिक पारिवारिक संघर्ष, परिवार का महत्व आदि बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। 'प्रेषणकसप्तकम्' एकांकी संग्रह में एकांकीयों के माध्यम से जीवन के संघर्षों, विकारों, वासनाओं, कुंठाओं, कल्पनाओं, अच्छाइयों एवं बुराइयों, सामाजिक कुरूतियों, नारी की विविध व्यथाओं स्त्रीयों के प्रति समाज का दृष्टिकोण, राजनैतिक भ्रष्टाचार, धार्मिक आडम्बर आदि विसंगतियों का विस्तृत वर्णन इस अध्याय में उदाहरणों के साथ किया है।

चतुर्थ अध्याय 'कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में पारिवारिक संरचना' है। समाज की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक महत्त्वपूर्ण और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। समाज के प्रत्येक स्तर चाहे निम्न हो अथवा उच्च स्तर का उनमें पारिवारिक संघटन अवश्य होता है। परिवार में ही सामाजिक संबन्धों के कारण व्यक्तित्व का विकास होता है, इन सम्बन्धों के अभाव में सभ्य मानव समाज की कल्पना सम्भव नहीं है। यह समाज की प्रथम ईकाई है। अतः परिवार सार्वभौमिक व आदिकाल से विद्यमान रहा है। यद्यपि परिवार में रहते हुए इसके मुख्य प्रयोजन पुत्र प्राप्ति, धर्माचरण, रति का निर्वाह करना भी परिवार को सुनियोजित बनाता है। आचार्य त्रिपाठीकृत सुशीला रूपक में भी दिखाया गया है, कि चाहे राजा हो, प्रजा हो, ब्राह्मण हो, शुद्र हो, स्त्री हो या पुरूष पुत्र प्राप्ति

की इच्छा सभी में समान रूप से रहती है। कविवर ने अपने नाटकों में परिवार की संरचना के माध्यम से जीवन के विभिन्न आयामों को दिखानें का प्रयत्न किया है, क्योंकि परिवार के बिना मनुष्य का सामाजिक, मानसिक और आर्थिक विकास होना सम्भव नहीं है-

''काशी न यामो मथुरा न यामः न यामो ग्रामस्वीयम्।
नो हम्र्य नो रथमिच्छामः इच्छामः स्वीयकुटीरम्।।"[4]

कविवर ने परिवार के विकासात्मक स्वरूप को बताते हुए एक विवाही एकांकी परिवार को ही अपने नाट्य साहित्य का अंग बनाया है। 'सुशीला' नाटक में पुनर्विवाह का मर्यादीत रूप प्रस्तुत करके समाज को युगानुसारी नई दिशा भी प्रदान की है। किन्तु साथ ही समाज के कटाक्ष भी कवि ने पर्दे के समक्ष रखे हैं-

"परमेतत् सत्यम्। अस्याः कारणात् भोलुकस्य गृहं गृहं जातम्। तस्या स्त्रीयदाममाद्, ततः प्रभृत्यसौ अतथाविध आसीत्।"[5]

माना जाता है कि मातृ प्रधान परिवार का अस्तित्व पितृ प्रधान परिवार से पूर्व अस्तित्व में आया, परन्तु आधुनिक भारतीय परिवार पितृ प्रधान हैं। डा. त्रिपाठी जी के नाटकों में भी आधुनिकता के स्वर दिखायी देते हैं, पुरूष प्रधान परिवार की प्रमुखता उनके नाटकों में द्रष्टव्य है। ''सुशीला" नाटक में छाछ बेचने वाली स्त्रियों के संवाद से स्पष्ट ध्वनित होता है, कि समाज पुरूष की सत्तात्मकता को पूर्णतः आत्मसात् कर चुका है-

"स्त्री-5 - तक्रविक्रव्याजेन इति वक्तव्यम्।

स्त्री-2 - कथं व्याजो नाम।

स्त्री-3 - शृणुत अस्याः जल्पितम्, तक्रविक्रयो नाम अस्माकम् जीविका। तत्र को नाम व्याजः।

स्त्री-4 - सत्यमियमाह। यदि न गृहाद् बर्हिगच्छामः तर्हि कुग्वध्व इव असूर्यम्पश्या भविष्यामः। गृहे मरिष्यामः।"[6]

परिवारिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में डा. राधावल्लभ जी के नाटकों में एक स्वरूप यह भी उभर कर आता है, कि अपराध चाहे किसी का हो किन्तु स्त्री को ही आक्षेप झेलना पड़ता है। 'सुशीला' प्रेक्षणक, 'सोमप्रभम्' एकांकी, 'प्रतीक्षा' एकांकी इसके उदाहरण है। जहाँ पारिवारिक सम्बन्धों की रक्षार्थ स्त्री को ही कड़वा

घूँट पीना पड़ता है। प्रत्येक स्थिती में स्त्री ही परिवार में सम्बन्धों को बचाने का प्रयास करती हुई दिखायी देती है।

पंचम अध्याय "कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटको में निहित सामाजिक परम्पराएँ' के अन्तर्गत सामाजिक परम्पराओं के विषय में सूक्ष्म लेखन करने के पश्चात् षोडष संस्कारों तथा उन संस्कारों का नाटककार के नाटकों में अन्वेषण करते हुए आचार्य जी के नाटकों में निहित लोकाचार, कुलाचार तथा शास्त्राचार का वर्णन किया है। भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण वर्णाश्रम व्यवस्था का भी वर्णन समीक्ष्य नाटकों के आधार पर किया है। सृष्टि निर्माण की नैतिक आवश्यकता विवाह की आवश्यकता तथा उसके द्वारा पुरूषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति के लक्ष्य को कविवर ने 'सुशीला' प्रेक्षणक में भोलू के विवाह के माध्यम से बताया है। विवाह के निन्दनीय स्वरूप की चर्चा 'धीवरशाकुन्तलम्' में हुई है तथापि कविवर के नाटकों के पात्र कन्या क्रय जैसी कुप्रथाओं का विरोध कर विवाह में संयमित रूप को ही अपनाने के पक्षधर दिखाई देते हैं।

'सोमप्रभम्' एकांकी की नन्ही पात्र सोमप्रभा से लेकर कवि भवभूति, तण्डुलप्रस्थम् के मुख्य पात्र निरंजन, 'सुशीला' एकांकी की नायिका सुशीला आदि सभी अपने-अपने धर्मों का पालन निष्ठा पूर्वक करते हुए दिखाये गये हैं, जो आदर्श समाज की महती आवश्यकता है।

'मेघसंदेश' एकांकी में बाल पात्रों के माध्यम से प्रकृति का सुन्दर मानवीकरण किया गया है। एकांकी में कवि स्वयं भी मुक्त हृदया भावभूमि पर स्थित हैं। मेघ तक पत्र पहुँचानें की कल्पना भी निश्चल मन वाला कवि ही कर सकता है। कविवर ने इस एकांकी के माध्यम से पर्यावरण असन्तुलन की पीड़ा से त्रस्त बालक सौरभ की ऋजुता का मनोहारी चित्रण किया है, वह तो अपने पिता के द्वारा मेघ को चाय तक के लिए आमन्त्रण देना चाहता है- "पित! मेघमपि चायपानार्थमाहवयाम् किम्।"[7]

'षष्ट अध्याय' इस अध्याय में 'कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में निहित सामाजिक कुरीतियों' का वर्णन किया गया है। त्रिपाठी जी का लिखने के प्रति जो लगाव है वह सामाजिक सरोकार से जन्मी उनकी चिन्ताओं का ही प्रतिफल है। बडे नाटककार की यही विशेषता है, कि वह समाज को स्त्री-पुरूष की

हीन और श्रेष्ठता से परे समाज की धुंधली आकृति को खोजता है। आचार्य जी ने स्पष्ट किया है, कि व्यक्ति से अधिक महत्त्व समाज का होता है। अतः समाज की विकृतियाँ राष्ट्र को निश्चय ही प्रभावित करती है। इसलिए राष्ट्र के उत्थान और पतन के लिए समाज की जिम्मेदारी महत्त्वपूर्ण है। कविवर ने भारतीय समाज में व्याप्त वर्णव्यस्था, जातिवाद, अंधविश्वास दहेज-प्रथा, भ्रष्टाचार, शोषण आदि कुरीतियों को न केवल अपने नाटकों का लक्ष्य बनाया है अपितु इनसे उत्पन्न समाज की बीमारू मानसिकता को भी उजागर किया है।

'सोमप्रभम्' एकांकी में दहेज लोभी चरित्र को प्रस्तुत किया है, जो कि वर्तमान में समाज में प्रतिष्ठा का पर्याय बनता जा रहा है। दहेज के लिए वधूदहन करने वाले क्रूर सास-ससुर के कृत्यों से लेखक संदेश देना चाहते हैं, कि आज 21वीं सदी में उच्च शिक्षित तथा नौकरीपेशा होने पर भी स्त्री को स्त्री होने का श्राप कैसे झेलना पड़ता है।

शोषण के भिन्न-भिन्न कारणों मुख्यतः स्वार्थ, लोभ, ईष्र्या व घृणा, अभिलाषा पूर्ति, क्रोध, अहंकार सभी को आचार्य राधावल्लभ जी ने अपने नाट्य साहित्य का अंग बनाया है।

भ्रष्टाचार के दंश से भारतीय लोक का प्रत्येक क्षेत्र आहत है, जिसकी छाया कविवर के भिन्न-भिन्न नाटकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भ्रष्टाचार के रूप में इंगित की है। 'सुशीला' नाटक में राजनैतिक भ्रष्टाचार, धीवरशाकुन्तलम्' व प्रेमपीयूषम् में प्रशासनिक भ्रष्टाचार, 'गणेश पूजन' एकांकी में धर्म की आड़ में स्वार्थ सिद्धि हेतु बुलाकीराम की प्रयत्नशीलता, 'सुशीला' नाटक में वामनों व ठाकुरों की स्त्रीयों द्वारा सामाजिक भ्रष्टाचार का वर्णन है जिस पर व्यंग्य करती हुई सुशीला कहती है -

"इदानीन्तनाः क्षत्रियाः ऋणं कृत्वा तक्रं पिबन्ति न घृतम्।"[8] 'सोमप्रभम्' एकांकी के माध्यम से लेखक ने बताया है कि आधुनिक पढ़ा लिखा समाज भी सामाजिक भ्रष्टाचार के दंश से मुक्त नहीं हो पाया है, जिसके कारण पुत्र-पुत्री भेद को भी प्रभावी स्वर मिलते है।

"गणेश पूजनम्' एकांकी में भ्रष्टाचार पर कटाक्ष करते हुए नाटककार ने उद्देश्य किया है कि व्यक्ति को कर्म करते हुए ही अपनी मुक्ति की ओर आश्वस्त होना चाहिए।

भ्रष्टाचार के साथ ही शोषण के विरूद्ध भी कविवर ने अपनी लेखनी चला कर दलित समस्याओं के प्रति अपनी संवेदना व 'सर्वजन सुखाय' की मानवीय भावना को उजागर किया है।

'सप्तम अध्याय' 'कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों में स्त्री विमर्श' है। अध्याय के नाम में निहित स्त्री विमर्श व्यापक अर्थ को समेटे हुए है जिनमें नारी शिक्षा, नारी स्वातंत्र्य, नारी सशक्तिकरण प्रमुख है।

आचार्य राधावल्लभ जी के नाट्य साहित्य में स्त्री ने अपने जीवन में संघर्ष के साथ विमर्श करना सीख लिया है। पुरूष प्रधान समाज में स्त्री द्वारा उसके अधिकार व अस्तित्व के चिन्तन की तलाश इस अध्याय में वर्णित है। स्त्री की देवी सी शक्ति ऋषियों से धैर्य व ज्ञान की परीक्षा स्त्री को पग-पग पर देनी पड़ी है। किन्तु चारों दिशाओं को आलोकित करने वाली स्त्री स्वयं पुरूषवादी समाज द्वारा निर्मित अन्धकार में न डूब जाये इस हेतु स्त्री वर्ग को सचेत करने का स्तुत्य प्रयास कविवर के नाटकों ने किया है। उन्होंने स्त्री के सभी रूपों में उसके स्वाभिमान, धैर्य, साहस, कत्र्तव्यनिष्ठा, चारित्रिक बल एवं विपत्ति को भाँप लेने की दूरदर्शिता की शक्ति का यत्र-तत्र वर्णन बहुत ही सहज अभिव्यक्ति के रूप में किया है। अपने वृहत् साहित्य सृजन के अन्तर्गत नाटकों के माध्यम से नारी शक्ति का समर्थन ''यत्र नार्यस्तु पूज्यते....."[9] के साथ किया है।

आचार्य जी नाटकों में नारी के उस स्वरूप का वर्णन किया गया है, जहाँ वह कोमलांगी होने के साथ-साथ विचाशीला, तर्क-वितर्क करने वाली तथा स्वयं के जीवन का परीक्षण करने वाली है। जीवन में कदम-कदम पर आने वाली समस्याओं का वह डट कर सामना करती है। उनके नाटकों के स्त्री पात्रों की यही विशेषता उन्हें अन्य नाटकों से इतर बनाती है, कि उनके नाटकों में स्त्री पात्र शिक्षित व सजग होने के साथ समाज में परिवर्तन लाने का हौंसला रखते है।

''सोमप्रभम्" की प्रमुख पात्र विमला यद्यपि ससुराल में दहेज के अभिशाप के कारण दुःख झेलती है, किन्तु अपनी छोटी सी पुत्री को सही गलत की पहचान करना भलीभाँति सीखा देती है। यही कारण है, कि अपनी माँ पर हो रहे अत्याचार को देखकर व पुलिस बुलाकर अपनी माँ की जान बचा लेती है।

"प्रतीक्षा" नाटक की प्रमुख पात्र कल्पना भी शिक्षा के सहारे अपने परिवार की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहयोग करती है। यहाँ तक कि 'प्रेमपीयूषम्'' नाटक में राजकुमारी शशिप्रभा के साथ-साथ उसकी परिचारिकाओं का भी कला, नीति निपुण होना आचार्य जी को स्त्री शिक्षा कला, नीति निपुण होना आचार्य जी को स्त्री शिक्षा के समर्थक व पोषक के रूप को स्थापित करता है।

डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने आज की नारी की स्वतन्त्रता, स्वाधीनता व नारी मुक्ति की आचाज के स्वरों को अन्तःतल की गहराई में महसूस किया है। 'प्रेमपीयूषम्' नाटक में राजकुमारी शशिप्रभा की छटपटाहट व स्वतन्त्रता के प्रति आह्वान का वर्णन है। मनुष्य की दुर्वासनाओं पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करने वाली 'प्रतीक्षा', 'एकांकी' में कल्पना एक आम स्त्री की आत्मवेदना को व्यक्त करती हुई 'सुशीला' नारी स्वातंत्र्य के लिए एक आन्दोलन है उस समाज के प्रति जहाँ "उसकी पहचान रिश्तों के कारण है, जिसका जितना स्वार्थ है वह उतना उसे पहचानता है, किन्तु स्वतन्त्र स्त्री के रूप में उसे पहचाना ही नहीं गया।" किन्तु सुशीला व कृष्णपाल सिंह के सहचर से हुए अपराध में पुरूष को भी समाज मार्मिक समान दोहरी को परिवार रूप से अपराधी बताकर आचार्य जी ने स्त्री विषयक न्याय दृष्टि भी प्रस्तुत की है।

"सोमप्रभम्" नाटक में सास की गालियाँ सुनते हुए भी घर व बाहर की दौहरी जिम्मेदारी को वहन करने के साथ ही अपनी पुत्री की परवरिश अकेले कर विमला स्त्री सशक्तिकरण का उदाहरण प्रस्तुत करती है। कवि आज के ऐसे समाज की छवि दिखाने का प्रयत्न करते हैं, जहाँ स्त्री से आर्थिक सहयोग की अपेक्षा तो की जाती है, किन्तु उसकी आर्थिक आजादी का बर्दास्त नहीं किया जाता है। "प्रतीक्षा' एकांकी में समाज की मलिनता से भयभीत कल्पना का परिवार, 'तण्डुलप्रस्थम्' नाटक में आचार्य पंचानन मिश्र की भार्या का पुरूष वेश धारण करना, 'सुशीला' प्रेक्षणक में सुशीला के अन्तः बाह्य संघर्ष का वर्णन किया गया है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी के स्त्री पात्रों के माध्यम से समाज में संघर्षरता स्त्री के मनोद्वन्द्वों, विवशता, सूक्ष्म मनोदृष्टि, श्रम-साधना, कत्तव्य परायणता आदि का वर्णन इस अध्याय में किया है, जिनके माध्यम से कवि शास्त्र एवं लोक के मध्य नारी दुर्दशा की खाई को समाप्त करने का सशक्त प्रयास कर स्त्री-विमर्श को गति प्रदान करते हैं।

अष्ठम् अध्याय 'नाटकों की समसामयिकता' शीर्षक को दृष्टिपटल पर उतारने पर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी जी का रचना संसार किसी विधा या व्यवस्था को लेकर संकुचित न होकर अत्यन्त व्यापक और बहुमुखी है। सामाजिक सरोकार के प्रत्येक पक्ष पर आपने अपनी लेखनी चलाई है जो प्रेरणास्पद व उत्साह का संचार तो करती है किन्तु मानवीय संवेदनाओं की सच्ची अनुभूति के साथ पाठकों के समक्ष रखने में कविवर को सिद्धहस्तता प्राप्त है। त्रिपाठी जी ने व्यर्थ के कल्पनालोक में विचरण करने की अपेक्षा आधुनिकता की आवश्यकता को अपनी रचना धार्मिता के रूप में आत्मसात् किया है। कविवर ने अपने वण्र्य-विषय के रूप में समसामयिक मुद्दे शोषण, दहेज, स्त्री-विमर्श, धार्मिक आडम्बर, राजशाही तन्त्र, शिक्षा का बाजारवाद आदि अपने आस-पास की समस्याओं को समेटकर आज के परिपे्रक्ष्य में प्रस्तुत किया है।

वर्तमान समय में लुप्त होती जा रही मनुष्यता या मानवीयता के वशीभूत मनुष्य सामाजिक विद्रूपताओं को आत्मसात् कर रहा है। इसी हेतु सुधी पाठकों को 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का भाव जगा देने वाले साहित्य का सृजन समय की आवश्यकता है। कविवर ने जिन सामाजिक तथ्यों, बुराईयों व परम्पराओं कुप्रथाओं आदि का स्वविवेक से परीक्षण कर वर्तमान समाज को जो संदेश दिया है वह आधुनिक समय में लोक व्याप्तियों में उपयोगी सिद्ध होगा। इनके नाटक वर्तमान समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, पर्यावरण आदि की चिन्ता प्रासंगिक और युगानुसारी है।

उपसंहार के रूप में शोध निष्कर्ष का प्रतिपादन किया गया है। कविवर डा. राधावल्लभ त्रिपाठी का सम्पूर्ण नाट्य साहित्य दहेज, शोषण, सामजिक राजनैतिक, आर्थिक भ्रष्टाचार, दलित समस्याओं, भय, भूख, अशिक्षा, रूढ़िवादिता, जातिवाद, लैंगिक असमानता की दिवारों को लाँघता हुआ अपने कलेवर में भारतीय संस्कार, रीति-रिवाज वर्णाश्रम व्यवस्था, विवाह पद्धतियों, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि पुरूषार्थ चतुष्टय, धर्म एवं ईश्वरोपासना, पर्यावरण-प्रेम की स्थापना करते हुए असतो मा सद्गमय का मार्ग प्रशस्त करने वाला है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सामाजिक परिदृश्य में नवीन आलोकपुंज को प्रसारित करने में आचार्य त्रिपाठी द्वारा विरचित नाट्यसाहित्य का अप्रतिम योगदान रहेगा।

परिशिष्ट में डा. राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों के स्फुट पद्यों का संकलन है तथा अन्त में सन्दर्भ व सहायक ग्रन्थ सूची दी गई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी का वाङमय् - (मौलिक/सम्पादित/समीक्षित/अनुदित)

(क) संस्कृत -

1. उपाख्यानमालिका, डा. राधावल्लभ त्रिपाठी-प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-1998
2. अभिनवशुकसारिका (आख्या), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि., वाराणसी-2004
3. तण्डुलप्रस्थम् - प्रकरण, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-1999
4. सुशीला प्रेक्षणकम्-एकांकी, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-2002
5. सन्धानम्-कविता संग्रह, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद्, सागर 1986
6. लहरीदशकम्-लहरी संग्रह, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली (द्वितीय संस्करण)-2003
7. गीतधीवरम्-गीतिकाव्य, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद्, सागर 1996
8. सम्प्लवः-कविता संग्रह, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-2000
9. संस्करण् (कविता संग्रह), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, लाल बहादुर संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली-2011
10. समष्टिः (कविता संग्रह), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, देववाणी परिषद्, दिल्ली-2010
11. स्मित रेखा (कथा संग्रह), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत भारती, माता मन्दिर गली- 2011
12. षोडषी-काव्य संकलन (सम्पादित), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, साहित्य अकादमी दिल्ली-1992
13. कवि द्वादशी (सम्पादित), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-2006
14. रूमी रहस्यम् (अुनदित)-संस्कृत भारती नई दिल्ली-2011
15. अहमीच्छे (अुनदित) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली ई-बुक-2012
16. अर्धकथानकम् (अनुदित उपन्यास) संस्कृत भारती-2013
17. भारतीयर समुन्मेषः, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1981
18. महाकवि कण्टकः, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1971
19. आदिकविः वाल्मीकि, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1971

20. नाट्यमण्डपम्, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1980
21. थाई देशस्य इतिहासः संस्कृतिश्च (यात्रा वृतान्त), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-2005
22. पंचवटी (मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का अनुवाद-पद्यात्मक), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1998
23. नवस्पन्दः (सम्पादित) आधुनिक काव्य संग्रह, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल-1988
24. प्रख्या (सम्पादित) भाग-1, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1989
25. भारतीय धर्म और संस्कृति, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद-1972
26. संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर- 1976
27. काव्य शास्त्र और काव्य, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, मैकमिलन इण्डिया-1982
28. संस्कृत साहित्य को इस्लाम परम्परा का योगदान, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1986
29. संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर- 1986
30. नाट्य शास्त्र के बीज शब्द भाग 1, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1986
31. महाकवि भवभूतिः और उनका नाट्य लोक (संपादित), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1986
32. कालिदास की समीक्षा परम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1987
33. कालिदास परिशीलन, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1987
34. नाट्य शास्त्र के बीज शब्द (भाग-2), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद सागर-1988
35. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी-2001
36. संस्कृत काव्य शास्त्र और काव्य परम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन-2004
37. भारतीय काव्य शास्त्र की आचार्य परम्परा, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, वि.वि. प्रकाशन, वाराणसी-2004

38. संस्कृत महासूक्ति संग्रह (काव्य खण्ड सम्पादन), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत अकादमी दिल्ली-2004
39. सदुक्ति कर्णामृत, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत अकादमी दिल्ली-2007
40. त्रयी (सं.), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी
41. चतुष्टयी (सं), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, वही
42. विक्रमचरितम् (उपन्यास), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-2000
43. प्रेमपीयूषम्-नाटक, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत परिषद्, सागर 1970
44. प्रेम सप्तकम् एकांकी संग्रह, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-1997
47. अभिनवकाव्यालंकारसूत्रम्, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, हिन्दी व्याख्या रमाकान्त पाण्डेय, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-2009
48. अन्यच्च (उपन्यास) राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत भारती-2011

(ख) हिन्दी -

1. दमयन्ती (नाटक) नाट्य परिषद् सागर-1991
2. भुवनदीप, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, 1992
3. विक्रमादिव्य कथा (उपन्यास), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञान पीठ-2004
4. पूर्वरंग कहानी संग्रह (क. संग्रह) चित्र लेख प्रकाशन, इलाहाबाद-1978
5. पागलहाथी (कहानी संग्रह), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, अलंकार प्रकाशन-1986
6. सत्रन्त (उपन्यास)-इलाहाबाद-1979
7. चतस्र (स्वरचित संस्कृत कविताओं का काव्यानुवाद), प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत साहित्य अकादमी, दिल्ली-2006
8. पेड़ों की दुनिया में- डा. राधावल्लभ त्रिपाठी, माधव प्रेस स्मृति समाचार पत्र संग्रहालय एवं शोध संस्थान, भोपाल

2. अन्य संस्कृत संन्दर्भ/सहायक ग्रन्थ -

1. ऋग्वेद: विश्वबन्धु (संपा) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियानपुर-1964
2. यजुर्वेद: गायत्री तपो भूमि (युग निर्माण योजना) मथुरा 2009
3. सामवेद वही 2010
4. अथर्ववेद: विश्वबन्धु (संपा) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियानपुर-1964
5. ऐतेरेय ब्राह्यण: सायण भाष्य हांग द्वारा सम्पादित, बम्बई-1963
6. तैत्तरीय ब्राह्यण: मोतीलाल बनारसीदास-1985
7. शतपथ ब्राह्यण: लक्ष्मी वेंकटेश्वर मुद्रणागार कल्याण, मुम्बई-1940
8. कठोपनिषद्: गीता प्रेस गोरखपुर-2021
9. श्वेताश्वतरोपनिषद्: वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
10. ईशावास्योपनिषद्: चोखम्भा संस्कृत सीरिज वाराणसी-1967
11. छान्दोग्य उपनिषद्: गीताप्रेस गोरखुपर सं.-2050
12. मुण्डकोपनिषद्/एकादशोपनिषद्: मोती लाल बनारसीदास दिल्ली-1993
13. मनुस्मृति: जयन्त कृष्ण हरिकृष्ण दवे (सपां) भारतीय विद्या भवन, बम्बई-1972
14. रामायण: वाल्मीकि महामुनि, श्री निवास शास्त्री, श्री सात मुखोपाध्याय शर्मा (सपा) परिमल पब्लिकेशन दिल्ली-1983
15. महाभारत: गीता पे्रस गोरखपुर वि.सं. 2025 तृतीय संस्कृरण
16. विवाह पद्धति: सरस्वती प्रकाशन, अजमेर सं.-2055
17. चाणक्य नीति: गीता पे्रस गोरखपुर सं.-2058
18. श्रीमद् भागवत महापुराण: गीता प्रेस गोरखपुर 17वाँ संस्करण, सं.-2055
19. श्रीमद्भगवद् गीता: गीता पे्रस गोरखपुर 91वाँ संस्करण, सं.-2060
20. संस्कृत साहित्य का इतिहास: डा. बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन वाराणसी-1987
21. संस्कृत साहित्य का इतिहास: ए.बी.कीथ, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली-1978

22. आधुनिक संस्कृत साहित्येतिहास: जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर-2011

23. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास: डा. बाबूराम त्रिपाठी विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा-1973
24. राधावल्लभ त्रिपाठी की समीक्षा परम्परा (संपा) डा. रमाकान्त पाण्डे, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर दिल्ली-2013
25. संस्कृत के अभिनव रचनाधर्मी: आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी (संपा) डा. कुसुम भूरिया दत्ता, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली-2014
26. संस्कृत आलोचना: डा. बलदेव उपाध्याय उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान-1978
27. संस्कृत रूपकों में दलित पात्र- डा. सारिका वाष्णेय, अनंग प्रकाशन उत्तरी घोण्डा दिल्ली
28. नाट्य शास्त्र: भरतमुनि (संपा) बाबू लाल शुक्ल शास्त्री, चोखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, तृतीय संस्करण वि.सं.-2057
29. काव्य प्रकाश: मम्मट (व्या. श्री निवास शास्त्री) साहित्य भण्डार, मेरठ-1989
30. साहित्य दर्पण: विश्वनाथ कविराज, व्या.-डा. सत्यव्रत सिंह शास्त्री चोखम्भा विद्या भवन, वाराणसी-1970
31. दशरूपकम्: धनंजय, व्या.-श्री निवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ-1986-87
32. व्यक्ति विवेक-महिम भट्ट: व्या.-डा. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चोखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
33. काव्यालंकार: रुद्रट व्या.- पं. रामदेव शुक्ल, चोखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
34. काव्यादर्श दण्डी: धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली 1973
35. अभिज्ञानशाकुन्तलम्: कालिदास व्या. एवं अभिषेक प्रकाशन, जयपुर
36. उत्तररामचरितम्: भवभूति, व्या.- ब्रह्मानन्द शुक्ल, साहित्य भण्डार, मेरठ 2004
37. रघुवंश-कालिदास (व्या.-कृष्ण कुमार) प्रकाशन केन्द्र लखनऊ-1972
38. साहित्यालोचन: प्रो. भारत भूषण सरोज-विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-1980
39. नीतिशतकम्: भतृहरि-रूपनारायण त्रिपाठी, आदर्श प्रकाशन, जयपुर
40. आधुनिक काव्य शास्त्र समीक्षणम्: डा. रमाकान्त पाण्डेय, अयुर्वेद संस्कृत पुस्तक भण्डार, जयपुर-2009
41. जानकीजीवनम्: राजेन्द्र मिश्र-वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद 1988

42. आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी कृत संस्कृत रूपकों का समीक्षात्मक अध्ययन, (शोध प्रबन्ध)
43. डा. राधावल्लभ त्रिपाठी के नाटकों का समीक्षात्मक अध्ययन शोध प्रबन्ध: डा. रूचि भार्गव, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर मध्यप्रदेश
44. भारतीय संस्कृति के मूल तत्व: रूपनाराण त्रिपाठी, श्याम प्रकाशन, जयपुर द्वि.सं.-2005
45. आधुनिक संस्कृत काव्य की परिक्रमा: डा. मंजुलता शर्मा, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली-2011
46. त्रिपथगा (नाट्य संग्रह) डा. हरिदत्त शर्मा, आंजनेय प्रकाशन, इलाहाबाद-1989
47. काव्यालंकार सूत्र: वामन, चोखम्भा सुरभारती संस्थान, वाराणसी
48. अभिराज यशोभूषणम्: राजेन्द्र मिश्र वैजयन्ती प्रकाषन, इलाहाबाद
49. उपनिषदों का तत्वज्ञान - डा. जयदेव वेदालंकार, प्रका. प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान हरिद्वार, संस्करण 1980
50. ऋग्वेद - व्या. दयानन्द सरस्वती प. दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, संवत् 2032
51. कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रका. साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ सं. 1969
52. छान्दोग्योपनिषद् - व्याख्याकार, घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
53. नीतिशतकम् - महाबलशास्त्री की टीका, प्रका. निर्णय सागर पे्रस, बम्बई, सं. 1938
54. नीतिशास्त्र के मूलसिद्धान्त - ले. डा. वेद प्रकाश वर्मा, प्रका. अलाईड पब्लिशर्स लि. नई दिल्ली, संस्करण 1994
55. भगवद् गीता - मधुसूदन सरस्वती, सनातन देवकृत चैखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, सं. 1996
56. भागवतपुराण - गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 1960
57. भारतीय दर्शन - आचार्य बलदेव उपाध्याय, चोखम्भा, ओरियन्टालिया वाराणसी, 1984
58. मनुस्मृति - हिन्दी टीका मणिप्रभा, प्रका. चोखम्भा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, वि. सं. 2041

59. वर्तमान जीवन में गीता का महत्व - डा. आर. सी. गुप्ता, प्रका. पी. एस. पब्लिकेशन, भोपाल सं. 1988
60. महावीर चरित - भवभूति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सं. 1934

61. यजुर्वेद - व्याख्या दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान नई दिल्ली सं. 2032
62. रघुवंश - व्याख्याकार आचार्य कृष्ण कुमार, प्रकाशन केन्द्र लखनऊ, सं. 1972
63. संस्कृत नाटक - लेखक ए. बी. कीथ., डा. उदयमान सिंह, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण 1987
64. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा - पाण्डेय एवं व्यास, प्रका. साहित्य निकेतन, कानपुर संस्करण 1988
65. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रका. शारदा निकेतन, वाराणसी, संस्करण 1982
68. मृत्युरयं कस्तूरी मृगोऽस्ति, डा. हर्षदेव माधव
69. नाट्य शास्त्र - अभिनव भारती
70. हर्षचरितम् - बाणभट्ट
71. कथा सरित्सागर/संस्कृत लोक कथाओं में लोक जीवन गोपाल लाल शर्मा, पृ.सं. 102
72. पारस्कर गृह्य सूत्र, 1/8/11
73. स्कन्दपुराण
74. मनु सहधर्म प्रतिज्ञा-6/21, उरुभंगम्
75. ऋषे क्षुब्ध चेतांसि - हर्षदेव माधव
76. साहित्य दर्पण - पं. विश्वनाथ
77. संस्कृत साहित्य का इतिहास (1) दास गुप्ता (2) हंसरात अग्रवाल
78. संस्कृत साहित्य के प्राचिन स्त्रोत जुथिका घोष
79. संस्कृत नाटक - ए. वी. कीथ
80. नाट्य दर्पण- रामचन्द्र गुणचन्द्र
81. नाट्य लक्षणरत्न कोश-सागर नन्दी
82. भाव प्रकाश - शारदा तनय
83. भाषा और समाज-रामविलास शर्मा

84. कुछ पुरानें लुप्त नाटक- डा.वी.राघवन
85. अभिनवभारती - गैयकवाड़ आरियन्टल सिरीज बड़ौदा
86. रसार्णव-सुधाकर सिंह भूपाल गर्वमेन्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्
87. आधुनिक संस्कृत साहित्य - हीरालाल शुक्ल
88. शास्त्रीय संस्कृत साहित्य का इतिहास-बी. रामबाबू
89. अर्वाचिन संस्कृत साहित्य - डा. श्री धर भास्कर वर्णेकर
90. रस गंगाधर - प. राज जगन्नाथ
91. श्रृंगार प्रकाश - भोज
92. नाट्य दर्पण - रामचन्द्र गुणचन्द्र
93. काव्यानुशासन - हेमचन्द्र
94. आधुनिक संस्कृत साहित्य - डा. हीरालाल शुक्ल
95. अलंकार शास्त्र का इतिहास - डा. कृष्ण कुमार, साहित्य भण्डार, सुभाष मेरठ
96. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास - केशव मिश्र
97. छन्द-शाकुन्तलम् शिवसागर त्रिपाठी
98. नाट्य समीक्षा-दशरथ ओझा
99. समीक्षा शास्त्र-सीताराम चतुर्वेदी
100. आधुनिक संस्कृत साहित्येतिहास - डा. रामकुमार दाधीच
101. संस्कृत साहित्य का इतिहास - डा. जयकृष्ण प्रसाद खण्डेलवाल
102. अलंकार सर्वस्व- रुय्यर, संपादक गिरिजा प्रसाद द्विवेदी
103. सं. नाटक में अति प्राकृत तत्व- डा. मूलचन्द्र पाठक
104. सं. सा. का आलोचनात्मक इति. (द्वि. भा,) रामजी उपाध्याय
105. नाट्य सा. (प्रथम खण्ड) - रामजी उपाध्याय
106. संस्कृत सा. का समीक्षात्मक इतिहास - कपिल देव द्विवेदी
107. भारतीय साहित्य शास्त्र - बलदेव उपाध्याय भाग-2, 2005
108. संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक - डा. श्याम शर्मा
109. ए स्टडी आफ हिस्ट्री टायनबी

3. अन्य (सन्दर्भ/सहायक ग्रन्थ) -

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास: डा. रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्र.सं.-वि.सं.-2041
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास: डा. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-1975
3. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास: डा. बच्चन सिंह, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद-2013
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास: डा. श्री निवास शर्मा, अशोक प्रकाशन नई सड़क, दिल्ली-2010
5. साहित्यिक निबन्ध: डा. गणपति चन्द्र गुप्त, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-2000
6. साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका: डा. मैनेजर पाण्डेय हरियाणा साहित्य अकादमी पंचकुला-2006
7. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श: जगदीश्वर चतुर्वेदी-अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर नई दिल्ली-2011
8. दलित सत्ता का सौन्दर्य शास्त्र: डा. सूरज बड़जात्या, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर नई दिल्ली-2010
9. भारतीयता की पहचान : विद्यानिवास मिश्र: - वाणी प्रकाशन, दिल्ली-1994
10. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और भारतीय साहित्य: डा. दयाकृष्ण विजय, धारिका पब्लिकेशन, दिल्ली-2006
11. समाज और नारी: मानचन्द खण्डेला, अरिहन्त पब्लिशिंग हाउस, जयपुर-2000
12. समकालीन आलोचना: वीरेन्द्र सिंह, पंचशील प्रकाशन, जयपुर-1989
13. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द: डा. बच्चन सिंह-राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
14. प्रसाद साहित्य में प्रणय का स्वरूप: डा. बद्री नारायण दीक्षित अर्चना प्रकाशन, अजमेर-1999
15. दूसरी परम्परा की खोज: प्रो. नामवरा सिंह, राजकमल पेपर बैंक्स, नई दिल्ली
16. इतिहास दर्शन - डा. बुद्ध प्रकाश

17. इतिहास प्रवेश - जयचन्द्र विद्यालंकार
18. आधुनिक भारत का इतिहास: बी. एल. ग्रोवर, यशपाल
19. प्राचीन भारत डा. राजबली पाण्डेय विश्वविद्यालय प्रकाशन चोक, वाराणसी
20. प्राचीन भारत का इतिहास - रमाशंकर त्रिपाठी
21. संस्कृत साहित्य का इतिहास - देवर्षि कलानाथ शास्त्री, पद्म शास्त्री जगदीश संस्कृत पुस्तकालय,झालानियों का रास्ता किशनपोल बाजार, जयपुर
22. प्राचीन भारत की शासन पद्धती - सदाशिव अल्तेयर
23. धर्मशास्त्र का इतिहास - लेखक पी. वी. काणे, प्रका. हिन्दी समिति सूचना विभाग उ.प्र. लखनऊ, 1965
24. धर्म और समाज - ले. डा. राधाकृष्णन्, प्रका. राजपाल एण्ड संस दिल्ली 1987
25. भविष्य का धर्म - श्री राम आचार्य, सम्पादक ब्रह्यवर्चस, प्रका. अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, सं. 1995
26. भारतीय धर्म और दर्शन - आचार्य बलदेव उपाध्याय प्रका. चैखम्बा, ओरियन्टालिया वाराणसी, दिल्ली 1977
27. भारत की संस्कृति साधना - डा. रामजी उपाध्याय, प्रका. रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, सं. 1967
28. भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता - डा. प्रसन्न कुमार आचार्य प्रका. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग संवत्, 1985
29. आयातिः (सम्पादित कविता संग्रह) ------"------, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नई-2010 दिल्ली तृतीय संस्करण्
30. भारतीय आलोचना शास्त्र - डा. राजवंश सहाय 'हीरा' प्रका. बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, सं. 1976
31. महत्वपूर्ण शिक्षा - जयदयाल गोयन्दका - गीता प्रेस, गोरखपुर
32. यौवन सुरक्षा - आशाराम जी, साबरमी आश्रम, अहमदाबाद
33. रामायण - वाल्मीकि, गीता प्रेस गोरखपुर सं. 2017
34. रामचरित मानस - तुलसीदास, गीता प्रेस गोरखपुर 1980 ई.
35. वैदिक साहित्य और संस्कृति - वाचस्पति गैरोला, प्रका. चोखम्बा संस्कृत संस्थान दिल्ली, सं. 1989
36. वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन - डा. विश्वम्भर दयाल अवस्थी,

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबार, 1983

37. स्मृतियों में नारी - डा. भारती आर्य, प्रका. विश्वभारती अनुसन्धान परिषद् ज्ञानपुर, वाराणसी, संस्करण 1993
38. हरिवंश पुराण में धर्म - डा. ओमप्रकाश 'नीखरा', प्रकाशक ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, सं. 1991
39. हिन्दु सभ्यता - डा. राधाकुमुद मुकुर्मी, पटना, सं. 1971
40. हिन्दु संस्कार - डा. राजबली पाण्डेय, प्रका. चो. विद्या भवन, वाराणसी, सं. 1985
41. **What is Dharma –Jay Dayal Goyndka Gorakhpur, U.P.**
42. एन्साइक्लोपेडिया आफ सोशल साइंस
43. रियूटर हेण्ड बुक आफ सोशियोलोजी
44. एफ.जे.राइट (एलीमेन्ट आफ सोसियोलाजी
45. हिन्दी शब्द सागर - संपादक नवल जी, पृ.1407
46. हिन्दी शब्द सागर - संपादक - श्यामसुन्दर दास, 7 वाँ खण्ड
47. ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी-सर मोनियर विलियम्स, संस्करण, 1956
48. चाणक्य नीति, गीता प्रेस गोरखपुर, 3/133
49. रामायण कालीन संस्कृति, डा. शान्ति कुमार नानूराम व्यास
50. गीता-सुगीता, संपादक डा. पूरनचन्द टण्डन, 16 वाँ अध्याय
51. तुलसी सतसई
52. **Darid Sills-International Encyclopedias of the social science Vol. SP-304**
53. शाकुन्तलम्, मोरेनाविलियमस्
54. **एन्साइक्लोपीडिया ओफ ला (2003), लक्ष्य प्रकाशन दिल्ली**
55. स्त्री-शक्ति, विनोबा, सर्व सेवा प्रकाशन राजघाट वाराणसी
56. राजपाल हिन्दी शब्दकोश, प्रकाशन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
57. हंस-नामवर सिंह के साक्षात्कार से अगस्त 2004
58. कल्याण, नारी अंक, गीता प्रेस गोरखपुर, संवत्-2061
59. हिन्दी शोध के नये प्रतिमान-हिन्दी सा. निकेतन, 16 साहित्य विहार बिजनौर (उ.प्र.) शोध दिशा 18
60. नारी एक विवेचन-धर्मपाल

61. स्त्री अस्मिताः साहित्य और विचारधारा, भूमिका-जगदेश्वर चतुर्वेदी
62. त्रिशंकु और अन्य कहानियाँ, मन्नू भण्डारी
63. स्त्री विमर्श-कलम और कुदाल के बहाने-रमणिका गुप्ता
64. यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त

4. शोध प्रविधी ग्रन्थ: -

1. अनुसंधान और प्रक्रिया: - डा. ताराचन्द्र इतिहास और साहित्य
2. शोध (स्वरूप, मानक कार्यविधि) - बैजनाथ मिश्र, 1995, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. शोध और सिद्धान्त- डा. नगेन्द्र नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली

5. पत्र/पत्रिकाएँ -

संस्कृत पत्रिकाएँ -

1. ज्ञानायनी: विशेषांक वर्ष -5, अंक 2-3 (संयुक्तांक) जुलाई-दिसम्बर 2007, भारतीय भाषा संगम गोमती नगर, लखनऊ (उ.प्र.), सम्मेलन पत्रिका संस्कृति विशेषांक
2. सागरिका: त्रैमासिकी शोध पत्रिका, संस्कृत विभाग, हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
3. संस्कृत प्रतिभा: साहित्य अकादमी, दिल्ली
4. अर्वाचीन संस्कृतम्: देववाणी परिषद् वाणी विहार, नई दिल्ली
5. संस्कृत विमर्श: राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
6. संस्कृत मंजरी: दिल्ली संस्कृत अकादमी, करोल बाग, नई दिल्ली
7. दृक्: दृक् भारती इलाहाबाद (उ.प्र.) (अंक 1 से 28 तक)
8. पद्य बन्धाः: वीणा पाणि-संस्कृतपीठम्, भोपाल
9. नाट्यम: नाट्य परिषद् संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय (म.प्र.)
11. दूर्वा, संस्कृत अकादमी, मध्यप्रदेश भोपाल
12. शब्दार्णवः (शोध पत्रिका) समन्वय पब्लिशिंग हाउस मुजफ्फरपुर विहार
13. चिन्तामणि लोकहित प्रयास, वृन्दावन, जनवरी-जून 2016
14. चैमासा पत्रिका: म.प्र. संस्कृत परिषद्
15. दृक्- इलाहाबाद

16. भारती (मासिकम्) - भारती भवन, बी - 15, न्यू कालोनी, जयपुर
17. स्वरमंगला (त्रैमासिकम्) - राज. संस्कृत अकादमी, जयपुर
18. सागरिका - सागरिका समिती, सागर
19. संस्कृत प्रतिभा - साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
20. सरस्वती सुषमा - सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि. वि. वाराणसी

हिन्दी पत्र/पत्रिकाएँ -

1. समकालीन भारतीय साहित्य: साहित्य अकादमी, दिल्ली अंक नवम्बर-दिसम्बर 2005
2. दलित साहित्य: संपादक जयप्रकाश कर्दम, निर्मल पब्लिकेशन, दिल्ली वार्षिकी 2004
3. पंचशील शोध समीक्षा पंचशील प्रकाशन, जयपुर
4. मधुमती: राजस्थान हिन्दी साहित्य अकादमी, उदयपुर जुलाई 2006
5. वसुधा: प्रगतिशील लेखक संघ, भोपाल अंक-1995
6. नया ज्ञानोदय: भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली सितम्बर-2008
7. आलोचना: राजकमल प्रकाशन, सुभाष मार्ग, दिल्ली अंक-सहस्राब्दी
8. वैचारिकी: भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, जुलाई-अगस्त 2011
9. हंस: राजेन्द्र यादव अंक नवम्बर-2009
10. पहल: ज्ञान रंजन, जबलपुर अंक-66
11. वाक्: वाणी प्रकाशन, दिल्ली अंक-7
12. अन्यथा: लुधियाना-अंक 11
13. जनसत्ता: जनसत्ता नोइडा, जुलाई 2009
14. हिन्दुस्तान टाइम्स: नई दिल्ली
15. राजस्थान पत्रिका: जयुपर 10 अक्टूबर 2014
16. अखण्ड ज्योति - अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा
17. ऋषि प्रसाद - संतश्री आशाराम जी, साबरमती आश्रम, अहमदाबाद
18. डिवाइन रेडियन - ब्रह्मविद्या योग, शोध संस्थान, चण्डीगढ़
19.सामरिका - सम्पादक रामजी उपाध्याय, संस्कृत परिषद् सागर विश्व विद्यालय, मध्यप्रदेश, सं. 1970

20. विश्वसंस्कृतम - विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर
21. भारती - सम्पादक देवर्षि कलानाथ शास्त्री, भारती भवन, बी-15, न्यू कालोनी, जयपुर (राज.)
22. कल्याण 'धर्मांक' - गीता पे्रस, गोरखपुर
23. कल्याण 'उपासना अंक' - गीता प्रेस, गोरखपुर
24. कल्याण 'हिन्दु संस्कृति अंक' - गीता प्रेस, गोरखपुर
25. कल्याण 'शिक्षांक' - गीता प्रेस, गोरखपुर
26. बघेरवाल सन्देश
27. जीवन का कर्तव्य - गीता प्रेस, गोरखपुर
28. मानव धर्म - गीता प्रेस, गोरखपुर
29. पंचशील शोध समीक्षा, (त्रैमासिक पत्रिका) सं. डा. हेतु भारद्वाज, जनवरी-मार्च, 2009, पृ. 112
30. अन्यथा (पत्रिका) अंक 11

6. कोष एवं व्याकरण ग्रन्थ -

1. वाचस्पत्यम्: (वृहत्संस्कृताभिधानम्) तारानाथतर्कवाचस्पति भट्टाचार्य षष्ठो भाग चोखम्भा सीरीज, वाराणसी 1962
2. नालन्दा विशाल शब्द भंडार: नवल जी (संपा.) आदीश बुक ड़िपो, दिल्ली सं.-2007
3. हलायुध कोश: (अभिधान रत्नमाला) जयशंकर जोशी (संपा) सरस्वती भवन, वाराणसी
4. अमर कोश: चैखम्भा प्रकाशन, वाराणसी नवीन सं.-1995
5. संस्कृत हिन्दी शब्द कोश: वामन शिवराम आप्टे, नाग प्रकाशन, दिल्ली छात्र संस्करण-1988
6. शब्दकल्पद्रुम: राजा राधाकान्त देव, चतुर्थोभाग, चोखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1961
7. हिन्दी विश्वकोश: सम्पूर्णानन्द एवं अन्य (संपा) नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी 1963 प्रथम संस्करण
8. पौराणिक कोश: राणा प्रसाद शर्मा, ज्ञानमल लिमि. वाराणसी वि.सं.-2028
9. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ: श्री नारायण मिश्र गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थ माला, वाराणसी सं.-1971
10. सिद्धान्त कौमुदी: भट्टोजि दीक्षित (व्या. गोपाल दत्त पाण्डेय) चोखम्भा सुरभारती प्रकाशन, पटना, पुनर्मुदित सं.-2000
11. लघु सिद्धान्त कौमुदी: धरानन्द शास्त्री मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी-1961
12. व्याकरण महाभाष्य: पंतजलि (व्या. चारूदेव शास्त्री) मोती लाल बनारसीदास संस्करण-1999
13. वाक्यपदीयम्: भतृहरि मोती लाल बनारसीदास, वाराणसी
14. प्रौढ़ रचनानुवाद कौमुदी: डा. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय, प्रकाशन वाराणसी-2004
15. ओक्स फोर्ड डिक्शनरी: डोर्लिंग किण्डर्स एण्ड आक्स फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998
16. निरूक्त - यास्ककृत हिन्दी टीका डा. उमाशंकर शर्मा, वाराणसी
17. अमर कोष - नारायण राम आचार्य, चोखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, सं. 1995

18. आधुनिक हिन्दी शब्द कोष - चालक गोविन्द, अन्सारी रोड़, दिल्ली, सं. 1986

19. संस्कृत हिन्दी कोष - वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी,

20. CONCISE OXFORD DICT.

21. COLLINS GEM ENG. DIC (1995), HARPER COLLINS PUBLICATION OF INDIA, NEW DELHI

22. मानक हिन्दी कोश, रामचन्द्र वर्मा, प्रयाग साहित्य सं. 1964

23. आदित्येश्वर कौशिक, संस्कृत हिन्दी कोश, दिनमान प्रकाशन, 1986

प्रकाशित शोध पत्र

IIJ Impact Factor : 2.206 ISSN - 2395-5104

शब्दार्णव
Shabdarnav

An International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research

Year-5 Vol. 10, Part-V July-December, 2019

Scientific Research
Educational Research
Technological Research
Literary Research
Behavioral Research

Editor in Chief
DR. RAMKESHWAR TIWARI
Assist. Professor, Shree Baikunth Nath Pawahari Sanskrit Mahavidyalay
Baikunthpur, Deoria

Executive Editors
Dr. Kumar Mritunjay Rakesh
Mr. Raghwendra Pandey

Published by
Samnvay Foundation

अनुक्रमणिका

- कविकर्णपूरसम्मत काव्यस्वरुपविमर्श 1–3
  वागीश कुमार पाठक
- बेरोजगारी का परिणाम – ग्रामीण पलायन 4–5
  डॉ0 सन्तोष कुमार राम
- "पाणिनीयव्याकरणे महाभाष्यकारपतंजलेः अवदानम्" इति समीक्षणम् 6–6
  डॉ0 हनुमान मिश्र
- दलितों के उत्थान में मान्यवर कांशीराम की भूमिका 7–8
  डा0 सुनील राम
- राजानकरुय्यक सम्मत अलङ्कारवर्गीकरण 9-13
  डा0 आनन्द कुमार दीक्षित
- अग्निष्टोमयागविवेचनम 14-15
  अभिनवकुमार
- प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक में छन्दोपयोजना 16-17
  डॉ0 आलोक कुमार
- किन्नर संतान की दारूण कथा : नाला सोपारा 18-20
  डॉ0 रेखा मिश्रा
- आधुनिक भारत में स्त्री इतिहास पर लेखन नीति (1858–1950) एक समीक्षा 21-24
  डॉ0 विपिन प्र0 सिंह
- तुलसीदास के राम राज्य की परिकल्पना एक यथार्थ या यूटोपिया 25-27
  गुड्डू कुमार सिंह
- महाभाष्यकालीन सामाजिक जीवन पद्धति : एक अध्ययन 28-32
  रोहित कुमार
- संहितासंज्ञा सवर्णदीर्घत्वं च पाणिनिशौनकमतयोः पर्यालोचनम् 33-35
  प्रशान्तदे
- संस्कृतवाङ्मये गीतिकाव्योत्पत्तिः तथाच विकासस्य विवेचनम् 36-38
  शिवशंकर चौधरी
- संस्कृतसाहित्ये गीतगोविन्दे राधायाश्चित्रणविवेचनम् 39-41
  देवानन्द झा
- वैदिक देवों का पुराणों में विस्तार सृष्टि से लेकर अबतक 42-44
  डॉ0 जितेन्द्र पाण्डेय
- जैन धर्म के विचारों का वर्तमान समय में विश्लेषण 45-45
  डॉ0 रिकी कुमारी
- ग्रामीण सामाजिक संरचना में अभिनव परिवर्तन के कारण 46-48
  डॉ0 जयबहादुर सिंह
- आज के युग में रामायण और महाभारत की प्रासंगिकता 49-50
  डॉ0 शिवशंकर ठाकुर
- अभिषेक नाटक में वर्णित पात्रों का परिचयात्मक अध्ययन 51-54
  डॉ० नीरा कुमारी

- स्वतंत्र भारत में आर्थिक भष्ट्राचार की समस्या 160-162
  डॉ0 गौतम कुमार
- विविध पौराणिक एवं ऐतिहासिक ग्रंथो में 'धर्म' एक अनुसंधानात्मक अध्ययन 163-165
  डॉ0 कल्पना कुमारी
- पञ्चांगनिर्माणप्रसंगे ग्रहलाघवानुसारं चन्द्रग्रहणाधिकार निरूपणम् 166-168
  डॉ0 रवीन्द्र प्रसाद
- काश्मीरशैवदर्शनस्य नामकरणम् 169-170
  विनय कौशिक
- पुराणपरिचयः 171-173
  जोषी हर्षदकुमार नर्मदाशंकर
- डॉ0 राधावल्लभ कृत – 'सुशीला' नाटक में सामाजिक चेतना 174-176
  डॉ0 अलका बागला व वन्दना प्रजापति

❖

डॉ0 राधावल्लभ कृत – 'सुशीला' नाटक में सामाजिक चेतना

• डॉ0 अलका बागला व वन्दना प्रजापति

भाषा समाज, सभ्यता और संस्कृति की अंतः साक्षी होती है तथा साहित्य समाज का दर्पण कवि की क्रांत दृष्टि के माध्यम से जो प्रतिबिम्ब समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, उसके द्वारा जनाकांक्षाओं को अभ्युदय का आलोक प्राप्त होता है। संस्कृत साहित्य के मूल में हमारा भारतीय चिंतन और सांस्कृतिक सोच है और उन्हीं में प्रसिद्ध है– 'काव्येषु नाटकं रम्यं' अर्थात् काव्यों में नाटक रम्य है, जो कि साहित्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की स्थापना करते है। जैसा कि महाकवि कालिदास ने भी कहा है:– **त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।**[1] अर्थात् रूपक में सुख–दुख मोहात्मक नानारसों वाला लोक चरित दिखाई देता है।

वर्तमान में संस्कृत नाटकों की समृद्ध परम्परा का परिशीलन किया जाए तो सेवा, सद्भाव, सत्य सहिष्णुता, अहिंसा, विश्वप्रेम आदि नैतिक आदर्शों के सभी पक्षों की संतुष्टि इनमें स्पष्ट दिखाई देती है, यहीं नाटकों में अन्तर्निहित उनकी असीम शक्ति है। यहीं शक्ति समाज को युगानुसारी दिशा में गति देती है। मानव सम्बन्धो में हो रहे परिर्वतनों के परिणाम स्वरूप मानव चेतना में परिर्वतन होना स्वाभाविक प्रकिया है। चेतना के विकास के अपने नियम होते है, जो स्वतंत्र है। मानव सम्बन्धो मे परिर्वतन होते ही चेतना भी बदल जाती है। आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी नें चेतना के इन्ही बदलते रूप को नग्न आँखो से अपने साहित्य में दिखाया गया है। अपने वर्ग की स्थिति और चेतना के अनुरूप ही कविवर त्रिपाठी जी नें अभिव्यक्ति विषयों का चुनाव करके उन्हे कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान कि है। आचार्य जी के नाट्य सृजन का आधार केवल उनकी विचारधारा ही नहीं बल्कि कलाकार में गहरी संवेदना भी है।

कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के धनी आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने इसी को आधार बनाकर 'सुशीला नाटक' की रचना की है। इस नाटक में जीवन के साथ मनुष्य की मानसिक अस्थिरता, स्त्रियों की जिज्ञासा वृत्ति, घरेलू हिंसा, नाता प्रथा, कुदृष्टि, भाग्यवादिता, राज्य लिप्सा, वासना, झूठ, छल–कपट आदि का वर्णन बड़े ही रोचक ढ़ग से किया है। सुशीला नाटक की नान्दी ही नायिका सुशीला का अन्तर्बाह्य स्वरूप को पूर्णता के साथ दर्शाने में सफल रही है–

दुःखं सेन सुखेन सारसहजं साम्मिश्रय सङ्गुम्फितं
आकाशः पवनस्था च धरणी सम्मेलिता अश्रुभिः।
क्रौधाग्नौ च सुपाच्य तद्वि सकलं यो लीलया निर्मने,
नारी कामपि तामपूर्वरचनां तस्मै नमो वेधसे।।[2]

ढेर सारे दुःखों थोड़े से सुख, आकाश, हवा, मिट्टी को ऑसुओं की धारा से सान कर और गुस्से की आँच में तपा कर जिस स्त्री की रचना विधाता ने की है वह स्त्री सुशीला की प्रतिच्छवि है। उसके जीवन की व्यथा विसंगति, संघर्ष, जिजीविका और नियति के विधान की यहाँ सांकेतिक व्यंजना है। इस पूरे प्रेक्षणक की कथावस्तु में स्त्री के स्वभाव व उनकी सामाजिक परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। यद्यपि स्त्री के सामाजिक, आर्थिक एंव राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में लाने की बड़ी बातें व प्रयत्न व्यापक स्तर पर किए जाते है, तथापि स्त्री को पुरूष प्रधान समाज में भोग्या की दृष्टि से ही देखा जाता है। पति से विहीन हुई स्त्री का समाज मे कोई स्थान नहीं रह जाता है। बल्कि उसे सर्वभोग्या की दृष्टि से देखा जाता है। नाटक की नायिका सुशीला अनजाने में ही किन्तु अपने पुत्र के समक्ष भी भोग्या बन जाती है, यद्यपि जब उसे यह ज्ञात होता है तो वह दुखी होकर प्रायश्चित भी करना चाहती है। नाटक मे जिन संवादो से लेखक ने गति दी है। वे स्पष्ट रूप से समाज में स्त्रियों की दक्षा का बोध कराते है। सुशीला नाटक की पुस्तक के मुख्य पृष्ट पर चूल्हे पर खाना पकाती हुई स्त्री की धुंधली तस्वीर भी समाज में स्त्री के अस्तित्व को सुधारने का प्रयास करती दिखाई देती है। सुशीला नाटक के प्रमुख सामाजिक पक्षों का उल्लेख निम्न प्रकार से है।

स्त्रियों की प्रवृत्ति – प्रथम दृश्य में ही अपने आप में खोई हुई सुशीला ग्वालिनों के साथ प्रवेश करती है। वह अपने पूर्व कृत्यों को कहती है, बड़–बड़ाती है व ग्वालिनों के प्रश्नों के प्रत्युत्तर में कुछ भी कह देती है, जो अन्य स्त्रियों को अप्रिय सा लगता है और स्त्री स्वभावानुसार वे आपस में तरह–तरह की बातें करती है व सुशीला की बातों की आलोचना करती है। बातों ही बातों में यह भी सूचित कर देती है कि सुशीला भोलू की रखैल पत्नी है तथा उसकी पहली पत्नी का स्वर्गवास भोलू के द्वारा पीटाई करने के कारण हुई थी। वे घंटों एक ही बात पर बहस करती रहती है, खुद की शंका का समाधान करने लगती है। जैसा की महिलाओं का स्वभाव ही होता है। तभी सुशीला स्त्री जीवन पर व्यंग्य करती हुई गाती है:–

'वयो व्यतीतम् अङ्गगंगलितम् शरयायां आस्तरणे,
नाह शयिता, नाहं मृदिता ससरणे।
आश्वासो न क्षणमपि लब्धोः मया जीवने न वा मरणे।।'[3]

नारी स्वातंत्रय – सुशीला नाटक की स्त्रियाँ पर्दा प्रथा से दूर होकर घर में कैद रहने वाली नही है। वे गाँव–गाँव जाकर छाछ का विक्रय करती है, जिसे एक ग्वालिन अपनी रोजी रोटी के साथ मनोरंजन व सैरसपाटे का साधन बताती है साथ ही रात्रि हेतु वे अपने घर को ही उचित मानते हुए कहती है–

• (सहा. आचार्य) शोध निर्देशिका, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड व शोध छात्रा, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड

सत्यमियमाह। यदि न गृहाद् बहिर्गच्छामः तर्हि कुलवध्वध्व
असूर्यम्पश्या भविष्यामः। गृहे मरिष्यामः।[4]

दुष्प्रवृत्ति का संकेत – नाटक में ग्वालिन के माध्यम से पूँजीपति वर्ग के स्त्री पुरूषों की अधम प्रवृत्ति को भी बताया गया है। ब्राह्मण स्त्रियाँ जहाँ दान लेने के समान छाछ लेती है, वहीं ठाकुर स्त्रियाँ कभी न चुकाने वाला उधार माँगती है –

'इदानीन्तनाः क्षत्रियाः ऋणं कृत्वा तक्रं–तक्रं पिबन्ति न घृतम्।'[5]

एक स्त्री तो बताती है कि मर्द यदि छाछ लेते है तो उधार नहीं करते, किन्तु उनकी कुदृष्टि हमें स्पष्ट दिखाई देती है और यदि किसी पुरूष द्वारा बदतमिजी की भी जाती है तो घर से निकलना बंद होने तथा छाछ बिकना बंद होने के भय से वे मुँह नहीं खोल सकती है, जिससे आपराधिक प्रवृत्ति को ओर अधिक बढ़ावा मिलता है।

रूढ़िवादिता–भाग्यवादिता – सुशीला के पति ज्योतिषी होने के साथ कथावाचक ब्राम्हण भी है, परंतु रूढ़िवादी परम्परा का निर्वाहक होने के कारण कुछ और करने के पक्ष में नहीं है। अपने बेटे और पत्नी की मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति न होने पर भी वे पूजा पाठ के ही भरोसे रहकर भाग्य के भरोसे बैठने वाले है इसलिए तंग आकर सुशीला कह देती है–

'तर्हि एवमेव निष्क्रिय आस्व ब्राहम्णदेव।
कामं म्रियेतां तव भार्या पुत्रश्च।।[6]

मातृत्व एवं पत्नी धर्मा सुशीला – सुशीला ममत्व से पूर्ण स्त्री है, उसे अपनी भूख प्यास से अधिक चिंता किसना की है, जिसे वह कई बार पति द्वारा डाँट दिए जाने पर भी कृष्ण की जगह किसना ही कहती है। वह दूसरी और वह अपनी पति से लड़ती झगड़ती है, ताने मारती है, किंतु पति के मुख से ऐसा सुनकर पति के मुख पर हाथ रख कर कहती है–

''सा तावत्! न कदापि मुखादेवं विधं वचनं निस्सारणीयम्।।''[7]

यहाँ भारतीय स्त्री के भावों का सुंदर चित्रण किया गया है। भारतीय नारी की सुहागन मृत्यु होने की चाह के भाव का सुंदर चित्रण किया है कि स्त्री स्वयं की मृत्यु से पूर्व पति की मृत्यु की बात सुनना भी पसंद नहीं करती है।

पुत्रेच्छा – इस नाटक में बताया गया है कि राजा–रंक, स्त्री–पुरूष कोई भी हो सभी में पुत्र प्राप्ति की लालसा रहती है। काशी का राजा मणिभद्र पुत्र प्राप्त्यार्थ यज्ञ, अनुष्ठान, व्रत आदि करते है, किंतु पुत्रेच्छा पूर्ण नहीं हो पाती है। जंगल में सुशीला के पुत्र को अकेला पाकर वह उसे स्वीकार कर लेता है और स्वयं ही तर्क देकर मंद स्वर में तीन बार ''यह पुत्र किसका है ? कहता है, लेकिन उत्तर नहीं पाकर 'मौन सम्मतिलक्षणम्' का तर्क देकर उस बालक को अपना लेता है।

साहसी भारतीय नारी – सुशीला जंगल में निःसहाय होने पर भी निर्भिकता का परिचय देती है। उसके पति और पुत्र खो जाने पर उसे जंगल में भटका हुआ राजा सबलसिंह मिलता है तो वह बात ही बात में उसका गला पकड़ लेती है तथा कहती है कि तुम राजा सबलसिंह हो तो हम राजा प्रबलसिंह है। मुझे मेरे पति के अलावा सब 'ऐरे गैरे नत्थू गैरे' लगते हैं तुम राजा हो तो क्या? तब राजा भी उससे प्रभावित होकर कहते है–

''साधु साधु ! हे भारतीय नारि ! धन्यासि त्वम्।
तवैव कारणात् सर्वं जगत् अवस्थितम्।।''[8]

शासक वर्ग की कामुकता और कायरता – नाटक के शासक वर्ग को कामुक प्रवृत्ति डरपोक और विलासी बताया है। सैनिकों के अभाव में मथुरा के राजा एक स्त्री से भी अपना गला पकड़वा लेते हैं तथा येन केन प्रकार से सुशीला को पाना चाहता है, किंतु वह कायर होने के कारण अपनी रानियों से भी डरता है। दूसरी ओर काशी का राजा कृष्णपाल भी कामुकता के वशीभूत स्वयं से कम उम्र की साधारण सी नायिका के साथ रमण करता है तथा तर्क देता है–

''आनन्दं लब्धास्मि। अनन्दाद्ध्येव इमानि भूतानि जायन्ते आनन्दं प्रयान्ति आनन्दं संविशन्ति चेति उपनिषद् कथयन्ति। आनन्द एव ब्रम्ह।''[9]

उच्च पद की लालसा – इस नाटक में हर कोई पदवी तथा सम्पत्ति की चाह रखता है। देवशर्मा हमेशा अपने पुत्र को राजा के रूप में देखने की चाह रखते है। वहीं सुशीला अपने पति और पुत्र को लेकर चाचाजी के पास चैनपुर जाना चाहती है ताकि मरने के बाद चाचाजी की सम्पत्ति मिल सके। क्षयरोग से ग्रसित मणिभद्र का भाई भी कृष्णपाल के राजा बनने की अपेक्षा करता है तथा कृष्णपाल और सुशीला को मृत्युदण्ड सुनवाकर राजा बनता है तथा मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पद प्रतिष्ठा के लिए सभी ललायित रहते है।

धार्मिक केन्द्रों की प्रतिष्ठा – धर्म के लिए पहचाने जाने वाले पवित्र स्थानों पर भी ग्वालिनों द्वारा छाछ बेचने जाना असुरक्षित बताया गया है। विश्वनाथ मंदिर के रास्ते में अनेक वेश्यायें है। नाबालिक कन्याओं को जबरन कोठो पर बैठने के लिए विवश किया जा रहा है। प्रजा तो क्या राजा स्वयं उन वेश्याओं के नृत्यादि में रूचि लेता है। उनका कथन है – **''नाहं कामये तरूणी। नाहं कामये बालाः। अस्तु अलं विचारेणइदानीम्। नायं विचारस्य कालः। अयमस्माकं व्यभिचारस्य कालः।''**

आचार्य ने नाटक में सुशीला स्त्री पात्र के माध्यम से समाज में एक साधारण स्त्री की विवशता, शोषण, आत्मघात आदि का चित्रण किया है। किस प्रकार समाज और समय के आगे नतमस्तक होकर आहत होती रहती है। उसी को कवि ने सुशीला के निम्न कथन के द्वारा प्रस्तुत किया है–

''काशीं न यामो मथुरां न यामः न यामो ग्रामं स्वीयम्।
ना हर्म्यं नो स्थमिच्छामः इच्छामः स्वीयकुटीस्म्।।[10]

इस प्रकार डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठीजी के नाटक सुशीला में समाज के प्रति गहरी सोच के साथ सजगता के दर्शन होते है।

सन्दर्भ –

1. मालविकाग्निमित्रम् – (1/4)
2. सुशीला, पृष्ठ – 5
3. सुशीला, पृष्ठ – 6
4. सुशीला, पृष्ठ – 7
5. सुशीला, पृष्ठ – 14
6. सुशीला, पृष्ठ – 13
7. सुशीला, पृष्ठ – 19
8. सुशीला, पृष्ठ – 29
9. सुशीला, पृष्ठ – 30
10. सुशीला, पृष्ठ – 7/श्लोक – 01

❖

IIJ Impact Factor : 2.193 ISSN-2349-364X

वेदाञ्जली

अन्तर्राष्ट्रीय विद्वत्समीक्षित षाण्मासिकी शोध पत्रिका

(An International Peer Reviewed Refereed Research Journal)

वर्ष-६ अंक-१२ भाग-५

जुलाई-दिसम्बर, २०१९

प्रधानसम्पादक

डॉ0 रामकेश्वर तिवारी

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, श्री बैकुंठनाथ पवहारी संस्कृत महाविद्यालय

बैकुंठपुर, देवरिया

सह सम्पादक

श्री प्रसून मिश्र

प्रकाशक

वैदिक एजूकेशनल रिसर्च सोसाइटी

वाराणसी

अनुक्रमणिका

- भारतीय समाज में देवों के प्रति आस्था में वेदों और पुराणों का योगदान 1–2
  डॉ॰ जितेन्द्र पाण्डेय
- उद्भटविरचित 'कुमारसम्भव' 3–4
  डा0 आनन्द कुमार दीक्षित
- अभिषेक नाटक में प्रयुक्त रसों का विवेचनात्मक अध्ययन 5–7
  डॉ0 नीरा कुमारी
- स्वामी सहजानन्द और भारतीय राजनीति 8–9
  डॉ0 सुनील राम
- पाणिनेः व्याकरणस्य स्वरूपम 10–10
  डॉ0 हनुमान मिश्र
- भारत में चिकित्सा पर्यटन : एक अध्ययन 11–12
  डॉ0 संतोष कुमार राम
- कुरूक्षेत्र के युद्ध और शांति का द्वंद्व 13–15
  गुड्डू कुमार सिंह
- अद्यत्वे वैदिकनये श्रौतसूत्रस्य अनिवार्यता 16–17
  अभिनवकुमार
- रेणु के उपन्यासों में लोक संस्कृति 18–19
  डा0 अमृता धीर
- अध्ययनाध्यापनविषये श्रौतस्मार्तचिन्तनम् 20–23
  डॉ0 प्रशान्त दे
- बुद्धविजयकाव्यस्य महत्वम् अर्वाचीनसमये उपयोगिता च 24–25
  डॉ0 बालेश्वर झा
- महाकवि भास के नाटकीय प्रेरणा के मूल स्रोत 26–27
  डॉ0 आलोक कुमार
- वेद रचना के विषय में महर्षि दयानन्द एवं श्री अरविन्द के विचार 28–29
  डॉ0 अजीत कुमार
- इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में महिलाओं की छवि 30–31
  डॉ0 बिनोद सिंह
- ग्रामीण सामाजिक संरचना में अभिनव परिवर्तन 32–33
  डॉ0 जयबहादुर सिंह
- वर्तमान समय में संगीत से सम्बन्धित व्यवसाय के विविध आयाम 34–35
  डॉ0 प्रियंका
- भारत का विभाजन और नेहरू–पटेल 36–37
  डॉ0 विनोद कुमार सिंह
- भारतीय और पाश्चात्य दर्शन मे भौतिकवाद : एम. एन. राय के दृष्टिकोण से 38–40
  डॉ0 शारदा वंदना
- भारतीय संविधान का निर्माण एवं मानवाधिकार का प्रभाव 41–43
  डॉ0 संतोषी कुमारी
- समन्वयवादी महाप्रभु चैतन्य और उनके विचारों एवं उपदेशों में निहित मानव–मूल्य 44–45
  डॉ0 प्रवीण कुमार झा

डॉ0 कल्पना कुमारी

- पञ्चांगनिर्माणप्रसंगे त्रिप्रश्नाधिकारस्य विशिष्टाध्ययनम् 159–160
  डॉ0 रविन्द्र प्रसाद
- आयुर्वेद और पर्यावरण 161–162
  नूतन कुमारी
- संस्कृतग्रन्थोपदिष्टायां गुप्तचरव्यवस्थायाः विश्लेषणम् 163–165
  डॉ0 संजीवकुमारभारती
- प्रमेयकमलमार्त्तण्ड रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र का व्यक्तित्व एवं कृतित्व 166–167
  प्रतिभा जैन व डॉ0 लाला शंकर गयावाल
- प्राचीन भारतीय शिक्षा का स्वरूप 168–169
  शशि शंकर
- डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों में समाज की संरचना 170–172
  डॉ0 अलका बागला व वन्दना प्रजापति

❖

वेदांजली, *An International Peer Reviewed Refereed Research Journal*
वर्ष–६, अंक–१२, भाग–७, जुलाई–दिसम्बर, २०१९। ISSN: 2349-364X

डॉ0 राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों में समाज की संरचना

• **डॉ0 अलका बागला** व **वन्दना प्रजापति**

साहित्य समाज का दर्पण है। लेखक अपने साहित्य के माध्यम से समाज का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता है। आधुनिक युग में समाज में संघर्ष तथा संक्रमण की अनेक स्थितियाँ दृष्टिगत होती है। गद्य साहित्य मे मानव मूल्यों की समरसता निरन्तर प्रवाहमान हैं। जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का भाव प्रदान कर हमें व्यक्तिगत चिन्तन से ऊपर उठकर विष्वकल्याण अर्थात् लोक हित की भावना से जोडता है। यद्यपि साहित्य के क्षैत्र में मूल्य को परिभाषित करना कठिन हैं। मूल्य अर्थषास्त्र मे विनियम का प्रतिमान है। नाट्य शास्त्र में षिवतत्त्व (लोककल्याण) एवं उपयोगितावाद समाज के सर्वाधिक हित के द्योतक है जो मानवीय मूल्यों को विनिमय प्रदान करते हैं। पाष्चात्य चिन्तन मूल्य को श्रेष्ठ कर्म के रूप मे देखता रहा है। आदर्षवाद नाटक साहित्य मे मानव कल्याण व मूल्यों का समावेष मानता हैं। संस्कृत नाटकों की समृद्ध परम्परा का परिषीलन किया जाए तो सेवा, सद्भाव, सत्य, सहिष्णुता, अहिंसा, विष्वप्रेम आदि नैतिक आदर्षो के सभी पक्षो की संसृष्टि इनमें स्पष्ट दिखाई देती है यही नाटकों मे अन्तर्निहित उनकी असीम शक्ति समाज को युगानुसारी दिषा मे गति देती हैं।

समय की कसौटी पर खरा उतरता समीक्ष्य नाट्य साहित्य समाज में कल्याण का मार्ग प्रषस्त करने के साथ सामाजिक मूल्यों व आदर्षो का संबल व सरक्षण करने वाला व्याकरण, नियमबद्ध रचना होनें के कारण संस्कृत भाषा के नाटकों के शास्त्रीय निष्कर्ष को आधार बनाकर निरन्तर शोध कार्य होते रहें हैं। किन्तु वर्तमान समाज मे उत्पन्न विसंगतियों की समूल समाप्ति के लिए शास्त्रीयता व प्रोढ़ता के स्थान पर साहित्य में संदेष प्रेषणीयता की महती आवष्यकता संलक्षित होती हैं।

कारयित्री व भावयित्री प्रतिभा के धनी महामहोपाध्याय डॉ. त्रिपाठी जैसे मनीषी, लोकषास्त्र समन्वयक , व्यक्ति–चेतना से समाष्टि तक के शोध यात्री, जीवन के आदर्ष और यथार्थ–चेतना का समन्वय कर काव्य रचना करने में निष्णात, बहुश्रुत व अतुल्य परमादरणीय का नाट्य पुरातनता से प्रारंभ होकर समसायिकता को अपने कलेवर मे समेटे हुए हैं। डॉ. त्रिपाठी जी का प्रथम नाटक प्रेमपीयूषम् 1971 मे संस्कृत परिषद् सागर मे प्रकाषित किया गया। प्रेमाधारित इस नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक है तो दूसरी ओर काल्पनिकता के साथ नवीनता का सम्मिश्रण हैं साथ ही नाटकों के प्रणयन कम में कवि के तण्डुलप्रस्थीयम्, प्रेक्षणसप्तकम् नामक नाट्य संग्रह तथा सुषीला नामक नाटकों का प्रकाषन हुआ हैं। समीक्ष्य नाटकों का कला सौन्दर्य ही नही अपितु भाव सौन्दर्य भी अपनी महती विषेषताओं से समृद्ध है। महाकवि ने अपने नाट्यों मे मानवजीवन की व्यथा, विसंगति, संघर्ष, जिजीविषा और नियति के विधान की सांकेतिक व्यंजना की है तथा वर्तमान समाज मे व्याप्त समस्याओं का चित्रण किया है। विष्व बन्धुत्व की भावना, राष्ट्रीयता तथा सामाजिक समरसता ही इन नाटकों के आराध्य तत्व हैं। जिनमें आर्य संस्कृति, संस्कार, जीवन–दर्षन, शोषण, वर्ण व्यवस्था, जमींदार से लेकर जनतांत्रिक व्यवस्था जैसी जनससमयाओं, दहेज प्रथा, पर्यावरणीय अनुरंजन, पारिवारिक व सामाजिक दायित्व अध्यात्म, विचार, परिष्करण, जीवन की व्यथा, संघर्ष, जिजीविषा, षिक्षा–नीति, नारी–जागरण, पुरुषार्थ–चतुष्टक, आश्रम, मनोरंजन त्याग–तपोवन आदि विषयों का वर्णन सरोकार की दृष्टि से किया गया है जो इसकी महत्ता में वृद्धि को प्राप्त होता है।

आचार्य जी द्वारा रचित नाटकों जैसे प्रेमपीयूषम्, सुषीला प्रेक्षणकम्, तण्डुलप्रस्थीयम् तथा प्रेक्षणकसप्तकम् में सामाजिक समस्याओं को मजबूत आधार के साथ दृश्य पटल पर उतारा गया है। इन नाटकों का अध्ययन करने पर समाज का जो स्वरूप सामने आया है वह तो ऐसा लगता है मानों सारी घटनाएँ आँखों के आगे ऐसे घूमने लगती है, जैसे यह यहीं पर घटित हो रही है। इस प्रकार इनके नाटकों में जनसामान्य की विकृत मानसिक भावना, राष्ट्र की विसंगतियों के प्रति तीक्ष्ण कटाक्ष किये गये हैं।

'प्रेमपीयूषम्' नाटक में महाकवि भवभूति को नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिसकी नायिका शाशिप्रभा है। नायक – नायिका दोनों ही उत्कृष्ट चरित्र के परिचायक है। नायक स्वाभिमान का प्रतीक है, स्वाभिमानी व्यक्ति किसी की चाटुकारिता में विश्वास नहीं रखता। अपने इस चरित्र पक्ष के कारण नायक को राजा (समाज) द्वारा तिरस्कृत होना पड़ता है और फिर यह स्पष्ट किया है कि समाज द्वारा तिरस्कृत व्यक्ति किस प्रकार से अपना आत्मबल खो देता है और पुनः उसकी प्राप्ति कितनी कठिनाई से होती है इसका वर्णन प्रेमपीयूषम् में है। इस नाटक में शिक्षा का महत्व भी प्रतिपादित है।

बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन देना, पतिव्रत धर्म का पालन, गुरु आज्ञा पालन, राजा यशोवर्मन का धैर्यपूर्ण व्यवहार, गुरु के महत्व का प्रतिपादन भी समाज की संरचना का हिस्सा कविवर ने बनाया है।

दाम्पत्य जीवन के उतार चढ़ाव, प्रेम की परिणिति विवाह के रूप में तथा किसी प्रकार से दामपत्य रूपी वट वृक्ष को प्रेम रूपी अमृत से सिंचित करके खुशहाल जीवन का उदाहरण भी इसमें मिलता है।

स्त्री–पुरुष को एक दूसरे का पूरक कहा गया है, पुरुष के जीवन का स्त्री एक अभिन्न अंग है। इस नाटक के द्वितीय अंक मे भवभूति कहते हैं :– "नारी नाम नरस्य शेवधि रहे। देदे यथा जीवनं"।[1]

चतुर्थ अंक में युवा पुत्री के अन्तर्मन की स्थिति को एक माँ किस प्रकार से जानकर उसके अशांत मन को शांत करती है इसका उदाहरण इंदुमति व शशिप्रभा के संवाद के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी अंक में वृक्ष पूजा एवं मदनमहोत्सव का वर्णन है, पंचम अंक में बलिप्रथा का उदाहरण देखने को मिलता है, जिसमें भवभूति के द्वारा बलिप्रथा के विरोध को दर्शाया गया है।

समाज में आश्रम व्यवस्था की स्थिति भी इस नाटक मे ज्ञात होती है। अच्छा आचरण, शुद्ध व्यवहार आदि का प्रदर्शन इस रचना में प्राप्त होता है षष्ठम अंक में शिक्षा के प्रसार तथा राज्यलिप्सा का प्रदर्शन है। नाटक के अंत में कर्त्तव्य निष्ठा का उदाहरण मिलता है।

सुशीला प्रेक्षणक :–

हत्वानृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदृष्टं
देषान्तरे स्वयमहं गणिकाऽस्मि जाता।
पुत्रं पति समाश्रिगम्य च वृक्षदग्धं
शोचामि गोपगृहिणी कथमल्पतक्रम्।।

बच्चुलाल अवस्थी जी के एक श्लोक पर आधारित इस रचना को विस्तृत स्वरूप प्रदान किया है।

आज समाज का जो परिवर्तित रूप है, वह कड़ी मर्यादा का अतिक्रमण किए हुए है, तो कहीं उच्छृखलता से ग्रसित है। यह प्रेक्षणक समाज की विभिन्न समस्याओं का दर्पण है। कविवर ने समाज की आर्थिक विपन्नता, नारी शोषण, सवर्ण होने का नुकसान या क्षति, सामाजिक, पारिवारिक संघर्ष, परिवार का महत्त्व आदि बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। समाज में व्याप्त आत्महत्या जैसे घृणित कार्य का विरोध भी इस प्रेक्षणक में दृष्टिगत होता है। परिवार के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए सुशीला कहती है, कि 'मेरे पास परिवार था, सुख था पर मैं सुखी होना नहीं जानती थी, मेरा पति मेरे पास था पर मैं कुछ न मानती थी, मैं क्या से क्या हो गई, मैंने कितने रूप धरे। मैं क्या हो सकती थी और क्या हो गई, पर नहीं, मैं वहीं हूँ, जो मैं थी।

कवि राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने परिवार को एक सुरक्षा कवच के रूप में बताया है, जिससे अलग होकर सिर्फ समस्याएँ खड़ी होती है। कविवर ने दिखाया है कि स्त्री को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में लाने के लिए बहुत प्रयत्न किए जाते हैं, किन्तु पुरुष प्रधान समाज में उसे भोग की वस्तु ही

• **(सहा. आचार्य) शोध निर्देशिका, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड** व **शोध छात्रा, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड**

माना जाता है। पति से अलग स्त्री का समाज में कोई स्थान नहीं होता बल्कि उसे सर्वभोग्या समझा जाने लगता है। कविवर के अनुसार विडम्बना तो तब हो जाती है जब नाटक में नायिका अनजाने में ही किन्तु पुत्र के समक्ष भी भोग्या के रूप में दिखाई जाती है तो वह प्रायश्चित करना चाहती है। नाटक में अनेक संवाद समाज में स्त्रीयों की परिस्थितियों का बोध कराते है। किन्तु फिर भी सुशीला को एक समर्पित पत्नी के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

प्रेषणकसप्तकम् – आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने इस रचना के माध्यम से समाज की वह संरचना प्रस्तुत की है, जहाँ जीवन के संघर्षो, विकारों, वासनाओं, कुंठाओं, कल्पनाओं, अच्छाईयों एवं बुराईयों का सफल रूपांकन है। समाज के प्रत्येक वर्ग पर कवि ने अपनी पैनी दृष्टि डाली है। सात एकांकियों के इस संकलन में सामाजिक कुरीतियों नारी की विविध व्यथाओं, स्त्रीयों के प्रति समाज का दृष्टिकोण, राजनैतिक भ्रष्टाचार धार्मिक आडम्बर आदि विसंगतियों पर प्रभावकारी रूप से नवीन धारणा के सृजन का प्रयास कविवर ने किया है सातों एकांकीयों मे कवि ने समाज के विभिन्न पहलुओं पर अपनी लेखनी चलायी है।

1. **सोमप्रभम् –** इस एकांकी में माँ–बेटी के स्नेहबंध की प्रगाढता को बताया गया है तथा समाज को दहेज के महत्त्वाकांक्षी लोगों द्वारा बहु को जलाकर मारने जैसे ज्वलंत समस्या से ग्रसित बताया है। पुत्री द्वारा माँ की रक्षा करना उसके मातृ प्रेम को दर्शाता है। इस प्रकार इस प्रेषणक में शोषक और शोषितों के जटिल सम्बन्धों का वर्णन है। नाटक में निहित यही मनुष्य चेतना वस्तुजगत् के सामाजिक सौपन का निर्माण करती है –

"सोम. – अशोकस्य पितामही कियत् स्निह्यति तस्मिन्। मम पितामही तु भर्त्सयति ताडयति माम्। (सेदिति)।
विमला – मा रोदीवत्से ! (ताम् आलिङ्ग्य अश्रूणि मार्जयन्ती) तव पितरि प्रत्यागते सर्वमुप पुत्रं स्यात् – दुग्धं गृह्णीताम्।
सोम. – आम्।
विमला – अधुना सत्वंर नाहि चल (तस्या मुखं स्वीयेन शाटिका–अंचलेन प्रो◇छति)।
सोम. – किं करोषि ? तव शाटिका मलिना भवति। अयं करकर्पट : सन्निहित एव।"[2]

इस प्रकार उनके नाटक के पात्र स्वयं के अस्तित्व को बोध कराते हुए अपने अन्दर समाहित सामाजिकता की पराकाष्ठा प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं।

2. धीवरशाकुन्तलम् – महाकवि कालिदास प्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तलम् को आधार बनाकर लिखी गई इस एकांकी में समाज में व्याप्त राजनैतिक भ्रष्टाचार तथा स्त्री विक्रय जैसी ज्वलंत समस्याओं पर प्रकार डाला गया है।

आचार्य त्रिपाठी कृत 'धीवरशाकुन्तलम्' एकांकी के द्वारा उन्होंने समाज की विकृत मानसिकता के माध्यम से युग बोध करवाया है। सूचक और जानुक का यह संवाद समाज की इसी विकृति को प्रकट करता है –

"(कोटपाल्या दृश्यम्। शृङखलाभिर्बद्धो धीवरः भूमौ उपविष्टः सूचकजानुकौ तं ताडयतः।)
सूचकः – गृहाण स्वस्थ चौर्यस्य एनं प्रसादम्। ग्रहाण! (इति ताडयति)
जानुकः – पाटच्चर! मत्स्योपजीविन् ! अत्र शूलायामारोप्यसे।
धीवरः – (सभमयं) किं करोमि ? की दृशा इमे राजपुरुषाः। कीदृशीयं राजधानी। अहं सत्यं वदामि। मत्स्यस्य उदरात् प्राप्तं मया तद्ङगुलीयकम्। यूयं न विश्वसिथ। रक्षकाः एव भक्षकाः जाताः।
सूचकः – अस्मासु दोषं क्षिपसि। नीच! (पुनस्ताड़यति)
श्यालः – (त्वरितं प्रविश्य) सूचक जानुक। शीघ्रमेनं धीवरम्।
जानुकः – गृखबलिर्भविष्यासि। शूलायामारोप्यसे।
सूचकः – मुंचमेनम्।
सूचकः – आयुत ! किं कथयति भवान्।
श्यालः – महाराजः कथयति यदुपपत्रः खल्वङुलीयकस्य आगमः। मुंचमेनम्।
जानुकः – सूचक :– यथा आयुन्तो भणति। यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तोउयम्। (इति धीवरं योचयतः।)"[3]

3. मेघसंदेश – कवि कालिदास कृत मेघदूत से प्रेरित इस एकांकी में बाल मन की कोमलता और उसके विश्वास को बताया गया है। समाज की प्रकृति में आस्था के परिचायक इस प्रेषणकम् में वृक्ष को बादल का मित्र बताया गया है। समाज की श्रेय व प्रेय की भावना को इस रूप में बताया गया है, कि पानी की बूँदे चाहिए मोती नहीं 'अंह मुक्तानां वृष्टि नवाच्छामि जल वृष्टिमेवकामये।'

4. मुक्तिसंदेश – मुक्ति संदेश में मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य मुक्ति का संदेश दिया है। कविवर ने एकांकी के माध्यम से सामाजिक, पारिवारिक दायित्वों की समाप्ति के पश्चात् ही सर्व जनाकांक्षी मुक्ति को सूत्रधार को जंजीरों में बंधा हुआ दिखाकर प्रतीक रूप में सामाजिकों को समझाया है। इस एकांकी के नांदी में राष्ट्रीय भावना का समावेश है। जिसकी आवश्यकता प्रत्येक समाज में अपेक्षित है –

**"स्वतंत्रयेऽपि समागते विदलितो नो पारतंत्र्यात्मको।
भावो भास्वति सत्यपि प्रभवति क्लेषायगढं तयः।
संकल्पः किलमुक्तरो प्रति जनं चेतः सुसज्जायतां
मुक्तेरंशं तथा भवत्वभिनयः सत्यान्वितो मुक्तिदः।।"(4)**

स्वतन्त्र भारत में आज भी स्वतन्त्रता का जो स्वरूप है, उससे असंतुष्ट कवि ने "स्वतंत्रता कैसी हो ?" को लक्षित करते हुए आदर्श समाज हेतु चेतना का विकास 'मुक्तिः' एकांकी में किया गया है :–

आयोजकः – अहं स्वतंत्र भारते की दृशी स्वतंत्रते विषयाधिकृत्य संगोष्ठीमायोजयामि। तत्र भवद्भिः आगत्य भाषणं देयम्।
श्वः सायङ्काले वर्तते गोष्ठी।
सूत्रधारः – स्वतन्त्रता विषये कथमहं भाषणं करिष्यामि। अहं स्वयं शृंखलाभिर्बद्धः परतंत्रोऽस्मि।
आयोजकः – का हानि भवन्तु तावत् शृंखलाः भवतु सुबद्धो भवान् परतन्त्रो वा भवतु। भाषणं तु सुखेन देयम मुखं तु पिहितं नास्ति। अत एव अवश्यमागन्तव्य भाषणं च विधेयम्। भवतु साधयामि। आयोजन – व्यवस्था मया सम्पादनीया।"[4]

यही नहीं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के साथ सर्वजन सुखाय की सामाजिक भावना का दृश्य भी मुक्ति एकांकी में दिखाई देता है –

"नटी – स्वैरं भक्षयतु। किमेतावतैव ? कियदत्यम् अश्नाति भवान् अतः एव दुर्बलोऽस्ति। स्थाली नयति जलमानीय तं पाययति। अधुना यद् रोचेत् तद् क्रियताम्। (निष्क्रान्ता)।
सूत्रधार – कष्टं परवशता नाम! समधिकतर मिदानीं बाधन्ते शृङखलाः किं करोमि ?
भिक्षुक – (प्रविश्य) भद्रमस्तु, कल्याणमस्तु। दातः भगवन्नम्ना किंचिद् देहि। समाजवादनाम्ना देही, प्रजातन्त्रनाम्ना देहि। राममन्दिरनाम्ना देहि। उन्मुक्तापणनाम्ना देहि।"[5]

इन संवादों में न केवल एक उन्मुक्त समाज की कल्पना का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, अपितु समाज में ईश्वरीय भय तथा व्याप्त आस्तिकता की ओर भी संकेत करते हैं।

4. मशकघ्नानी :– इस हास्य एकांकी की सहायता से राजनैतिक भ्रष्टाचार को बताया गया है। वर्तमान समाज में राजनीति का नैतिक पतन हो चुका है। जन सामान्य के क्रोध को सूत्रधार के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। जब वह श्रेष्ठी के मूर्खता पूर्ण व्यवहार से परेशान होकर धैर्य का साथ छोड़ते हुए कहता है कि "क्या आप जानतें हैं कि हमारे राष्ट्र में अराजकता का मुख्य कारण इसी प्रकार के व्यक्तियों के हाथों में सत्ता होना है" –

किन्तु जनता में जागरूकता होना दर्शाता है कि समाज अपने अस्तित्व के प्रति सजग है –

ललाट मे कच्चित् स्पृशति खलु लालाटिक इव,

द्विजिह्वो जल्पाको विश्चयति वाणी । पशुन क्व।
क्वचित वीणानादं क्वचिदपि च वंशीरममयं,
रहस्याख्यायीव ध्वनति मृदु कर्णान्तिकचर।।(7)

'मशकधानी' एकांकी कतिपय सुनिश्चित उद्देश्यों की पूर्ति करती है, जिसमें सामाजिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है :–

पुरुष 1 – किं चिन्तयसि ? इयं मशकधानी त्वत्कृते समानीता ?
सूत्र. – तर्हि कस्मै आनीतेयम् ?
पुरुष 2 – अस्याम् अस्माकं श्रेष्ठी शयिता।
सूत्र. – युष्माकम् श्रेष्ठी ?
पुरुष 3 – अस्माकं नेता।
सूत्र. – अयि भोः नेता वा श्रेष्ठी वा – कोऽयम्।
पुरुष 4 – यः अस्माकं राजा।
सूत्र. – राजा ? किं कथयथ ? श्रेष्ठी वा नेता वा राजा वा ?"(8)

8. गणेशपूजनम् – इसमें समाज की कलुषित मनोवृत्ति को उजागर किया गया है। किस प्रकार स्वार्थ के वशीभूत होकर बुलाकीराम जैसे कई लोग धार्मिक उत्सव को अश्लीलता का पर्याय बनाने से भी नहीं चूकते अधिक चंदा वसूली हेतु अश्लीलता का सहारा लेते हैं। समाज में इस प्रकार लोगों का उद्देश्य लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करना व गलत तरीके से धन कमाना मात्र होता है।

7. प्रतीक्षा – आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठीकृत यह एकांकी समाज के उस मध्यम वर्गीय परिवार की झलक दिखाती है कि जिस प्रकार असामाजिकता से सर्वाधिक भय की स्थिति इसी मध्यम वर्ग में रहती है। व्यस्क पुत्री अपने परिवार का समस्त आर्थिक भार संभालने हेतु एक ऑफिस में काम करती है। इसी में यदि पुत्री देर रात तक घर वापस न आए तो उस पिता की मानसिक स्थिति का चित्रण है। अनिष्ट की आशंका से सभी घरवालों की मनोदशा को इस एकांकी के माध्यम से दिखाया गया है। पुत्री का प्रश्न, क्या एक स्त्री होना पाप है ? यह एक ज्वलंत प्रश्न है। पिता का उत्तर है कि पुत्री "अति स्नेह पापशंकी तिन्यामेन यदन्यथा अनयथा चिंतित तन्न – विश्वासात् अपितु आत्मनों दौर्वल्यादेष तदलमन्यथा गृहीता।"(9)

समाज की भाव सामग्री का व्यापक दर्शन भी प्रतीक्षा एकांकी के द्वारा आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने करवाया है, जो कि जीवन के मूलाधार है –

"प्रतीछन्ते सर्वे किमपि परमं धाम यदिहं
प्रयान्त्येतां, सर्वाः सकलकरणश्रान्ति विगमात्।
प्रजा यस्माज्जाता लयमपिव यस्मिन् खलु गताः,
प्रकृष्टं तत् तत्वं मधुतु विदित वेद्य लसितम्।।"(10)

प्रतीक्षा एकांकी द्वारा जीवन मूल्यों में जो अन्तर बताया है वह सामाजिक स्वरूप में भी अन्तर स्थापित करता है। समाज एक निश्चित व्यवहार की अपेक्षा करता है किन्तु स्त्री और पुरुष की भिन्नता के आधार पर समाज स्त्री की भूमिका को नियंत्रित करते हुए दिखाया गया है।

सन्दर्भ–

1. प्रेमपीयूषम्, द्वि. अ. पृ.सं. – 14
2. सोमप्रभम, पृ.सं. – 07
3. धीवर शाकुन्तलम्, पृ.सं. – 31
4. मुक्ति संदेश, पृ.सं. – 37
5. मुक्ति संदेश, पृ.सं. – 39
6. मुक्ति संदेश, पृ.सं. – 38
7. मशकधानी, पृ.सं. – 45
8. मशकधानी, पृ.सं. – 47
9. प्रतीक्षा, पृ.सं. – 71
10. प्रतीक्षा, पृ.सं. – 61

❖

परिशिष्ट - कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों के स्फुट पद्यों का संग्रह

परिशिष्ट - कविवर राधावल्लभ त्रिपाठी विरचित नाटकों के स्फुट पद्यों का संग्रह

1. अद्वैतं सुखदुःखयोर्मधुरिलं चानन्दमिष्यन्दनम्,
पुण्यं मन्मनसो रसायनमहो सन्तर्पणं शान्तिदम्।
तच्चेदं भुवनेऽखिलेऽपि विपुले सन्तप्तसंसारिणां
सर्वेषां हृदयप्रदेशमभितः प्रेमामृतं सिंचतु।।
(प्रेमपीयूषम् प्र.अ.भूमिका, पृ.5)

2. कस्मै न रोचते नूनं रुचिरं रसिकाय हि।
प्रस्तुतं स्वादविज्ञाय पीयूषं परमं मधु।। (वही, पृ.5)

3. मयाविद्याधीना कुशलमतिना ज्ञाननिधितः।
प्रयत्ने प्रावीण्यमधिगतमहो काव्यकरणे।।
अमन्दं काव्यस्य प्रवहति हि नूनं मम मुखात्।
सदा स्वच्छेरद्भिः सरिदिव प्रसन्ना प्रतिपलम्।। (वही पृ.7)

4. स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्जितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो।
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्विषदां तेजोभिरिद्धं धनुः।। (वही, पृ. 7)

5. दोर्लीलांचितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभंङ्गोद्यत-
ष्टकांरध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावना-डिण्डिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमितब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राभ्यन्निपण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्रम्यति।। (वही, पृ. 8)

6. उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा।
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।। (वही, पृ.9)

7. जगत्यस्मिन् शून्ये हुतवहपरीते वन इव
चराम्येकाक्येव विकलमनसाहं निशिदिनम्।
इदं देहं मोहं वहति मम शोकान्धमनसः
न किन्त्वेतन्मुंचत्यह हमम प्राणान् खलु जडम्।। (वही, पृ. 9)

8. धीरं-धीरं वहति परिमलं घ्राणसन्तर्पणं स,
आदायायं परमसुखदः स्पर्शरम्यः समीरः।
वापी चास्मिन् स्फटिकधवला राजते वारिपूर्णा,
रम्योद्याने कमल मुकुलै राजहंसैश्च जुष्टा।।
(प्रेमपीयूषम्, द्वि अं. पृ. 13)

9. शुचिसुभगविमुग्धैर्दृष्टिपातैरियं हि
धवलबहलरम्यां दुग्धकुल्यां क्षरन्ती।
मम हि विकलचितं प्लावयन्ती प्रकामं
चिरनवलपवित्रां धारयन्ती तनुं च।। (वही, पृ. 13)

10. नारीर्नाम नरस्य शेवधिरहो देहे यथा जीवनं
शुष्के कार्यविधौ सदैव निरतोऽपूर्णो नरस्तां विना।
स्नेहं प्रेम दयां प्रगाढ़करूणां दीनः कथं प्राप्नुयान्
नारी स्याद् भुवने न मुग्धहृदया रूपाम्बरा मोहिनी।। (वही, पृ.14)

11. मनो विद्वं शल्यैर्निशितनिशितैः सर्वत इदम्,
न जाने विश्रामं जगति नु कथं प्राप्स्यति पुनः।
वरं प्राणत्यागो न पुनरिह विश्वे विभवतः
विराटज्वालाभिर्दहति खलु वदने संस्थितिरहो।। (प्रेमपीयूषम्, तृ.अं. पृ-26)

12. हुतवहपरिपीतः किंशुकानोकहोऽयं
ज्वलयति मम चित्तं दर्शनेनैव दूरात्
कुसुमभरविनम्राः शाल्मलीवृक्षशाखा
हृदयरुधिररागाच्छोणशोणा विभान्ति ।। (वही, पृ. 27)

13. आत्मारामा विगतकलुषाः पर्वता भान्ति तुंगा,
वृक्षाणां च प्रकटविहगा पंक्तिरम्यत्र रम्या।
शान्तिर्यास्मिन् निविडनिवहे जम्बुकुंचे स्थितात्र,
कुर्यात् चेत् सा मनसि विकले संस्थिति मेऽप्पनन्ता।। (वही, पृ. 28)

14. इदं शोकवेगाद् दलति मम चित्रं विभवतो,
विधिर्मर्मच्छेदी प्रहरति निकामं प्रतिपलम्।
क्व मे चित्ते विद्येत करूणाकरूणे हर्षकिरणः
विषादो यत्रान्धं तम इव परिव्याप्त इरणे।। (वही, पृ. 20)

15. अरूणोदयवेलायामुषः कन्येव रुपिणी।
काचिन्मे जीवनेऽद्यन्येऽवतीर्णभूत् प्रभामयी।। (वही, पृ. 21)

16. यदा तस्याः स्नेहान्मम खलु मनः सिंचितमभूत्,
तदा नूनं जातं कुसुमितमिवोद्यानपरम्।
स्मृतिस्तस्येयं सा सुरभिरिव पुष्पे निवसति,
मदीये चित्तेऽस्मिन् शिव-शिरविज्जहु तनया।। (वही, पृ.21)

17. उन्मत्तः कथमत्र भ्रान्तविकलः त्व वत्र्तसेऽहर्निशम्,
प्रेमाणां हृदयाग्निशामकमहो प्राप्तुं भृशं व्याकुलः।
पीयूषप्रतिमोऽतिदुर्लभतमो लभ्यः कथं स त्वया,
यस्मेकः खलु विन्दुस्त्र सुभगैः पुष्यैर्नरैः प्राप्यते।।
(प्रेमपीयूषम्, अंक-5, पृ. 32)

18. शोकातपेन द्रविता या तव हृदयस्थिता।
अश्रुभिर्बहिरायति, करूणा-हिमसंहति।। (वही, पृ. 35)

19. भ्रमो मे विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनो
गता क्लान्तिश्चितं भवति खलु प्रीत्या हि जडवत्।
अयं कोऽप्यानन्दः प्रसरति बहिवन्तिरपि वा
विलिम्पन् पीयूषं मधुरमधुरं सर्वत इह।। (वही, पृ. 37)

20. आनन्दः प्रसरत्यमन्दरः प्रहलादयन् मानसं प्रहलादयन् मानसं
सर्वत्रैव कृतस्थितिः सुविपुले शून्येऽप्यरण्ये भृशम्।
यस्य प्राप्य विभान्ति संस्पृशमहो मत्ता इवामी द्रुमाः
यस्य प्राप्त विभान्ति संस्पृशमहो मत्ता इवामी द्रुमाः
सानन्दं स्वजनं परिष्वजति मां स्नेहेन वायुः सरन्।।
(प्रेमपीयूषम्, स.अं, पृ.43)

21. इदं लावण्यं ते सुतनु किल संवीक्ष्य सहसाः
भवेयुग्लन्निया हि ग्लपितवदनाश्चन्द्र वदनाः।
शरीरं सौन्दर्यं चिरनवमहो दर्शयति ते,
तथाप्येतच्चितं कुसुममिव ते सुन्दरतरम्।। (वही, पृ. 43)

22. अमुष्मिन् शून्ये मे विफलविक्ते जीवन विधौ,
इयं प्रादूर्भूता सखि त्वमिह काव्ये रस इव
मरौ शुष्के प्राप्ता सरिदिव यथा देविसुभगे,
मृतप्रायान् प्राणान् सलिलसुधया सिंचनपरा।। (वही, पृ. 44)

23. सरिद् गोदा मुग्धा पवनचलनीलांशुपटला
सुखं शेते रम्या स्तनितसुभगा सैकत्भुवि।
लताकुंजं भाति क्वचिदपरस्वर्गो हि परमं
क्वचिद् राशीभूता हृयचलगिरयः प्रेमनिधयः।। (वही, पृ. 44)

24. दुःखं येन सुखेन सारसहजं सम्मिश्रय सङ्गुम्फितं,
आकाशः पवनस्तथा च धरणी सम्मेलिता अश्रुभिः।
क्रौधाग्नौ च सुपाच्य तद्धि सकलं यो लीलया निर्ममे

नारीं कामपि तामपूर्वरचनां तस्मै नमो वेधसे।। (सुशीला, नान्दी, पृ. 3)

25. सन्ध्याकाले दुग्धा गावः
दुग्धं प्राप्तं दोह दोहम्
ज्वलिता चुल्ली दुग्धं क्वथितं
सर्वम् दुग्धं दधि संजातम्,
संजातं दधि, दधि मथितं
तक्रमिदं तक्रमिदं निर्मितम्। (वही, पृ. 3)

26. वयो व्यतीतम्, अङ्गं गलितम्
शय्याया आस्तरणे
नाहं शयिता नाहं मुदिता
मुदिता संसरणे
आश्वासो न क्षणमपि लब्धः
मया जीवने न वा मरणे। (वही, पृ.5)

27. काशीं न यामो, मथुरां न यामः
यामो ग्रामम् स्वीयम्।
नो हम्र्य नो रथमिच्छामः
इच्छामः स्वीयकुटीरम्। (वही, पृ. 7)

28. विधिरिह जातः कथं नु वामः
परमसुखदो मनोभिराम्ः,
व्यक्तः स्वीयः सोऽपि ग्रामः
अग्रे चरणौ काम चलितौ
मनसि जनौ द्वौ शङ्काकुलितौ
पुरतो यातो रिक्त शरीरे,

29. धावति चित्ते पृष्ठेऽधीरे
द्यूतक्रीडाऽथवा जीवनं रणः

प्राणानां विहितो यत्र पणः
मनसि प्रभवति कामं काम
विमृशति चान्यत् प्रमुः स रामः। (वही, पृ. 15)

30. कालचक्रमिह परावर्तितम्
सर्व विनाशितम्, सर्वमपहारितम्
प्राणधनं जीवने यदर्जितम्
गतं तदपि, नैव किमप्यवाप्तम्।।
आस्कन्नाऽहं निर्विण्णऽहम्
इह तावत् सीढ़ामि
गर्ते पतितोद्धर्तुम्
आत्मानं न प्रभवामि
वृथा हिण्डितं, वृथा नर्नितम्। (वही, पृ. 24)

31. नमामीशमीशान निर्वाणरूपम्
विभुव्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपम्।
अजं निगुर्णं निर्विकल्प निरीहम्,
चिदाकाशमाकाशवासं गिरीशम्।। (वही, पृ. 26)

32. मरणं मतं समेषां प्रकृतिः,
जीवनमेव समस्तं विकृति
तथापि मृत्यं न कामयेऽहम्,
मरणाज्जीवनं मन्ये वरम्
मरणं कदापि न कामरोऽहम्
जीवनमेव सर्वदा भजेऽम्,
प्राप्तं यत् तत्तु धारयेऽहम्
नैव जातु प्राणान् जहेऽहम्।। (वही, पृ. 27)

33. न्यायो ह्यखण्डः
अपराधिनि दण्डः
खण्डितः पाखण्डः
प्रकटितः कालः प्रचण्ड।। (वही, पृ. 34)

34. आत्मदीपं ज्वालयित्वा
एकाकिनी वर्तिष्ये
प्रभंजने प्रबले
प्ररिरोधं करिष्ये
प्रतारणं च प्रधर्षणं च
प्रतारणं च प्रधर्षणं च
नेव सहिष्ये, नैव सहिस्ये। (वही, पृ.36)

35. क्षिजितवक्षसि सूर्यदैवतं समुदितं,
भवनमखिलं किरणसन्ततिपिंजरितं।
अपसरति तमः स्तोमस्तथा चातिदुतम्।
अरूणिमायं प्रसरति प्रतिद्कि सततं।।
मनो भास्करकरैरलं च विच्कुरितं
जायते जनानां विमलसोमप्रभम्।।
(प्रेक्षणक सप्तकम्, सोमप्रभम्, पृ. 5)

36. आपन्नां विमलां शुभां कुमुदिनीं सानन्दमुल्लासय-
न्नैशं पापकरंच कश्मलमलं शुभ्रैः करैनशियत्।
कारूण्यमृतपरितां वितनुतां संङल्पसूर्यान्वितां,
कान्तिं रम्यमुदारमूर्तितमिदं धामात्र सोमप्रभम्।। (वही, पृ. 12)

37. समये विषमेऽधानामवतरणं मानवो निराकुरूताम्।
मेघानामवतरणं शमयतु नितरां जनस्यार्तिम्।।
(प्रेक्षणक सप्तकम्, मेघसंदेश, पृ.15)

38. समये विषमेऽघानामवतरणं मानवो निराकुरुताम्।
मेघानामवतरणं शमयतु नितरां जनस्यार्तिम्।।
(प्रेक्षणक सप्तकम्, मेघसंदेश, पृ. 15)

39. मम नगरं समुपेहि रे!
देहि रे, देहिरे!!
अलमये जलं देहि रे।
त्वामह्वयतीह धरेयं विकला
प्रतीक्षते त्वां जनता सकला
गर्ज-गर्ज वर्ष वर्ष
रसं निधेहि रे।
एहि रे, एहि रे।
कृष्णमेघ समुपेहि । (वही, पृ. 18)

40. निम्बवृक्ष ! नय मे सन्देशम्
समेतु मेघोऽस्माकं देशम्।
आतप-जनितुं हरतु क्लेशम्-
निम्बवृक्ष! जय मे सन्देशम्।। (वही, पृ. 21)

41. आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानु।
व प्रक्रीडा-परिणतगजप्रेक्षणीयं ददशी।। (वही)

42. पर्वतानि श्रेणीम्
अपि विहरति मेघः
स्पृष्ट्वा वृक्षश्रेणीम्,
अनुकुरूते ननु सः
स्निग्धां कृष्णां वेणीम्। (वही, पृ. 22)

43. काले वर्षतु देवो भातु च सौरभ समन्विता वसुधा,
पल्लविता कोरकिता पुष्पैराढ्या लता विलसेत्। (वही , पृ. 23)

44. परमं पुरूषं तमहं वन्दे वरधीप्रदानविचक्षणम्,
तदनु सुधीवरजनमपि वन्दे सामाजिकं तथेह।
सर्वेषामिह सुधियां भवतु तथा संगमः सुधीनां च,
भवदवधानं काम्यं धीवरशाकुन्तले नाट्ये।।
(प्रेक्षणक् सप्तकम्, धीवरशाकुन्तलम्, पृ.25)

45. पिबत सन्ततम्
हसत सन्ततम्
जयत भीतिमपि मृत्युकरालां
पायं पायं मधुरां हालाम्
इयं मोहिनी तथोन्मादनी
चुम्बतु सततं जिह्वामधरम्
चषकं चषकं जपत सन्ततम्।। (वही, पृ. 31)

46. स्वातन्त्र्येऽपि समागते विदलितो नो पारतन्त्र्यात्मको,
भावो, भास्वति सत्यपि प्रभवति क्लेशाय गाढं तमः।
सङ्कल्पः किल मुक्त्ये प्रतिजनं चेतः सुसंजायतां,
मुक्तेरेष तथा भवत्वभिनयः सत्यान्वितो मुक्तिदः।।
(प्रेक्षणक, सप्तकम् मुक्तिः, पृ. 37)

47. मुक्तिर्भवतु जनानां नाट्यं व्यंजनमिव स्वदतामिदम्।
लावण्यं च स्नेहो विलसतु रङ्गेगृहे नगरे।। (वही, पृ.42)

48. कल्याणानां निधात्री दहति कलिमलं कल्मषं या विधात्री,
या सन्धात्री प्राप्ते मरुभुवि नितरां शीतलानां रसानम्।
आधात्री काव्य-शास्त्रैर्ललित विलसितज्ञानदीपप्रभाणां
भव्यं सा भारतेऽस्मिन् दिशतु नवयुगं मंगलं संस्कृतावाक्।।
(प्रेक्षणक सप्तकम्, मशकधानी, पृ. 45)

49. किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
छविरलितकपोलं जल्पतीवाक्रमेण।
क इह मम कर्णे तन्तुनादं वितन्वन्
रणति च परमधूर्तः कोऽपि कर्णेजयोऽयम्।। (वही)

50. ललाटं मे कच्चित् स्पृशति खलु लालाटिक इव,
द्विजिह्वो जल्पाको विरचयति वाणी पिशुन् क्व।
क्वचिद् वीणानादं क्वविदपि च वशीरघमयं
रहस्यारत्यायीव ध्वनति मृदु कर्णान्तिकचरः।। (वही)

51. मशकश्चषकं मत्वा, देहं चूषति सुरामिव सुरापः।
पायं पायं रक्तं मत्तो विश्यति च न स मतः।। (वही, पृ.46)

52. जय विघ्नविनायक जय गणनायक जय जय बुद्धिनिधे,
जय गौरीसुत जय मतिदातर्जय जयजन सप्रतिनिधे।
अभयं कुरू सर्वेषां नः कुशलं कर्मणि सर्वविधे,
ज्ञाननिधे जय विश्वविधे जय जय है मांगल्यनिधे।।
(प्रेक्षवसप्तम् गणेशपूजनम्, पृ. 49)

53. प्रतीक्षन्ते सर्वे किमपि परमं धाम यदिहं
प्रयान्त्येतां, सर्वाः सकलकरणश्रान्तिविगमात्।
प्रज्ञा यस्माज्जता लयमपि च यस्मिन् खलु गताः,
प्रकृष्टं तत् तत्वं भवतु विदितं चेह लसितम्।।
(प्रेक्षणसप्तकम्, प्रतीक्षा, पृ. 61)

54. दुर्जनैर्जल्पितं नान्यथा कल्प्यताम्
कल्पना स्यात् सदा मंगलालङ्कृता ।
स्यात् प्रकाशोऽक्षयो जीवने झङ्कृता,
भारती भामती चास्तु सौख्यप्रदा।। (वही, पृ 71)

55. अलक्षितो त्याज्य निरंजनो यो
देहं च विश्वं प्रविभाति सर्वम्।
तनोतु नो मंगलमत्र धृत्वा,
स्मृत्या समं संगतशारदोऽसौ।।

(तण्डुलप्रस्थम्, प्र.अं, पृ.1)

56. आशापाशैग्रथित इहः यः प्रेमपुष्पाभिरामो
सद्विश्रवासैर्वृतफलचयो नीतिपत्राङ्कुराढयः।
कामस्बम्बो धृतरसचयः पादषो जीवनस्य
विस्तीर्णोऽयं जयति सकलस्तण्डुलप्रस्थमूलः।। (वही..)

57. बीजन्यासो विहितः सोपक्षेपं च बिन्दुभिः सिक्तः,
विलसत्कथापताका फलिता नाट्यस्य कल्पलता।। (वही, पृ.-7)

58. नित्यं निर्मलचरितः समाधिष्ठितः खलु शारदादेव्या ।
विकलो नीडं हातुं ताम्यति हंसो नभसिऽथितुम्।। (वही)

59. सन्ध्या विगलितराग रजनी विनिगूढदिग्विभागाऽऽस्ते।।
ध्वान्तं वर्षति गगनं तारा द्वित्राः प्रकाशन्ते।। (वही, पृ. 8)

60. अधीत्य विद्यां सकलार्थदात्रीं
जलं विदेहेषु न चानयेयम्।
पिता यदि त्वां न च योजयेयं,
निरंजनो नास्मि पितुः सुपुत्रः ।। (वही, पृ. 10)

61. उद्घातिनी तु धरिणी पुरतः प्रसृता नदास्तथा शैलाः।
मार्गेऽनन्ते पथिको गच्छति कथं कथं नु तथैकाकी।। (वही, पृ. 11)

62. प्रतिक्षणं ते परिवर्तमाना
मनोरथाः कस्य कदा प्रपूरिताः।
याचे न वस्त्रं द्रविणं न भोगं,
प्रस्थं परं तण्डुमेव मेऽस्तु।।

(तण्डुलप्रस्थाम्, द्वि.अं, पृ. 12)

63. मार्ग प्रत्यूहदुर्ग तरूगहनलतागुल्मकान्तारजुष्टं,
व्याप्तं हिंस्त्रैश्च सत्त्वैरतिविषममथ श्रवभ्रगर्तप्रपूर्णम्।
क्रान्त्वा प्राप्तः कथंचित्त्वहमिह च तथाच्चावचाः पद्धतीस्ताः।
क्रान्त्वा प्राप्तः कथांचित्त्वहमिह च तथोच्चावचाः पद्वतीस्ताः,
सङ्कीर्णा कण्टकैश्च स्वपथमिह कथं वेद्मि शृङ्गाटकेऽस्म्।।

(वही, पृ. 15)

64. शृङ्गाटके स्थितोऽहं गन्तव्यमस्ति मयेह मयेह केन पथाः।
पंचाध्वानो मिलिताः शून्यारण्ये मतिभ्रान्ता।। (वही)

65. शक्यं स्वेदस्नातैः सीकरशीतलजलस्पर्शनोऽयम्।
अंङ्गैर्निदाघतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः।। (वही, पृ. 17)

66. किं देवी परिधापयामि वसनं वस्त्रं मदीयैव दृङ्,
नैवेद्यं च समर्पयामि किमहो श्रवासा अमी अर्पिताः।
कां पूजा नु करोमि वाङ् मम पुनः सेसैव पूजा ध्रुवं,
सायं प्रातरिदं सदा मम कृतं देव्या अहो पूजनम्।। (वही, पृ. 21)

67. जय जय शराणागतत्राणदे प्राणदे कालिके सत्प्रभामलिके भक्तिदे,
जय जय जय शुभ्रभाभास्वरे दित्यमाल्याम्बरे दिव्यरुपांचिते वन्दिते।।
नर इह यदि याति तेऽनुग्रह मन्दधीर्बुद्धिमान् दुर्विदग्धस्तथा ज्ञानवान्,
भवति सकलसत्कलासत्कृतः शारदासप्तकीझङ्कृतोविद्ययालङकृतः।।

(वही)

68. सुखदं स्याज्जनति ते दर्शनम्।
समस्तदुःखभंजनं समस्तदोषनाशनम्।
भवेन्निरंजनायं तत् सत्पथप्रकाशनम्।। (वही, पृ. 22)

69. अधीतिबोधाचरणप्रचारणै-
र्विनापि विद्या सुतरां प्रकाशते।
कदापि कस्यापि तथैव मानसे,
भवेद्यथा विद्युदलं बलाहके।। (वही)

70. बहुदूरमहो मम प्रयाणं
प्रसृता दीर्घतरा इमे च मार्गाः।
मिलिता सुजनाश्च शुद्धशीलाः
पुनरेते प्रविघट्य कुल याताः।। (वही, पृ. 24)

71. सा वृद्धा विनिवेद्य मन्दिरपथं यान्तर्हिता, देवता
दिव्या काव्यवलोकिता, पथि पुनः, सा राजकन्या स्वयम्।
यासौ मामिह चानिनाय करूणाप्रीति प्रतीकायिता
तत् स्वप्नोपममप्यहो मनसि में प्रत्यक्षवद् भासते।।
(तण्डुलप्रस्थम्, पृ. 26)

72. मन्त्राणां पाठघोषः श्रुतिपथमभितः पावयत्येष दूरात्।
काष्ठानां राशिरग्रेऽयतिशयगुरूः स्थापितश्चेन्धनार्थम्।
एते पुष्पाढ्यवृक्षा ऋषिमुनिसदृशाश्छायया स्निग्धयेत्थं,
प्राप्तं गन्तव्यमेतद् ध्रुतविटपकरा मां समाश्वासयन्ति।। (वही)

73. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीत्र्वा विद्ययामृतमश्नुते।। (वही, पृ. 28)

74. विदेहानां धन्या परिलसितवन्या वसुमती,
मममत्वाढ्या माता कृपणमतिपुत्रैकविभवा।
समानास्ते प्रीताः सरलहृदया मे च सुहृदः।
स्मृतौ याताः सर्वे प्रसभमिह मध्नन्ति हृदयम्।।
(तण्डुलप्रस्थम्, च.अं, पृ. 36)

75. धीरं कापि धृतिर्दृढ़ा स्मतिरपि स्वैरं विधते पदं
शब्दब्रहम चकास्ति चेतसि च मे प्रज्ञा समुन्मीलति।
शास्त्राणामनुशीलनं यद्यपि मे श्रुत्वा समुद्भासितं
यत् प्राप्तं सहजं तदैव बहु मे मन्तव्यमित्थं मुदा।। (वही, पृ. 37)

76. कि यायां वनमेव वाऽथ निखिलं सन्त्यज्य मिथ्या जगत्
वात्मानं विनिहन्मि तामथ शुर्नी भार्या नु वा पापिनीम्।
इत्यारूढवृथाप्रतर्ककमपरिच्छेदाकुलं मे मनो,
धावत्येष गति न विन्दति गुरूं तत् केवलं संश्रये।। (वही, पृ.41)

77. श्यामं कान्तिमयं वपुर्विकसितं यत्रौच्छलद्यौवनं
दृष्टिः सा तरला तथापि सरला वामा नवोढा यथा।
पीनांसौ च कपाटतुल्यमपि तद् वक्षःस्थलं विस्तृतं
चित्तोन्माथि विकारि वस्तु, निखिलं चास्मिंश्चिरण्ट्या कृते।।
(वही, पृ. 42)

78. ध्यायति कृष्णं राधा
चंचच्चन्द्रमरिचिशोभितैरङ्गैरङ्ग सभङ्गम्।
कुसुमशरैर्दरसाधिलक्ष्यं हेपयतीवानङ्गम्।
काष्ठा प्रीतेश्चास्या हृदये नितरामेवागाथा।
ध्यायति कृष्ण राधा।
पिबति कृष्णतनुरसलावण्यं पिपासिता सा गौरी
पश्चति निश्चलनयनैः श्यामं चन्द्रं यथा चकौरी।
प्रणयसुमानुषमेतद् यस्मिन् विगलति निखिला बाधा।
ध्यायाति कृष्णं राधा। (वही, पृ. 46)

79. वृक्षास्ते विविधा वनस्पतिगणा गुल्माश्च दृष्टा पुनः
सिंहा व्याघ्रगणा अपि नानाविधा लोकिताः।
आश्चर्यं वितनोति चापि कुरूते सद्यस्त्विदं विस्तृति-
श्चित्ते चापि चमत्कृतिं प्रगुणितामानन्त्यभावान्विताम्।।
(तण्डुलप्रस्थम्, पं.अं,पृ.सं. 48)

80. इदं जीर्णं गेहं स्थितमिह यथा भग्नहृदयः
प्रतीक्षेत प्रेमी विरहविधुरः कश्चन नरः।
इयं वापी शून्या गतरसतया प्रोषितपतिः
सती काचिद् योषिद विरहविकला सीढति यथा।। (वही, पृ. 49)

81. उदितः सविता यातस्त्वस्तं पुनरपि समुदेत्यसौ।
मिलितः पुनर्वियुक्तो मिलति च पुनरपि जनः कदापि।। (वही, पृ.51)

82. तेजः पुंजैरिव विरचितां तां तथा दिव्यमूर्ति
दृष्ट्वा जातं सकलमपि मैं जीवनं धन्यपूतम्।
आर्शीर्वादः स परमगुरोर्दशनं दिव्यधाम्नः
प्राप्यात्मानं प्रकृतसहजं रूपमेषोऽस्मि जातः।।
(तण्डुलप्रस्थम, ष.अं, पृ.सं. 54)

83. शपथैर्न विभाव्यते यदा वचनं निपुणं तु प्रमाणितम्।
ऋतमेतु रसालयं तदा भवतादनृतं च प्रतिष्ठितम्।। (वही, पृ.सं. 57)

84. छलितं चकितं क्लिष्टं रोदिति हृदयं हसन्ति तथा जनाः।
इयती जीवनयात्रा मिलिताश्च जना वियोजिताश्च।। (वही, पृ.61)

85. पंचाध्वनो मिलित्वा गन्तव्यमस्ति मयेह केन पथा ?
शृङ्गाटके स्थितोऽहं कथा मदीया व्यथाभिरापूर्णा।।
(तण्डुलप्रस्थम्, सं, अं, पृ. 64)

86. एकाकी विचरंस्तवैव चरणं दैवात् पुनः प्रापितः
क्षुत्पीडाम्रियमाण एष शरणं त्वामाश्रये केवलम्।
नेवाहं किल कामयेऽत्र मरणं मातः स्वकीयं सुतं,
त्रायस्वैनमदः कृपाप्रसरणं दृक्पातसंजीवनम्।। (वही)

87. के त्वदीयां स्तुतिं कर्तुमाहो क्षमा,
वा समर्थास्त्वदीयं मुखं प्रेक्षितुम ?।।
एषः दीनः क्षुधा पीडितस्ते सुत,
स्ते स्तुतौ किं भवेदस्य वाग्वैभवम् ?।। (वही, पृ. 65)

88. विद्याक्षुधा ज्ञानविवेकलाभो
रूपक्षुधा बुद्धिविचारनाशः।
सर्वाः क्षुधः सन्ति विकारभूता
अन्नक्षुधेका परमार्थसत्यम्।। (वही, पृ. 67)

89. न याचे सम्मानं सदसि न विमानं न च धनं
न राज्यं साम्राज्यं न खुल विभवं प्राज्यमपि वा।
इदं कल्याणं मे परममिह मुष्ट्या परिमितं
कदन्नं वाऽन्नं वा जठरपिटरार्थं यदि लभे। (वही, पृ. 68)

90. गुरवः किल चण्डकोपनाः सरितः प्रावृऽनन्तरं तथा।
स्वजनाः प्रियवल्लभाः प्रिया शनकैर्यान्ति तथा प्रसन्नताम्।।
(तण्डुलप्रस्थम, अ.अं., पृ.सं. 74)

91. आनीतेन शतेन तेन विपुलं मिष्टान्नजातेन किं
यत् प्राप्तं समयेन नैव च जनो मृत्युं गतश्च क्षुधा।
क्षेत्र शुष्यति शस्यशष्पानिवहे पश्चास्तुं या जायति ।।
विध्वस्तीकृतहर्षया वितुषया दृष्ट्या तया किं भवेत्।। (वही, पृ. 75)

92. नवकिसलय सदृशीयं तन्वि तनुर्मसृणमसृणा।
श्रमकिणकठिनकराभ्यां स्पृष्ठा म्लाना मया तु स्यात्।। (वही, पृ. 76)

93. स्पृष्ठा समुच्छवसेन्मे तनुरियमधुना भवत्करेण।
निष्प्राणेवेदानीं यावत् याSSसीन्निःरूपन्दतां गमिता।। (वही,पृ.सं. 76)

94. शय्या वस्त्रं भूषणं चारूगन्धो
वीणा वाणी दर्शनीया च रामा।
नो रोचन्ते क्षुत्पिपासातुराणां
सर्वारम्भास्तण्डल प्रस्थभूलः।। (वही, पृ.सं. 77)

95. न्यायं यद् गौतमीयं तदु कपिलकृतं सांख्याशास्त्रं तदन्य-
न्मीमांसा ब्रहमसूत्रं तदुभयमपि यद् योगसूत्रं कणादम्।
अष्टाध्यायी सभाष्या मुनिवरविरचित वार्तिकैरन्विता सा,
ज्ञातं शास्त्रं मयैतत् सकलमपि परं निष्फलं सर्वमेव।। (वही)

96. भार्या सखी चापि तथाक्षराणां
ज्ञानप्रदानेन गुरूर्भव त्वम्।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाणी,
जायेव पत्यै प्रविभास्यतां मे।। (वही, पृ. 78)

97. नारीत्वं प्रविहाय स्वं पुरूषस्य प्रतिच्छविम्।
क्रीडनीयतां चाप्ता सा नारी ननु कीदृशी। (वही, पृ.79)

98. न माता तातो मे न खलु कश्चित् परिजनः
समायातो जातः कथमयमहो मे परिणयः।
आनन्ननीतो भ्रमित इह लीलापशुसमं
बुभुक्षा मामेषा विकलकरणं नर्तितवती।। (वही,पृ.सं. 79)

99. बुभुक्षितः समानीत उदूढश्च बुभूक्षितः।
परित्यज्जमैश्वर्य निर्गच्छामि बुभुक्षितः।। (वही, पृ.80)

100. क्षुधार्तस्तु समानीतः परिणीतश्छलेन सः।
गतो बुद्ध इव त्यक्त्वा प्रेयान् मा स यशोधरम्।। (वही,पृ.81)

101. यातो विकल विवशो हंसस्त्यक्त्वा प्रपंचामिदमखिलम्।
ताम्यति हंसी चार्ता विलपति करूणं विषण्णेयम्। (वही)

102. शोचामि नैव गमनं परिणेतुरस्य
शौचामि नापि विरहं समुपस्थितं स्वम्।
एततु मां दहतिः यत् स बुभुक्षयाऽऽर्तो
गेहं मम प्रियतमः प्रविहाय यातः।। (वही)

103. नो रोचन्ते क्षुत्पिपासातुराणां।
सर्वारम्भास्तण्डुल प्रस्थमूलाः।। (वही)

104. लावण्यामृतसम्भृता सुमधुरा भोज्या यथा स्थालिका
त्यक्ता प्रेमरसप्रपूर्णहृदया भार्या नवोढ़ा मया।
त्यक्तं राजकुलस्य वैभवमयं प्रासादसौख्यं तथा,
शून्यारण्यविर्कर्णकण्टकमये वासः स्थलेऽयं वृतः।।
(तण्डुलप्रस्थम्, न.अं, पृ.सं. 83)

105. अद्यापि मे मनसि सम्परिवर्तते तत्
तस्यास्तथा निगदितं प्रणयाव्ररम्यम्।
श्रान्तं विदलितं तु बुभुक्षया मां
तस्या विनोदसितुमेव विचेष्टितानि।। (वही)

106. स्वैरं पिबन्तु वत्सा गावस्तान् पापयन्तुताः क्षीरम्।
प्रीता भवन्तु वत्सा निरपेक्षोऽयं निरंजनो जातः।। (वही, पृ. 84)

107. छिन्नं समूलमिव पादपमल्परूढं
तं नो निरंजनमहं यदि नाशयामि।
आहो पिनाष्मि न तथाऽजनवच्च सद्यः
पंचाननो न भवामि पतिस्त्वदीयः।। (वही, पृ.सं. 87)

108. भ्रामं भ्रामं ग्रामं ग्रामं जनपदमपीह सकलपुरम्।
दर्शं दर्शं देशे दारिद्रयं दूयते हृदयम्।।
(तण्डुलप्रस्थम्, द.अं, पृ. 90)

109. शय्या वस्त्रं भूषणं चारूगन्धो,
वीणा वाणी दर्शनीया च रामा।
एतत् सर्वं व्यर्थमेवास्ति चित्तं,
विष्णोर्भक्त्या पावितं चेन्न जन्तोः।। (वही, पृ.सं. 91)

110. सर्व लब्ध्वा किन्तु कुर्यान्नरश्वेत्।
प्रेम्णा सिक्तं नैव विन्देत चित्तम्।। (वही, पृ.सं. 92)

111. शय्या वस्त्रं भूषणं चारूगन्धो,
वीणा वाणी दर्शनीया च रामा।
एतत् सर्वं नश्वरं नाशशीलं,
ध्यायेज्जन्तुस्त्वीश्वरं विश्वरूपम्।। (वही, पृ.सं.-93)

112. गताहतं राजकुले कृतं यत्,
कृताप्यटाटया बहुधा वृथैष।

अधीत्य शास्त्राण्यपि मूढभावतो,
मया न कस्को विहितो न मोहः।। (वही)

113. प्रतिदिनमितस्ततो वा भ्रामं भ्रामं मया किमिह लब्धम्।
निखिलं खिलमिव दृष्टं निरंजनः क्वापि न लक्षितोऽसौ।। (वही, पृ. 94)

114. भारं वहामि मनसि प्रमितेः परस्ता-
च्चित्ते वहामि बहुलं स्मृतिराशिमारात्।
दत्तं प्रियाय न तदाऽन्नकणं कराभ्या
माभ्यामिदं तु वहतो मम किन्नु भारः।। (वही)

115. धीरं वहन्तु धुर्वाः प्रियतमनगरी मयेह गन्तव्या।
सुखदं वान्तु समीरा रथ्या सद्यः प्रकाशन्ताम्।। (वही पृ.98)

116. ग्रामे विदेहसंज्ञेपानीयं कथमहो लभेय ?
भ्राम्यन्त्येता विकला गावो हि तृषार्दिताः सकलाः।। (वही, पृ. 99)

117. शय्या वस्त्रं भूषणँ चारूगन्धो
वीणा वाणी दर्शनीया च रामा
नो रोचन्ते क्षुप्तिपासातुराणां
सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः।। (वही,पृ.102)

118. कथमति मिलितो यो मत्सुतो विप्रयुक्तो-
श्चिरमभिलषितोऽसावावयोः स्नेहसारः।
तमपि च मम, दीर्यत्प्राणसंश्लेषतन्तुं
नियतिरहह सद्यो निष्ठुरं विच्छिनत्ति।। (वही, पृ. 104)

119. कशाघातैः कामं तिततउमिव देहं दलय मे
सनैष्ठुर्य क्रूरं प्रहर लघु कार्तान्तिकसमम्।

इदं ते नैर्घृण्यं नहि विचलयेन्मां निजपथा-
न्त निर्बन्धं न्याय्यं जहति सुजनाः सव्यकलितम्।। (वही)

120. दिष्ट्या मामपराधिनं पुनरपि श्रीशारदैषा स्वयं,
दाक्षिप्याद् वृणुते स्मृतिर्धतिरपि प्रज्ञा मतिः सङ्गताः।
एषा मे धरणीव पुण्यजननी माता तथा धारिणी,
प्राप्ता व्योमसमस्तथा च जनको यो व्योमकेशोऽभिधः।। (वही, पृ.105)

121. चिरमिह सुखदः स्यादावयोर्नित्ययोगो,
भवतु जगति शोकोनैव दुःखं न रोगः।
विलसतु रसभोगो नित्यरम्य प्रयोगो,
नियतामिह जनानां तण्डुलप्रस्थयोगः।। (वही)